सामान्य भाषाविज्ञान

बाबूराम सक्सेना



Sh. Bushan Lal Kaul
M.A Final (Hindi)
Jammu & Kashmir
University

सामान्य भाषाविज्ञान

बाबूराम सक्सेना
एम० ए०, डी० लिट्० (प्रयाग)



१८८३ शक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रथम संस्करण १०००
द्वितीय संस्करण २०००
तृतीय संस्करण ४०००
चतुर्थ संस्करण ३०००
पंचम संस्करण ४१००
षष्ठ संस्करण ४१००

मूल्य ६·००

शक संवत् १८८३

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

दिन्नसमग्गहदयाय अलक्खितरूपाय,
तस्सा देविया ससिनेहं समप्पिता
कामनाहिं नेदिट्ठा वि
सुदूरा येव अम्हे यस्स

प्रकाशकीय

भूतपूर्व बड़ौदा नरेश महाराजा सयाजी राव गायकवाड़ ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बम्बई अधिवेशन में सम्मिलित होकर सम्मेलन को पाँच सहस्र रुपए की सहायता प्रदान की थी। उस निधि का सदुपयोग सम्मेलन ने 'सुलभ साहित्य माला' नाम की एक ग्रंथमाला संचालित कर उसके अन्तर्गत अनेक उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित की हैं।

उक्त ग्रंथमाला के अन्तर्गत प्रस्तुत 'सामान्य भाषा विज्ञान' को प्रकाशित कर सम्मेलन का प्रकाशन विभाग गौरवान्वित हुआ है। इस ग्रंथ के लेखक डा० बाबूराम सक्सेना अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त भाषा-विज्ञानवेत्ता हैं। इस ग्रंथ को लिख कर डाक्टर साहब ने हिन्दी में भाषाविज्ञान जैसे गूढ़ विषय को सरल, सुबोध ढंग से लिखने की एक नयी पद्धति का संर्जन किया है। विषय-विवेचन एवं शैली-सौष्ठव की दृष्टि से यह ग्रंथ इतना अधिक लोकप्रिय और उपयोगी बना कि इसके छठे संस्करण को प्रकाशित करने का हमें सुअवसर मिला है। भाषातत्ववेत्ताओं ने इस पुस्तक को हिन्दी में भाषाविज्ञानविषयक पिछली प्रकाशित पुस्तकों की पाँत में सर्वोच्च स्थान दिया है। आशा है भाषाविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए यह ग्रंथ इस क्षेत्र का प्रवेश-द्वार सिद्ध होगा।

सहायक मंत्री

प्रथम संस्करण की भूमिका

क्यों ?

भाषाविज्ञान पर हिन्दी में तीन-चार पुस्तकें पहले से मौजूद हैं। तब भी काग़ज़ की इस मंहगाई के समय भी नई पुस्तक क्यों निकाली जा रही है, इसका उत्तर मुख्य रूप से सांख्य-तत्वों में से वही तत्व है जो महत् और पंचतन्मात्राओं के बीच में पड़ता है। गौण रूप से, छोटी-सी एक और वासना को अतृप्त न रख-कर पुनर्जन्म के कारणों की कमी करना भी इस पुस्तक के प्रकाशन का हेतु हो सकता है। १९२१-२२ में मैं हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में पूज्य प्रोफ़ेसर टर्नर के चरणों में बैठकर भाषा-विज्ञान का अध्ययन करता था। श्री बाबू श्यामसुन्दरदास जी कभी-कभी कृपा कर मेरे कमरे में आकर प्रोत्साहन देते और बातचीत करते थे। जब मैं प्रयाग में अध्यापक होकर आ गया, तो उसी परिचय के नाते १९२३ में श्री बाबू साहब ने मुझ से भाषाविज्ञान पर हिन्दी में पुस्तक लिख देने को कहा। मैंने सामग्री इकट्ठी कर ली और कुछ महीनों में पुस्तक का प्रथम अध्याय लिखकर उनके अवलोकनार्थ भेजा। उन्होंने उसे पसन्द किया और आज्ञा की कि छह महीने में पुस्तक तय्यार कर दी जाय। मेरे ऐसे अल्पज्ञ के लिए इतनी जल्दी ऐसे गहन विषय पर पुस्तक तय्यार कर पाना असंभव था। इसलिए मैंने अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। हताश श्री बाबू साहब को स्वयं यह काम करना पड़ा और कुछ ही दिनों में "भाषाविज्ञान" नाम की उनकी पुस्तक प्रकाशित हो गई। दिग्गज और अल्पज्ञानी सामान्य जन की क्षमता में इतना अन्तर होता है ! मैंने जो भाग लिखा था वह जबलपुर से निकलने वाली 'श्री शारदा' में छपा दिया, और आगे कुछ न लिखा। पर वासना अन्तःकरण में बनी रही।

ईश्वर को धन्यवाद है कि उसने यह काम उस समय रुकवा दिया। इस बीस साल के अन्तर में, मैंने विषय का थोड़ा बहुत अनुशीलन, परिशीलन कर लिया है, अध्यापन भी यथेष्ट कर चुका हूँ। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक अधिक आत्म-विश्वास से उपस्थित कर सका हूँ। आशा है कि यह कम दोष-पूर्ण होगी। इसमें मैं कोई बात मौलिक दे सका हूँ, यह नहीं कह सकता। विषय का दर्शन मैंने अंगरेज़ी चश्मे से किया है। दृष्टि वैसे ही कमजोर है। पर भारतीय परिशीलन की ओर भक्ति अधिक दृढ़ होती जा रही है।

यह पुस्तक सामान्य पाठक को विचार में रखकर लिखी गई है और विषय के प्रारंभिक विद्यार्थियों को। इसीलिए शैली को थोड़ा कम नीरस बनाने का उद्योग किया है। 'बालानां सुखबोधाय' वाला ध्येय है।

इस विषय का ज्ञान मैंने कई गुरुओं की उपासना से और अंगरेजी और फ्रेंच पुस्तकों के अध्ययन से प्राप्त किया है। यह सारी सामग्री प्रायः विदेशी थी। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक में, पाठकों को वर्तमान पच्छिमी अनुसन्धान का पूर्ण प्रतिबिम्ब और गन्ध मिले तो अचरज नहीं। जिन पुस्तकों से सहायता ली है, उनके नाम ग्रन्थ-सूची में मिलेंगे। मैं उन लेखकों का कृतज्ञ हूँ। विशेष रूप से सर्वश्री टर्नर, चटर्जी, तारापुरवाला, ओझा, वान्द्रियाज़, जेस्पर्सन, टकर, ग्रैफ़ का चिर ऋणी रहूँगा। इनकी पुस्तकों की छाया और उद्धरण जहाँ-तहाँ मिलेंगे। पुस्तक सामान्य पाठक के लिए लिखी है, इसलिए जगह-जगह कृतज्ञता-स्वरूप उल्लेख नहीं किया गया।

पुस्तक का चौथाई अंश लैंस्डाउन में १९४१ की गर्मी की छुट्टियों में, दूसरा चौथाई १९४२ के ग्रीष्मावकाश में रामगढ़ (नैनीताल) में और शेष भाग पिछले छः महीनों में यहाँ प्रयाग में लिखा गया है। इन तीनों स्थानों पर जिन देवता और देवियों के प्रेमपूर्ण आश्रय में यह काम हुआ है उनके प्रति मैं अपनी विनम्र स्नेहपूर्ण कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। पुस्तक प्रकाशन में मित्रवर धीरेन्द्र वर्मा जी और माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन जी ने कृपापूर्वक प्रोत्साहन दिया है और यदि वे आग्रह न करते तो शायद अभी दो-एक साल और यह काम पड़ा रहता। उन दोनों का मैं आभारी हूँ।

छपाई में सम्मेलन के वर्तमान साहित्य मंत्री, मेरे मित्र श्री रामचन्द्र टण्डन ने तथा हिन्दी साहित्य प्रेस के कर्मचारियों ने पूरी मदद और सहयोग प्रदान किया है। उनका भी आभार मानता हूँ। छपते समय मेरे तत्कालीन अज्ञान या अनवधान से जो गलतियाँ रह गई हैं उनका प्रायश्चित्त 'समाधान' में कर दिया गया है। पाठक पढ़ने के पूर्व उसका अवलोकन करने की कृपा करें। यदि और कहीं भूलें या अपूर्णताएँ रह गई हों तो उनकी सूचना मिलने पर वे अगले संस्करण में कृतज्ञतापूर्वक ठीक-ठाक कर दी जाएँगी।

अपने पाठक की सीमाओं का विचार कर, नितान्त आवश्यक ही नए लिपि-चिह्न इस पुस्तक में रक्खे गए हैं। वर्णों के नीचे की बिन्दी (यथा च़, थ़) सामान्य से कुछ विभिन्न ध्वनि का संकेत करती हैं। वर्ण के नीचे का गोलाकार चिह्न (स़, ऩ)

स्वरत्व को और तारा-चिह्न (*) शब्द के अनुमान-सिद्ध रूप को जतलाता है। भिन्न संकेत न होने पर वर्ण के ऊपर ˘ चिह्न उसके ह्रस्वत्व की सूचना देता है। ऍ ऑ की मात्राएँ ॅ ॉ हैं।

इस पुस्तक में पाठक को *इतिहासिक*, *भूगोलिक* आदि कुछ शब्द अपरिचित (और अशुद्ध ?) से मिलेंगे। मेरी धारणा है कि हिन्दी को संस्कृत-व्याकरण का अनावश्यक आश्रय छोड़ देना चाहिए, इसलिए ये नए रूप समाविष्ट किए गए हैं। इसका यह मतलब नहीं कि संस्कृत से शब्द न लिए जायँ। मेरी निश्चित सम्मति है कि जहाँ हिन्दी में शब्द न हों वहाँ अरबी, फ़ारसी, अंगरेज़ी आदि की अपेक्षा, संस्कृत और प्राकृतों से ही लेने चाहिए। यदि क़र्ज़ ही काढ़ना हो तो अपनों से लिया जाय। पारिभाषिक शब्द संस्कृत को ही आधार मानकर बनने चाहिए। मेरे विचारों के बारे में कुछ 'कृपालुओं' के बीच भ्रान्ति है इसलिए ये शब्द यहाँ लिख देना उचित समझा। *इतिहासिक* आदि *विकृत* (?) शब्द देखकर यदि 'पंडित वर्ग' को दुःख हो तो मेरी सनक समझकर क्षमा करने की उदारता दिखाएँ।

संसार की भाषाओं की स्थिति का दिग्दर्शन करानेवाला एक नकशा भी इस पुस्तक के साथ जा रहा है। इसका खाका विलेम ग्रैफ़ की पुस्तक से लिया गया है।

संसार पर घोर संकट है और अपने देश पर विशेष। दासता की कटुता का नंगा चित्र इधर पूरे रूप में सामने आया है। जो महापुरुष संसार को आदर्श बता रहे हैं, सत्य, अहिंसा और सुख का मार्ग दिखा रहे हैं और हमारे प्राणों के भी प्राण हैं उनके जीवन को संकट में देखकर हम लोग विह्वल हो गए थे। कौन भारतीय विशेषकर राष्ट्रीय भावनाओंवाला, ऐसा होगा जिसके अन्तस्तल में इन महापुरुष ने आशा और स्वातन्त्र्य-प्रेम का प्रकाश न पहुँचाया हो। ईश्वर को कोटिशः धन्यवाद है कि आज वह घोर तपस्या से उत्तीर्ण हुए हैं और उज्ज्वलतर निखरे हैं। ईश्वर उन्हें चिरायु करे। इस पुस्तक का सौभाग्य है कि वह आज ऐसी पुण्य तिथि पर प्रकाश में आ रही है।

२४ चैथम लाइन
प्रयाग
पुण्य-तिथि, ३-३-१९४३

—बाबूराम सक्सेना

छठा संस्करण

इस बार नई सामग्री जोड़कर भाषाविज्ञान के अध्ययन की नई प्रवृत्तियों को भी समाविष्ट कर लेने का प्रयत्न किया गया है। संशोधन और सामग्री-संकलन में इस मर्तबा श्री विद्यानिवास मिश्र और श्री रमेशचन्द्र मेहरोत्रा ने बड़ी मदद की, इसके लिए मैं इन दोनों का आभार मानता हूँ। इसके पूर्व के संस्करणों में श्री रमानाथ सहाय श्रीवास्तव तथा श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी ने सहायता पहुँचाई थी। उनकी सेवा भी स्मरणीय है। वर्तमान संस्करण के प्रूफ़ संशोधन का कार्यभार डा० उदयनारायण तिवारी ने लिया था। उनका भी कृतज्ञ हूँ। (शुभम्)

२४-४-६१ —बाबूराम सक्सेना

विषय-सूची

प्रथम खंड

अभिव्यक्ति के तीन स्तर हैं, वाक्य रूप और ध्वनिग्राम (१९)-वाक्य विचार की पूर्णता की इकाई है (१९), रूप छोटी से छोटी अर्थवान इकाई है (२०), और ध्वनिग्राम किसी भाषा-विशेषण उक्ति की वह अंतिम इकाई है जिसके बाद विश्लेषण करना उस भाषा की दृष्टि से निष्प्रयोजन है (२०-२१)।

पाँचवाँ अध्याय—संघटनात्मक भाषा-विज्ञान सम्प्रदाय पृ० २२–२४

इस संप्रदाय की मान्यताएँ (२२)—भाषा का बोला जाने वाला रूप ही उसका वास्तविक रूप है (२२); भाषा के अवयव एक-दूसरे से असंलग्न या असंबद्ध नहीं हो सकते (२२-२३); भाषा के संबंध में जन्मजात रुचि-अरुचि का कोई प्रश्न नहीं उठता (२३); भाषा को शुद्ध-अशुद्ध, कोमल-परुष आदि कहना ठीक नहीं (२३); एक भाषा का दूसरी भाषा में यथार्थ अनुवाद नहीं किया जा सकता (२३)। संघटनात्मक भाषाविज्ञान का प्रसार (२४)।

छठा अध्याय—भाषा का उद्गम पृ० २५–३१

धर्म-ग्रन्थों के अनुसार भाषा ईश्वर-प्रदत्त है (२५) या धर्मग्रन्थीय भाषा ही मूल तथा आदि भाषा है (२५-२६) परन्तु विकासवाद माननेवालों के इस समस्या के विविध हल (२७)—(क) आपस के समझौते से भाषा बनी, पर भाषा की अनुपस्थिति में कैसा वादविवाद या समझौता? (२७); (ख) पशुपक्षियों तथा सृष्टि के अन्य पदार्थों से भाषा सीखी गई, पर अनुकरणात्मक और अनुरणनात्मक शब्द बहुत थोड़े हैं तथा मनुष्य के पास भी भाषा जानने की शक्ति रही होगी (२७-२८); (ग) मन के भावों और आवेशों की व्यक्तकर्त्री ध्वनियों से भाषा की सृष्टि, पर विस्मयादि-जीवक अव्यय बहुत कम तथा भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न हैं (२८-२९)। यह अल्पज्ञानी मनुष्य के लिए जटिल समस्या है पर वह है प्रयत्नशील (३०); वस्तुतः भाषा तथा विचार का अटूट सम्बन्ध है और विचार का आविर्भाव मनुष्य-समाज के विकास की समस्या के साथ उलझा हुआ है (३०-३१)।

सातवाँ अध्याय—भाषाविज्ञान तथा अन्य विज्ञान ३२–४१

भाषा का विचार के वाह्य स्वरूप होने के नाते विचारात्मक ज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध (३२)। भाषाविज्ञान का सम्बन्ध—मनोविज्ञान से (३२), तर्कशास्त्र से (३२-२२), समाजशास्त्र से (३३-३४), शरीरविज्ञान से (३४), भूत-विज्ञान से (३४-३५), इतिहास से (३५-३६), भूगोल से (३६), नृ-तत्वज्ञान से (३६), वाङ्मय से (३६-३७) तथा व्याकरण से (३७)। भाषा वाक्यों का समूह है (३८)।

भाषा के चार अंग हैं—वाक्य, शब्द, ध्वनि और अर्थ (३९), और इनके अनुसार भाषाविज्ञान की चार शाखाएँ—वाक्यविज्ञान (३९), पदविज्ञान (३९), ध्वनि विज्ञान (३९-४०) और अर्थविज्ञान (४०)। भाषाविज्ञान का उपयोग (४०) और अधिकारी (४१)।

आठवाँ अध्याय—भाषा का विकास **पृ० ४२–४७**

संसार परिवर्तनशील है और भाषा भी (४२), पर यह परिवर्तन न तो उन्नति ही है, न अवनति, यह है केवल विकास (४२-४३)। परंपरा तथा जन-संसर्ग की विभिन्नता के कारण यह परिवर्तन (४३); प्रत्येक व्यक्ति के उच्चारण-यन्त्र की भिन्नता के कारण उच्चारण सम्बन्धी विभिन्नता और स्मृति तथा अनुभव की भिन्नता के कारण अर्थ-सम्बन्धी विभिन्नता (४३-४४) फिर भी व्यवहार में अभिन्नता (४४), बोलनेवालों के संगठन तथा वाह्य संसर्गहीनता के अनुपात से एकरूपता (४४-४५), परिवर्तन का व्यक्तीकरण में बाधा डालने के कारण धीमापन (४५-४६)। परिवर्तन का तुच्छत्व तथा महत्व तद्भाषा-भाषी समुदाय से ही निर्णीत है (४६-४७) पर यह परिवर्तन होता है अवश्य, सदा (४७)।

नवाँ अध्याय—विकास का मूल कारण **४८–६०**

साधारणतः चार वाद—(क) शारीरिक विभिन्नता पर प्रत्यक्ष ही है कि भिन्न शरीरवाले भी एक भाषा तथा समान शरीर वाले भी भिन्न भाषा बोल लेते हैं (४८-४९), (ख) भौगोलिक विभिन्नता : पर समीक्षा करने पर यह भी खरा नहीं ठहरता (४९-५०), (ग) जातीय मानसिक अवस्था-भेद : परभाषा का द्रुतगति से विकास समाज की विश्रृंखलता पर निर्भर है और सौष्ठव, लालित्य आदि गुण तो निज रुचि पर ही अपेक्षित हैं (५०-५१); (घ) प्रयत्न लाघव, मानव मनोवृत्ति के अनुकूल होने के कारण यह उचित है (५२)। प्रयत्नलाघव से उत्पन्न भाषा में परिवर्तन के विभिन्न उदाहरण—बहुधा प्रयोग में आनेवाले शब्दों का शरीर अधिकतर विकल हो जाता है जैसे भइ है, आदि (५३-५४); बलाघात तथा भावातिरेक में भी प्रयत्नलाघव के कारण परिवर्तन (५४-५५), बड़े शब्दों को संक्षेप रूप से व्यक्त करना आदि (५५)। प्रयत्नलाघव की दृष्टि से मन का आगे की ध्वनियों पर पहुँचना और विभिन्न ध्वनिविपर्ययों का भाषा में आगम—परस्पर विनिमय (५६), ध्वनिलोप या अक्षरलोप (५६), समीकरण—पुरोगामी तथा पश्चगामी (५६-५७), विषमीकरण (५७)। अन्य प्रयत्न लाघव-जन्य परिवर्तन-संयुक्ताक्षरों के बीच या पूर्व स्वरागम (स्वरभक्ति और अग्रागम)

सोलहवाँ अध्याय—ध्वनि-विकास पृ० १०८--११७

ध्वनिविकास के मूल में प्रयत्न-लाघव ही है (१०८) पर ध्वनि उच्चारण की सरलता या कठिनाई का निर्णय करना मुश्किल है (१०८-१०९) ; यह ध्वनि-विकास बहुत ही धीरे व अनजान में होता है (१०९) और एक सुसंगठित मनुष्य-समुदाय में सर्वत्र व्यापक होता है (११०)। यह विकास वाक्य या शब्द में ध्वनि की परिस्थिति ही पर निर्भर है (११०-१११) और प्रारम्भ होने पर निश्चित दिशा की ओर ही बढ़ता रहता है (१११) अतएव इसके नियम निर्धारित किये जाते हैं (१११-११२), पर ये नियम, न तो भविष्य में होने वाले विकास के नियामक ह (११२-११३) और न भूतविज्ञान के नियमों की तरह अटल (११३)। ध्वनिविकास के कुछ उदाहरण—(क) नई ध्वनि का आगम (११३), (ख) समानध्वन्यात्मक पर भिन्नार्थबोधक शब्दों की उत्पत्ति (११३-११४), (ग) सन्धि आदि के कारण अस्थान ध्वनि विकार (११५), (घ) पूर्ववर्ती अथवा विदेशी भाषाओं के अज्ञानवश अस्थान गलत प्रयोग (११५-११६) और (ङ) विनोदजन्य तथा कवि-सृष्टि शब्द रूपों का आगम (११६-११७)।

सत्रहवाँ अध्याय—पदरचना पृ० ११८–१२४

ध्वनियों का अर्थ-व्यंजकता की सुविधा के अनुसार विभाजन-शब्द या पद (११८), वाक्य की प्रतिमा का मस्तिष्क में होना व उच्चारण (११८)। वाक्य के पदों का मस्तिष्क द्वारा ग्रहण समष्टि रूप से होता है पर कुछ ध्वनियां अर्थ-तत्व की और कुछ परम्परा सम्बन्ध की बोधक होती हैं (११९)। प्रत्येक भाषा की अपनी स्वयं की विचार को व्यक्त करने की धारा है (११९) और यह सम्बन्धतत्वों को प्रगट करने के ढंग से मालूम होती है (१२०)। संबंधतत्त्व को व्यक्त करने के ढंग—(क) सम्बन्ध-तत्व का अलग शब्द ही होना (१२०); (ख) सम्बन्ध-तत्त्व का अर्थतत्त्व में जुड़कर उसी का अंग हो जाना (१२०); (ग) अर्थ-तत्त्व की ध्वनियों में कुछ परिवर्तन कर देना (१२१); (घ) अर्थतत्त्व को ध्वनियों में ध्वनिगुण का भेद कर देना (१२१); (ङ) अर्थ-तत्त्व को अविकृत छोड़ देना (१२१); (च) अर्थतत्त्व को वाक्यांश में विशेष स्थान पर ही रखना (१२१-१२२)। प्रत्येक भाषा उपरि-लिखित उपायों में से एक या अनेक उपायों को ग्रहण करती है। (१२२)। पद या शब्द का प्राचीन (१२२-१२४) तथा अर्वाचीन (१२३-१२४) लक्षण। ध्वन्यात्मक तथा व्याकरणात्मक शब्द (१२४)।

अठारहवाँ अध्याय—रूप विज्ञान **पृ० १२५—१३०**

रूप ध्वनिग्राम और अर्थ को जोड़नेवाली कड़ी है (१२५)। रूप अभिव्यक्ति के स्तर पर छोटी से छोटी अर्थवती इकाई है (१२५)। क्या रूप का ध्वनिग्राममय होना ज़रूरी है ? (१२५-१२६) रूप परस्पर संबंधार्थ और पूरक वितरण रखने वाले आकारों के समूह का प्रतिनिधित्व करता है (१२७)। ध्वनिग्रामीय कारण से एक रूप के व्यष्टि-रूपों में परस्पर भेद पड़ना संधि कहलाता है (१२८) और अन्य कारण से व्यष्टि-रूपों में भेद पड़ना रूपात्मक कारणजन्य व्यष्टि-भेद कहलाता है (१२८)। रूप का वर्गीकरण क्रम के—विन्यास के—और उसके बद्ध या मुक्त स्वभाव के—आधारों पर किया जाता है (१२९)। रूप का महत्व पद के भीतरी उपादान तत्वों के परस्पर संबंध की दृष्टि से है, और पद का महत्व वाक्य की दृष्टि से है (१२९-१३०)।

उन्नीसवाँ अध्याय—संधि **पृ० १३१—१३४**

संधि के दो प्रकार—(१) पद के बाहर, वैकल्पिक (२) पद के भीतर, नित्य (१३१)। संधि के विचार से ध्वनिग्राम-विकार—अपश्रुति (१३२), स्वराघात में परिवर्तन (१३३), बलाघात के स्तर में परिवर्तन (१३३), आगम (१३३), लोप (१३४) और आदेश (१३४)।

बीसवाँ अध्याय—पद विकास **पृ० १३५—१४९**

वाक्य द्वारा उद्बोधित अर्थ का विश्लेषण प्रत्येक भाषा में किन्हीं धाराओं में होता है और ये धाराएँ सम्बन्ध-तत्वों द्वारा निर्धारित होती हैं (१३५) जो कि निम्नलिखित भावों को प्रायः प्रकट करते हैं—(क) लिंग, पुंल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग, पर इनका नैसर्गिक पुरुषत्वादि से असम्बद्ध होना (१३६), अचेतन व चेतन पदार्थ (१३७); (ख) वचन—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन तथा व्यक्तिवाचक या समूहवाचक शब्द (१३८-१३९); (ग) काल—वर्तमान और उसकी सहायता से भविष्य तथा भूतकाल (१४०-१४१) (घ); प्रेरणार्थक आदि—संस्कृत के दस गुण आदि (१४१-१४२); (ङ) वाच्य—कर्तृ, कर्म और भाव (१४२-१४३); (च) पद—परस्मैपद और आत्मनेपद (१४३); (छ) वृत्ति (१४४); (ज) विभक्ति—प्रथमादि और हिन्दी में विकारी तथा अधिकारी (१४४-१४५), परसर्ग (१४५) (झ) कारक (१४६); ये धाराएँ न तो नैसर्गिक हैं न किन्हीं तार्किक सिद्धान्तों पर निर्भर (१४६)। न अटल (१४७) और न सब

स्थानिक समानता (२०४)। आदिभाषा (२०४) और अन्य अनिर्धारित भाषाओं का निर्धारण करना (२०५)।

छब्बीसवाँ अध्याय—वाक्यविचार पृ० २०६—२१५

वाक्य भी एक अवयव है पर वक्तव्य का (२०६-२०७) जो कि स्वयं हमारी विचारधारा का छोटा अवयव मात्र है (२०७), इस विचारधारा का अटूटत्व (२०८-२०९) और यह हमारी विचारधारा स्वयं एक बृहत्तर विचारधारा का अवयव मात्र है (२०९-२१०)। प्रकरण इंगित और आकार की सहायता (२१०-२११), शिक्षित और अशिक्षित के वाक्यों का भेद (२११)। वाक्य के दो अंश—उद्देश्य और विधेय (२१२), वाक्य की लम्बाई (२१३)। वाक्य में पदक्रम (२१३-२१४), वाक्य-विश्लेषण में विभिन्नता (२१४-२१५)।

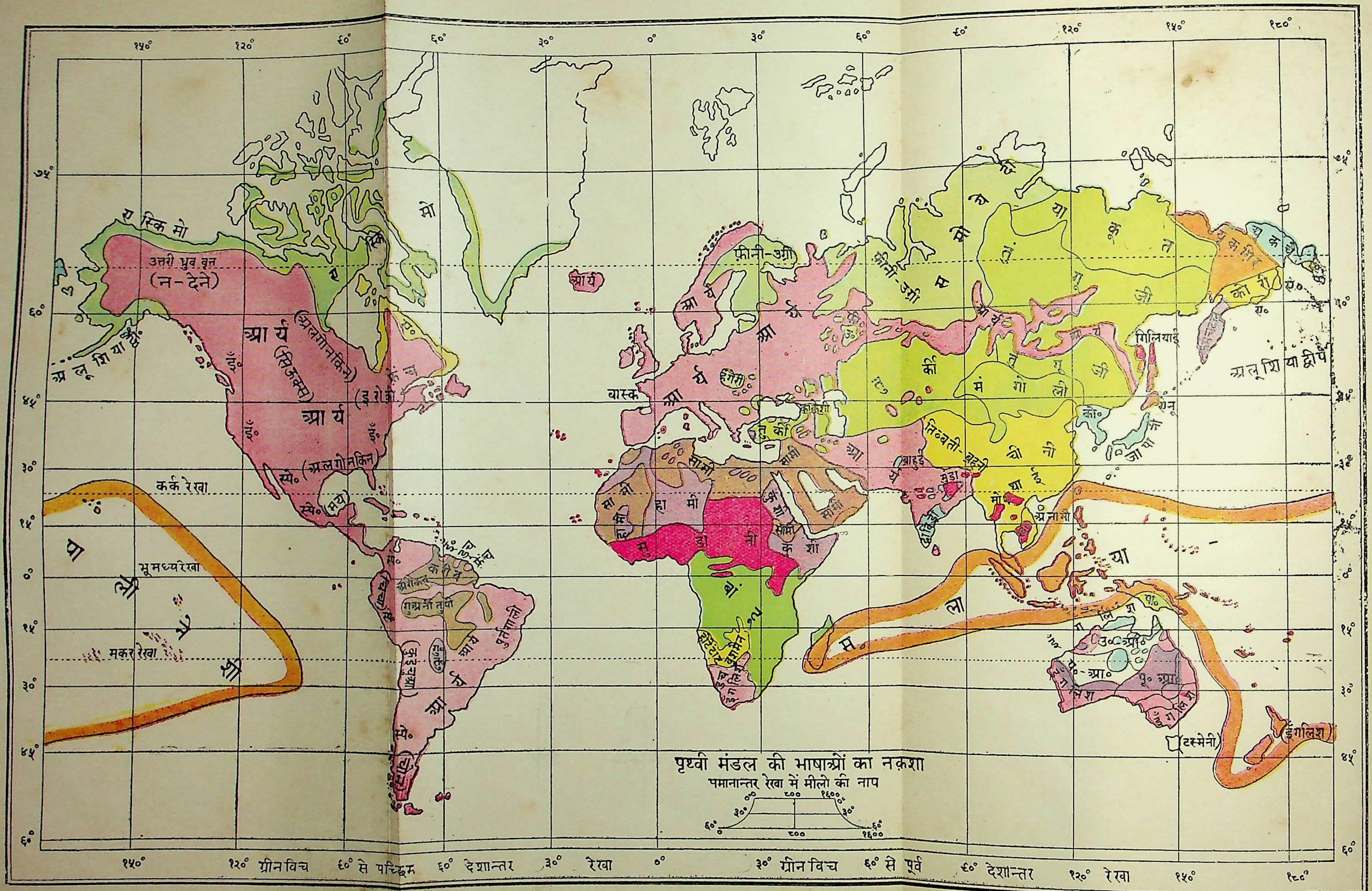
सत्ताईसवाँ अध्याय—भाषाविज्ञान का इतिहास पृ० २१६—२४५

भाषा-विषयक सर्वप्रथम विवेचन भारतवर्ष में हुआ। वैदिक संहिताओं को यथातथ्य रखने के प्रयत्न, शाकल्य का पदपाठ (२१६-२१७), प्रातिशाख्यों और निरुक्त का निर्माण (२१७), सर्वप्रथम वैयाकरण इन्द्र, पाणिनि और उनकी अष्टाध्यायी (२१८-२१९), मुनित्रय, अन्य उत्तरकालीन वैयाकरण (२२०-२२२), वैयाकरणों की अन्य शाखाएँ तथा प्राकृत व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन, भारतीय अध्ययन का सिंहावलोकन (२२२-२२३), अरब तथा चीन के विद्वानों की खोज, ग्रीस के दार्शनिकों की खोज (२२४-२२५), ग्रीक और लैटिन का अध्ययन तथा उसका प्रभाव (२२५-२२७), १८वीं सदी में भाषाविज्ञान की नींव (२२७), भाषाविज्ञान के बनने में संस्कृत का प्रभाव (२२८), प्राचीन युग के अन्वेषक—फ्रे० श्लेगल् (२२८-२२९), रैस्क, ग्रिम, बाप (२२९-२३०), हम्बोल्ड्ट (२३१), पॉट, रैप, श्लाइखर (२३२-२३३), कुर्टिउस, मैक्समूलर, ह्विटनी (२३३-२३५), नवीन युग के कार्यकर्ता स्टाइनथाल (२३५), ब्रुगमन, डेलब्रुक, आंस्टोफ, हर्मन पाउल (२३६), हेनरीस्वीट (२३७), वर्तमान प्रवृत्तियां (२३८), अध्ययन के केन्द्र जर्मनी और पेरिस, वर्तमान भारत के मनीषी, सर्वप्रथम रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, भारत में आए हुए अंग्रेज़ों का उपकार, टर्नर और ज्यूलब्लाक की शिक्षा का प्रभाव, सुनीतिकुमार चटर्जी (२३९-२४३) सिद्धेश्वर वर्मा तथा अन्य विद्वान भारतीयों का कर्तव्य (२४३-२४५)।

अट्ठाईसवाँ अध्याय—लिपि का इतिहास पृ० २४६—२६७

शब्द को उत्तरकालीन या परदेशस्थ मनुष्य तक पहुँचाने की आवश्यकता और

दूसरा खंड


पृथ्वी मंडल की भाषाओं का नक़शा
पमानान्तर रेखा में मीलो की नाप
१५०° १२०° ग्रीनविच ६०° से पश्चिम ६०° देशान्तर ३०° रेखा ०° ३०° ग्रीनविच ६०° से पूर्व ६०° देशान्तर १२०° रेखा १५०° १८०°
उत्तरी ध्रुव वृत्त
कर्क रेखा
भूमध्यरेखा
मकर रेखा
ए स्कि मो
(न-देने)
आर्य
(अलगोनकिन)
(ड्रोकोई)
वास्क
फीनी-उग्री
मंगोली
तिब्बती-बर्मी
चीनी
जापानी
गिलियाई
अलूशिया द्वीप
सामी
हामी
बांटू
(टस्मेनी)
(इंगलिश)

प्रथम खण्ड

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

भाषा

भाषा शब्द का प्रयोग कभी व्यापक अर्थ में होता है तो कभी संकुचित। मूक भाषा, पशुपक्षियों की भाषा अथवा संस्कृत ग्रंथों के टीकाकारों द्वारा *इति भाषायाम्* द्वारा अभिप्रेत भाषा में सर्वत्र एक ही भाव छिपा हुआ है—वह साधन जिसके द्वारा एक प्राणी दूसरे प्राणी पर अपने विचार, भाव या इच्छा प्रकट करता है। बेकार की डाट खाकर शिशु जब माँ की ओर टुकुर-टुकुर निहारता है और कुछ बोलता नहीं, तब क्या माँ उस बच्चे के अंतस्तल की बात नहीं समझ पाती? अथवा जब भिखारी विमुख होकर द्वार पर से लौटने लगता है तब उसकी आकृति से जो भाव प्रकट होता है वह किस सहृदय से छिपा रहता है? इसी प्रकार यदि कोई गूँगा मुँह के पास हाथ ले जाकर चुल्लू बनाता है अथवा पेट पर हाथ फेरता है, तो देखने वाले को उसकी प्यास या भूख का अन्दाज़ हो ही जाता है। पेड़ की सघन छाया में बैठे हुए पक्षियों में से यदि किसी को दूर से आती हुई बिल्ली दिखाई दे जाय तो उस पक्षी के शब्द करते ही उसके सारे साथी तुरंत उड़ कर पेड़ पर क्यों बैठ जाते, यदि उनको उस शब्द द्वारा भय की सूचना न मिलती? बछड़े के *अम्मा* शब्द में वह शक्ति है कि कहीं अन्यत्र बँधी हुई भी उसकी माँ चारा खाना छोड़ कर विकल हो उठती है। इन सभी उदाहरणों से इतना स्पष्ट है कि एक प्राणी अपने किसी अवयव द्वारा दूसरे प्राणी पर जो कुछ व्यक्त कर देता है—वही विस्तृत अर्थ में भाषा है। इसे सर्व-साधारण भाषा कहते हैं।

कवि की प्रतिभा इससे भी बृहत्तर अर्थ में भाषा समझ सकती है उसे अप्राणी भी परस्पर भाव व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। तुलसी-दास जी ने वर्षाकाल में ताल-तलइयों के परस्पर स्नेह का जो आदान-प्रदान देखा वह साधारण जन की बुद्धि नहीं देख सकी थी। सुमित्रा-नन्दन पन्त को *उदधि का गान* सुनाई पड़ा। महादेवी वर्मा का 'सुमन' तो

स्वप्नलोक की मधुर कहानी
कहता सुनता अपने आप।

और उनकी प्रतिभा को

.........नीरव तारों से,
बोलीं किरणों की अलकें,

ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है। पर सामान्य मनुष्य की समझ में यह सब, अचेतन संसार का व्यापार, नहीं आता और इसीलिए वह भाषा शब्द का इतना व्यापक अर्थ नहीं करता।

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए भाषा का और भी संकुचित अर्थ लिया जाता है। सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि यदि किसी मौखिक या अन्य क्रिया के दुहराने से कोई अभिप्राय प्रकट होता है तो वहाँ भाषा मौजूद है। इसलिए पशुओं या पक्षियों की ऐसी आवाज़ें जिनको दुहरा कर दूसरे पशु-पक्षी शृंगार या भय या चेतावनी की अभिव्यक्ति कर सकें, भाषा के अन्तर्गत हैं। एक तो अन्य प्राणियों को छोड़कर हम अपना ध्येय मनुष्य की भाषा तक सीमित रखते हैं; दूसरे, मनुष्य द्वारा प्रयुक्त अन्य अवयवों का त्याग कर केवल वाणी को ही अवलम्बन मानते हैं। बच्चे अथवा भिखारी की मूक भाषा का अथवा इंगित भाषा का यहाँ कोई स्थान नहीं। इसके अतिरिक्त, मनुष्य की वाणी द्वारा व्यक्त सभी ध्वनियों का भी इस वैज्ञानिक अध्ययन में प्रयोजन नहीं—न हमें अट्टहास से काम, न रोदन से और न घोड़े को चलने के लिए प्रेरित करने के ट् ट् ट् ट्˙˙ शब्द अथवा किसी की विपत्ति में सहानुभूति और करुणा सूचक च् च् च् च्˙˙ शब्द से। हमें तो काम है वाणी द्वारा प्रयुक्त ऐसी ध्वनियों से जो अध्ययन द्वारा

विश्लेषण में आ सकें और जिनके इधर-उधर के हेर-फेर से अन्य शब्द बन सकें। हमें प्रयोजन है ऐसी ध्वनियों से जिनके द्वारा एक मनुष्य अन्य मनुष्य पर अपने विचार प्रकट कर सके। यह व्यापार मनुष्यों तक ही परिमित है--इसमें अन्य प्राणी के प्रवेश की गुंजाइश नहीं। कथा-कहानियों के वे अंश जिनमें मनुष्य और अन्य प्राणियों के संवाद अंकित हैं विज्ञान की दृष्टि से कवि की कल्पना की श्रेणी में आते हैं और यदि किसी की श्रद्धा इतना स्वीकार नहीं करती तो भी इस अध्ययन को प्रारम्भ करने के पूर्व उसे इतना मानकर ही चलना होगा कि उस प्रकार के संवाद आदि हमारे क्षेत्र से परे हैं।

विज्ञान

दर्शनकारों ने जीवात्मा के लक्षणों में *ज्ञान* को मुख्य माना है। प्रत्येक चेतन पदार्थ में ज्ञान की कोई न कोई मात्रा अवश्य रहती है। यह ज्ञान दो प्रकार का होता है--एक तो नैसर्गिक (स्वतःसिद्ध) दूसरा बुद्धिग्राह्य। *स्वतःसिद्ध ज्ञान* की मात्रा पशुपक्षियों में अधिक रहती है और दूसरे की मनुष्य में। गाय का बछड़ा स्वभाव से ही आग की ज्वाला के पास नहीं फटकता पर मनुष्य का बच्चा आग पकड़ लेता है और बुद्धि से सीख कर ही उससे बचा करता है। कुत्ते की, पानी में तैरने की शक्ति स्वतःसिद्ध है, आदमी के बच्चे को कठिन प्रयत्न करने पर प्राप्त होती है।

बुद्धिग्राह्य ज्ञान को प्रायः दो विभागों में विभाजित करते हैं--विज्ञान और कला में। *विज्ञान* विशिष्ट ज्ञान है जिसमें विप्रतिपत्ति और विकल्प की गुंजाइश नहीं और इसके तत्त्व सर्वत्र व्यापक हैं। दो और दो मिलकर चार सब कहीं होते हैं, ऐसा नहीं कि ग़रीबों के यहाँ तीन और अमीरों के यहाँ चार या पाँच। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षणशक्ति व्यापक है, ऐसा नहीं कि न्यूटन के देश में उसका एक अर्थ हो और कपिल ऋषि के देश में दूसरा। ये विज्ञान के मूल तत्त्वों के उदाहरण हैं। *कला* वाला ज्ञान सीमित और विकल्पात्मक होता है। बंगाली

चित्रकार दूर तक लम्बी चली जाने वाली उंगलियों से स्त्री के सौन्दर्य को अंकित करता है, पर रविवर्मा के चित्रों की साधारण नाप की उंगलियों को भी हम असुन्दर नहीं समझते। रीतिकाल की, भरपूर अलंकारों से लदी हुई, कविता भी काव्य की श्रेणी में आती है और साथ ही छायावाद के नीरव अलंकारों से सुशोभित अनन्त की ओर की उड़ान भी सुन्दर और मनोहारिणी कविता है। दोनों प्रकार का ज्ञान कला के अंतर्गत है। एक ओर मणिपुर और गुजरात का नृत्य है और दूसरी ओर रूस का, एक ओर भारतीय संगीत तो दूसरी ओर अँगरेज़ी। कला के अंतर्गत ये सभी हैं पर भारतीय संगीत जो माधुर्य एक भारतीय के संमुख उपस्थित कर हृत्तन्त्री को झंकृत कर देता है, चाहे वह शब्द एक भी न समझे, उतने अंश में अँगरेज़ी संगीत नहीं। इसी प्रकार अँगरेज़ी नागरिक की भावना अपने संगीत के पक्ष में और हमारे संगीत के विपक्ष में होती है। कला का यही विकल्प है, यही उसकी विप्रतिपत्ति है। कला का जितना अंश मनुष्यमात्र पर व्यापक है वह विज्ञान का है—कला का स्वकीय नहीं।

विज्ञान और कला का एक और गौण अंतर है—विज्ञान का ध्येय शुद्ध ज्ञान है और कला का व्यवहार-ज्ञान, मनोरंजन और उपयोग। काव्यकला से हमारा मनोरंजन होता है, और उसका इसके अलावा भी उपयोग है। पर पृथ्वी घूमती है या सूर्य, हम क्यों बोलते हैं, सभी मनुष्य एक ही भाषा क्यों नहीं बोलते, इत्यादि प्रश्नों का समाधान हमारी ज्ञान की प्यास को ही अधिक बुझाता है, उपयोग की श्रेणी में प्रायः कम आता है।

कला का प्रतिपादन शास्त्र करता है। उसका ध्येय साधारण व्यवहार होता है और उसमें काल और देश के अनुसार विकल्प होते रहते हैं। ऐसा समझना कि एक देश और काल का शास्त्र सब देशों और कालों के लिए स्थिर सत्ता रखता है, मनुष्य की बुद्धि की अवहेलना करना है।

कोई भी ज्ञान, विज्ञान की श्रेणी में स्थान पाने के पूर्व बाद की

अवस्था में रहता है। जब उसकी अपवादरहित सत्ता स्थिर हो जाती है तब उसको विज्ञान कहते हैं।

उन्नीसवीं सदी के विद्वानों में, भाषा के तत्त्वों का अध्ययन विज्ञान की कोटि में आता है अथवा शास्त्र या वाद की कोटि में—इस विषय को लेकर बहुत वादविवाद चलता रहा। पर अब इतना स्थिर है कि भाषा-विषयक जिन मूल तत्त्वों को मनुष्य की बुद्धि ने पकड़ लिया है वे इस अध्ययन को विज्ञान की श्रेणी में स्थान पाने का अधिकारी बनाते हैं। इसीलिए इस अध्ययन का नाम भाषाविज्ञान उपयुक्त है, भाषाशास्त्र नहीं।

प्रस्तुत पुस्तक में भाषाविज्ञान-संबंधी सामान्य सिद्धान्तों की विवेचना करना ही अभिप्रेत है, किसी विशिष्ट भाषा के तत्त्वों की विवेचना नहीं।

दूसरा अध्याय

भाषा

मनुष्य तरह-तरह की भाषाएँ बोलते हैं, कोई हिन्दी, कोई मराठी, कोई गुजराती, कोई बंगाली, तो कोई अँगरेज़ी, जर्मन, तुर्की, चीनी, जापानी आदि। यदि और भेद की दृष्टि से देखा जाय तो एक भाषा के अंतर्गत ही मनुष्य कई तरह की बोलियाँ बोलते हैं, हिन्दी वाले ही कोई अवधी, कोई ब्रज, कोई खड़ी बोली आदि। और इन बोलियों के भीतर भी बहुत से भेद हैं। परन्तु इन सब की तह में एक एकत्व है—मनुष्य के विचारों, भावों और इच्छाओं को प्रकट करना।

जिन ध्वनिचिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है उनकी समष्टि को *भाषा* कहते हैं। भाषा के इस लक्षण में विचार के अंतर्गत भाव और इच्छा भी हैं। विशेषकर असभ्य जातियों की भाषा में अधिकतर भाव, इच्छाएँ, प्रवृत्तियाँ आदि ही द्योतित होती हैं, विचारों की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है। बोलते समय हमारे विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति ध्वनिचिह्नों ही से नहीं होती। उनकी मदद के लिए हम इंगित का भी प्रयोग करते हैं। उस समय मुखाकृति, आँखों का भाव और हाथ के हिलने-डुलने से हमारे भाव को समझने में दूसरे को सहायता मिलती है। सभी भाषा में इंगित का कोई न कोई अंश मौजूद रहता है, प्रायः उसी तरह जैसे पैरों के चलने के समय मनुष्य के हाथों का हिलना। यह और बात है कि कोई इंगित की मात्रा का कम इस्तेमाल करते हैं, कोई ज़्यादा। व्याख्याताओं में कोई मेज़ पर हाथ पटकता है, कोई चुटकी बजाता है, तो कोई हाथ पाँव और आँखें नचाता है। इंगित और मुखराग से, बोले हुए शब्दों का अर्थ निश्चित ही नहीं होता, परिपुष्ट भी होता है। साहित्य में काकु की विशेष महिमा बताई

गई है। भाव के व्यक्तीकरण में इंगित का महत्त्व विशेष रहता है, जो बात शब्द से नहीं प्रकट होती वह इंगित से हो जाती है, और परस्पर विरोध होने पर इसके द्वारा जताया हुआ भाव ही विजयी होता है। इंगित की मदद न पाकर वाणी, भाव के व्यक्तीकरण में बहुत अपूर्ण रह जाती है। सभ्य समाज की ऐसी शिक्षा होती है कि भाषण करते समय इंगित और मुखराग को दूर रक्खा जाय। इस शिक्षा के फलस्वरूप मात्रा कम हो जाती है, पर मिटती नहीं।

किसी-किसी जाति में भाषा के अलावा इंगित-भाषा भी मिलती है जिसका वे लोग विशेष समय पर उपयोग करते हैं। अमरीका के पश्चिमी प्रदेशों में इण्डियन जातियों में ऐसी इंगित भाषा देखी गई है। ऐसा जान पड़ता है कि इस तरह की भाषा का विकास सामान्य इंगितों से ही हुआ है और शायद वाणी के सहारे से ही यह उठ खड़ी हुई है। आस्ट्रेलिया के कुछ आदिम जन-गणों को रात को बातचीत करते समय आग का सहारा लेना पड़ता है, नहीं तो भाषा इंगितों के न देख पाने से समझ ही में न आए। कुछ भाषाओं में पुरुषवाचक सर्वनामों का बोध केवल इंगितों से होता है।

ध्वनिचिह्नों के अतिरिक्त अन्य चिह्न भी हैं जिनके द्वारा हम अपने विचार परस्पर प्रकट करते हैं, जिनमें प्रधान हैं लेखबद्ध अक्षर। आजकल प्रायः लेख द्वारा ही देश-देशांतर से विचार-विनिमय होता है। ध्वनि का क्षेत्र सीमित है, लेख का अपेक्षाकृत अपरिमित। वाणी के इस रूप के द्वारा ही उसकी स्थिरता और विस्तार संभव हुआ। वाल्मीकि की बात हम आज भी सुन सकते हैं और भारत में बैठे-बैठे शेक्सपियर के ड्रामे देख सकते हैं। पर यह चक्षुग्राह्य अक्षर ध्वनि पर ही निर्भर हैं, इसलिए भाषा की दृष्टि से ध्वनिचिह्नों की अपेक्षा इनकी नेत्रग्राह्य सत्ता गौण है। और इनसे भी गौण सत्ता है स्पर्शग्राह्य अक्षरों की जो अंधों के उपकारार्थ तय्यार की गई किताबों में इस्तेमाल में आते हैं। स्काउट लोग झंडियों द्वारा जो संदेश भेजते हैं उनमें प्रयुक्त अक्षरों की भी बहुत गौण सत्ता है। और इसी प्रकार तार द्वारा टिक-टिक करके

ज़ो संदेश भेजे जाते हैं उनकी भी। हाँ टेलीफ़ोन द्वारा जो ध्वनिचिह्न एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं उनकी सत्ता प्रायः वही है जो भाषा के ध्वनिचिह्नों की। इस प्रकार भाषा का अभिप्राय, विचारों का व्यक्तीकरण, प्रमुख रूप से श्रोत्रग्राह्य ध्वनिचिह्नों से सिद्ध होता है और गौण रूप से दर्शन, संकेत अथवा स्पर्श द्वारा ग्राह्य लेख, छपाई, स्काउट-चिह्न आदि से। गौण रूप से प्रयुक्त ये चिह्न विभिन्न मनुष्य-समुदायों ने अपने-अपने लिए बना रक्खे हैं और इनके मूल में है विशेष समुदाय के व्यक्तियों की स्वीकारी। एक समुदाय अ द्वारा व्यक्त की हुई ध्वनि को অ (बंगाली अ) से व्यक्त करता है तो दूसरा किसी अन्य से। इन समुदायों का अस्तित्व आवश्यकता के अनुसार विस्तृत और संकुचित भी किया जा सकता है। इस प्रकार कोड (गुप्त) भाषाओं और लिपियों की सृष्टि होती है। एक मित्र-समुदाय का कोड यह था—

अहिफन कमल चक्र टङ्कारा।
तरुवर पवन युवा सुस्कारा॥
अँगुलिन अच्छर चुटकिन मात्रा।
कह हनुमन्त सुनहु सौमित्रा॥

और इस कोड की भाषा में जिसे दीक्षित कर लिया जाता था उस पर सौ मन एहसान का बोझ लाद कर अभिन्न मित्र बना लिया जाता था।[1] रहस्यमयी भाषा बोलने की उत्सुकता शायद मनुष्य में स्वभाव से ही है। बच्चे जब उल्टे वर्णों की भाषा (*तुम क्या कर रहे हो* को *मुत इका रक हरे ओह*) सीख लेते हैं तब अपना कौशल दिखाने के लिए मित्रों में ही

---

१. इस कोड की कुंजी यह है। फणाकार हाथ दिखाकर स्वर, कमलाकार से कवर्ग, पहिए के आकार से चवर्ग, हाथ से टङ्कार ध्वनि करने से टवर्ग, हाथ को तना हुआ तरु बनाने से तवर्ग और उससे हवा करने से पवर्ग का बोध होता है। मूछों पर हाथ फेरने से अन्तःस्थ वर्ण और मुँह से सुस्कार ध्वनि निकालने से ऊष्म वर्णों का व्यक्तीकरण होता है। एक उंगली दिखाने से प्रथम और दो से द्वितीय, इस तरह से वर्गों का अलग-अलग, और एक बार चुटकी बजाने से ह्रस्व और दो बार से दीर्घ मात्रा का बोध कराया जाता है।

उसका प्रयोग नहीं करते, अपने चचा, मामा आदि से भी बोलने लगते हैं।

यदि वैज्ञानिक और सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो भाषा मनुष्य के केवल विचार-विनिमय का ही साधन नहीं है, विचार का भी साधन है। दो-तीन बरस का बच्चा जब बोलना सीख लेता है तब अकेले में बैठा खिलौनों से खेलता हुआ वह मन की बात प्रकट करता रहता है, किसी को सुनाने के लिए नहीं। वयस्क मनुष्य भी भावावेश में अकेला ही मन की बात शब्दों में कह जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भाषा और विचार एक ही वस्तु के दो अभिन्न पहलू हैं। गाँधी जी ने मोतीलाल जी को मरते समय 'राम' कहने की प्रेरणा की और यद्यपि उनके मुख से, अशक्त होने के कारण, कोई ध्वनि नहीं सुनाई दी तथापि उनके ओठों की आकृति से वहाँ बैठे लोगों को प्रत्यक्ष मालूम हुआ कि मरणासन्न प्राणी राम शब्द 'मनसा' बोल रहा है। निरंतर प्रयोग करते-करते ही हम लोग ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं जिससे बिना प्रत्यक्ष बोले ही विचार कर लेते हैं और प्रत्यक्ष कुछ बोल कर विचार कुछ कर सकते हैं। कर्मठ पुजारी पूजा करते समय बोलता कुछ जाता है और साथ ही साथ विचार किसी और बात का करता जाता है। अर्थ जानने वाला विचार-शील भक्त भी बहुधा संध्या का मंत्र कुछ बोलता है और सोचता कुछ और है। ऐसी दशाओं में शब्द और विचार का सामंजस्य नहीं बैठता और इससे ऐसा मालूम होता है कि विचार और शब्द में तादात्म्य नहीं है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। उदाहृत दशाओं में मन में जो विचार हैं वही मुख्य हैं और उनके तादात्म्य वाले शब्द (ध्वनिचिह्न समूह) अस्तित्व में हैं पर प्रकट नहीं हुए। उन विचारों के साथ-साथ जो ध्वनियाँ मुँह से निकलीं वह अनर्गल और उन विचारों से बिल्कुल असंबद्ध हैं। उनका उच्चारण केवल अभ्यास से किया जाता है, जिस प्रकार अर्थविहीन शब्दों का अथवा बिना समझी हुई परदेशी भाषा के शब्दों का।

भाषा विचार करने का भी साधन है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि

यदि कोई भी विचार करने बैठें तो भाषा की मदद के बिना नहीं कर सकते। जिसको संदेह हो वह प्रयत्न करके देख ले। साधारण रीति से हम कह सकते हैं कि ध्वनियाँ विचारों से उद्भावित होती हैं और विचार ध्वनियों से, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विद्वानों का मत है कि इन दोनों के बीच में एक माध्यम है——एक रूप या प्रतिमा। इसको चाहे ध्वनि-प्रतिमा कहें या विचार-प्रतिमा, पर यही ध्वनियों और विचार में संबंध उपस्थित करती है। किसी विचार के मन में आने के लिए इतना ज़रूरी है कि विचार और यह प्रतिमा आ जायँ, मुख से बोली ध्वनियाँ चाहे आएँ चाहे नहीं। विचारों के साथ ही साथ यह प्रतिमाएँ भी बनती बिगड़ती रहती हैं। मनुष्य जब एक बार भाषा का व्यवहार सीख लेता है, तो ध्वनिचिह्न अनायास ही उसकी इच्छा के अनुकूल अपने आप विचारों के साथ निकला करते हैं; अपने सतत प्रयत्न से वह कभी अभ्यास से किन्हीं ध्वनियों को निकाल कर तत्संबंधी विचारों को मस्तिष्क में स्थान न देकर अनर्गल ही उनको बकता है, अथवा उच्चारण को बिल्कुल दबाकर विचारों को मस्तिष्क में रखकर काम किया करता है। इन अवस्थाओं का साधक है केवल अभ्यास।

इस प्रकार भाषा का विचार से अटूट संबंध है। इसे मनुष्य अपने पूर्वजों से सीखता आया है। भाषा सीखने की सामर्थ्य मनुष्य में स्वभाव से ही होती है और यदि उसे अनुकूल वातावरण मिल गया, तो वह उसे सीख लेता है; अन्यथा नहीं। जिन बच्चों को भेड़िये उठा ले जाते हैं और किसी कारण जिनको मार कर खा नहीं जाते वे बड़े होकर मनुष्य की भाषा नहीं बोल पाते। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य कोई भी भाषा माँ के पेट से सीख कर नहीं आता। मनुष्य ने इसे अपने समुदाय से सीखा है और यह मनुष्य की संस्कृति की देन है, उसी प्रकार जैसे धर्म, कला आदि। केवल भाषा ऐसी है जो मनुष्य मात्र में सर्वत्र फैली है, इस विस्तार तक धर्म या कला नहीं। और यह भी संभव है कि संस्कृति की सब से पुरानी चीज़ भाषा ही है——उसने आग के प्रयोग के पूर्व ही इसको सीखा होगा।

जिस चीज़ को हम दूसरों से सीखते हैं उसे हम ठीक वैसी ही नहीं सीख पाते जैसी उनकी होती है जिनसे हम सीखते हैं, और विशेषकर जब हम कोई चीज़ सहवास से ही सीखते हैं। बच्चा भाषा अपने पास-पड़ोस के मनुष्यों से अपने आप सीखता रहता है, कोई उसे सिखाने नहीं बैठता। पढ़ने-लिखने की बात दूसरी है। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक नहीं कि किसी ध्वनि को वह ठीक उसी तरह बोले जिस तरह वह मनुष्य या मनुष्य-समुदाय बोलता है, जिससे सुनकर उसने सीखा है, और न ठीक उसी अर्थ में। उदाहरण के लिए, *गाय* शब्द को बच्चा घर में सुनता है और एक विशेष चलता-फिरता जानवर देखता है, जिसके प्रति उस शब्द का व्यवहार होता है। जब तक उसका अनुभव उसी गाय तक सीमित है तब तक वह उस शब्द का वही सीमित अर्थ समझता है। जैसे-जैसे उसका अनुभव बढ़ता जाता है उसके *गाय* शब्द के अर्थ में भी हेर-फेर होता जाता है। इसी तरह पिता जब *गाय* शब्द बोलता है और उसका पुत्र जब उसका अनुकरण करके उसी शब्द का उच्चारण करता है तब संभव है कि बच्चा ठीक उसी स्थान और उतने ही प्रयत्न से उस शब्द का उच्चारण न कर रहा हो क्योंकि ग् आदि ध्वनियाँ उच्चारण के अवयवों के कई प्रकार के सूक्ष्म परिवर्तनों से क़रीब-क़रीब एक ही तरह की, कई निकल सकती हैं, और इनकी पकड़ हमारी स्थूल श्रोत्रेन्द्रिय से नहीं होती।

इस सीखने के कारण ही भाषा में विकार अथवा परिवर्तन अवश्यम्भावी है, और यही कारण उसकी अपूर्णता का है। जब हम बोलते हैं तब प्रतिक्षण यही अनुभव होता रहता है कि हम अपने मन को पूरी बात नहीं कह पा रहे हैं और पूर्णता लाने के लिए मुखराग, चितवन, हाथ आदि से सहारा लेते हैं। वाचिक भाषा की अपेक्षा लिखित भाषा तो और भी अपूर्ण है, क्योंकि जो सहायक वस्तुएँ वाचिक को प्राप्त हैं, उसको वे भी नहीं। इसी कारण लेख से कभी-कभी अनायास ही अनर्थ हो जाते हैं, उसमें आँख का "शील" नहीं मिलता।

मनुष्य की भाषा उसकी सृष्टि के आरंभ से, निरन्तर गति से,

प्रवाह रूप में चली आ रही है। इस प्रवाह के आदि और अन्त का कोई पता नहीं मिलता। मनुष्य उसे सीखता चला आया है और यावज्जीवन सीखता और व्यवहार करता चला जायगा। नदी के वेग के समान उसकी भाषा का वेग अनियंत्रित है। आज हमें भाषा की विभिन्नता मिलती है। कह नहीं सकते कि यह विभिन्नता कितनी पुरानी है। कोई निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि मनुष्य की सृष्टि या विकास पृथ्वी के किसी एक विशिष्ट स्थान में हुआ है या अलग-अलग स्थानों पर। किसी भी अवस्था में भाषा की विभिन्नता समय और देश के अनुसार भाषा के स्वभाव से ही अवश्यम्भावी थी। प्रत्येक भाषा के पीछे उसका इतिहास है जिसका अनुमान हम उसके वर्तमान स्वरूप से लगा सकते हैं। उसके भविष्य का भी थोड़ा बहुत अनुमान शायद कर सकें।

भाषा के बारे में हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिन ध्वनियों से किसी विशेष जीव या वस्तु का बोध होता है, उनका उस ज़ीव या वस्तु से कोई नियत स्वाभाविक संबंध नहीं, केवल सामयिक व्यवहार का संबंध है। यदि कोई नियत स्वाभाविक संबंध होता तो प्रत्येक काल और देश में *गाय* और *कमल* का वही अर्थ होता जो हम हिन्दी वाले समझते हैं। तब न भाषा में परिवर्तन होता और न विभिन्नता ही आ पाती। जब हम यह कहते हैं कि शब्द (ध्वनि-समूह) और अर्थ का नित्य और अटूट संबंध है, तब इस कथन से केवल इतना प्रयोजन है कि प्रत्येक शब्द का कुछ-न-कुछ अर्थ है, चाहे यहाँ चाहे अन्यत्र, चाहे आज कल चाहे क़िसी और समय में। सम्भव है कि बहुतेरे ऐसे शब्द जिनको आज मनुष्य-समुदाय निरर्थक समझता है, किसी समय सार्थक रहे हों, या भविष्य में सार्थक हो सकें। अल्पज्ञानी होने के कारण हमें उनका बोध नहीं है।

मनुष्य ध्वनि-संकेतों का अनायास ही व्यवहार करता रहता है और कभी उनका विश्लेषण करने नहीं बैठता, परन्तु ये ध्वनियाँ विश्लेषण-सह्य हैं। विधाता की इस सृष्टि में इन ध्वनियों की संख्या अनन्त है

और प्रत्येक जन-समुदाय केवल एक थोड़ी सी संख्या का प्रयोग करता है। ध्वनियों का विश्लेषण सर्वप्रथम वैयाकरणों ने किया। श्रुति के अनुसार इन्द्र ने 'वाणी' को दो हिस्सों में विभक्त किया था। भाषा के विश्लेषण का यह प्रथम उल्लेख है।

भाषा के द्योतक हमारे पुराने शब्द *वाक्* और *वाणी* हैं जिनमें बोलने का अर्थ निहित है। *वाक्* का दूसरा अर्थ *जिह्वा* का भी होता है। जिह्वा बोलने में प्रमुख भाग लेती है, इसीलिए बहुधा अन्य भाषाओं में भी जिह्वा और भाषा के लिए समान शब्द है। फ़ारसी का *ज़बान*, अँगरेज़ी का *टंग*, फ्रेंच का *लांग*, *लाँगाज़*, लैटिन का *लिंगुआ* और ग्रीक का *लेइख़ेइन* जो भाषा के अर्थ में प्रयोग में आते हैं, सभी के मूल में जिह्वा का अर्थ है। अँग्रेज़ी का *स्पीच*, जर्मन *श्प्राख़े* और अरबी *लिस्सान* प्रायः उसी अर्थ के द्योतक हैं जिसका कि हमारा शब्द *भाषा*।

तीसरा अध्याय

भाषा का संघटन

संघटनात्मक भाषा-विज्ञान के मनीषियों ने भाषा की परिभाषा इस प्रकार की है—"भाषा यादृच्छिक वाचिक प्रतीकों की वह संघटना है, जिसके माध्यम से एक मानव समुदाय परस्पर व्यवहार करता है।" इस परिभाषा के चार अंश हैं।

पहला तो यह, भाषा एक संघटना है अर्थात् ऐसी सुव्यवस्थित योजना है जिसमें प्रत्येक अवयव के बाद आनेवाले औरों की संख्या एवं प्रकार की मर्यादा सुनिश्चित है। हम जब संस्कृत भाषा के संघटन का विचार करते हैं तो यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि किसी भी संस्कृत-शब्द के आदि में ण् या ङ नहीं आ सकता, या जब हम हिन्दी द्वारा संघटन की बात सोचते हैं तो भली भाँति जानते हैं कि अकर्मक क्रिया के पहले सामान्य भूतकाल के द्योतन में कर्त्ता के बाद "ने" नहीं आयेगा। इस प्रकार चूंकि आदमी भाषा समाज से सीखता है और समाज में रहने ही के लिये उसका प्रयोग करता है, इसलिए उसे समाज द्वारा स्वीकार्य परिधि के भीतर अपनी भाषा को रखना पड़ता है। इस समाज-स्वीकार्य मर्यादा या दूसरे शब्दों में भाषा की व्यवस्था के पूर्व-निश्चय का ज्ञान ही हमें भाषा को संघटन कहने के लिए विवश करता है। संघटन होने ही के कारण भाषा के अवयवों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है और संघटन होने के कारण भाषा में सम्प्रेषणीयता आती है।

भाषा की दूसरी विशेषता है प्रतीकमय होना। प्रतीक और संकेत इन दोनों में एक विशेष अन्तर यही है कि जहाँ संकेत और संकेतित में किसी न किसी प्रकार का नियत सम्बन्ध हुआ करता है, वहाँ प्रतीक

और प्रतीयमान में यह सम्बन्ध नियत न होकर काफ़ी अनिश्चित होता है। जैसा ऊपर कह आये हैं, वस्तुतः यदि भाषा संकेतों के सहारे चले तो संसार में भाषा के इतने भेद ही न हों। 'अश्व' कहने मात्र से किसी भी भाषा-भाषी के द्वारा केवल घोड़े का ही बोध हो ऐसी बात नहीं है। जिन्हें हम अनुरणनात्मक शब्द कहते हैं, वे भी प्रत्येक भाषा में अलग-अलग होते हैं। हिन्दी की नदी '*कलकल*' करती है, पर अँग्रेजी की नदी '*मरमर*' करती है। हिन्दी का घोड़ा '*हिनहिनाता*' है पर अँग्रेजी का घोड़ा '*नेइंग*' करता है। इसीलिए हम भाषा में संकेत न ढूँढ़कर प्रतीक ढ़ूँढ़ते हैं। (प्रतीक और प्रतीयमान का सम्बन्ध वक्ता और श्रोता के आपसी समझौते पर निर्भर होता है। वह किसी भौतिक नियम से नियंत्रित नहीं है।) संकेत और संकेतित के बीच एक निश्चित सादृश्य होता है। इसलिए उसको ग्रहण करने के लिए किसी भी समुदाय-विशेष के समय (Convention) की आवश्यकता नहीं पड़ती है। सड़क पर स्कूल के सामने आने के पहले बच्चों का चित्र रहता है और वह मोटर वालों को सावधानी का संकेत दे देता है, चाहे वह मोटर वाला उस जगह की भाषा समझे या न समझे। परन्तु भाषा ठीक इसके विपरीत जिन प्रतीकों की संघटना है, वे प्रतीक उस भाषा के बोलने वाले समुदाय के बाहर समझे ही नहीं जा सकते। (साथ ही ये प्रतीक वाचिक होते हैं। वे मनुष्य के वाग्यन्त्र में श्वास की अनेक प्रकार की प्रक्रियाओं से उत्पन्न होते हैं।) संघटनात्मक भाषा-विज्ञान वालों की दृष्टि में भाषा प्रथमतः बोली जाने के लिये है, उसका लिखा जाना एक सीमित और गौण उपयोग है। लिखित प्रतीक वाचिक प्रतीक से देश-काल की परिधि से बाहर ले जाने की कोशिश करता है, पर वह होता है वाचिक प्रतीक पर ही आधृत, क्योंकि उनके द्वारा अर्थ-ग्रहण करने के पूर्व उनके पाठक मन में वाचिक प्रतीक ही को दुहराते हैं।

इस परिभाषा की तीसरी विशेषत इन प्रतीकों को यादृच्छिक कहना है। "यादृच्छिक प्रतीकों की संघटना" यह कहना ही विरोध सा

प्रतीत होता है। एक ओर हम यह कहते हैं कि भाषा संघटनात्मक होने के कारण पूर्व-निश्चित होती है और वहीं दूसरी ओर हम यह भी कहते हैं कि संघटना यादृच्छिक प्रतीकों की बनी है। इसका समाधान कैसे होगा? वस्तुतः भाषा एक जड़ और गतिहीन पदार्थ नहीं है, वह एक निरन्तर वर्तमान प्रतिक्रिया है, जिसमें प्रतिक्षण असंलक्ष्य गति से परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन का कारण है उसके बोलने वाले समुदाय के प्रति व्यक्ति की बोधशक्ति की अलग सत्ता और उसके विकास की अलग प्रतिक्रिया (भाषा बोलते समय जब कोई व्यक्ति कुछ प्रतीकों का प्रयोग करता है तो वह अपने समुदाय की स्वीकार्य सीमा के भीतर रहते हुए भी कुछ न कुछ एक-दूसरे से विभिन्न अर्थ एवं ध्वनि रखता ही है। धीरे-धीरे जब उस समुदाय के अधिकांश लोग भेद के ऐसे समान स्तर पर पहुँच जाते हैं, जब एक पूरी की पूरी व्यवस्था ही बेकार हो जाती है तो हम यह कहते हैं कि भाषा में एक नया संघटन आ गया। भाषा में इसलिए कोई भी परिवर्तन विच्छिन्न या एकाकी रूप में नहीं होता। परिवर्तन तभी होता है जब पूरा संघटन बदल जाता है। परिवर्तन पर नियंत्रण रखने वाले हेतु मनुष्य के आधीन हैं, इसीलिए हम इन प्रतीकों को यादृच्छिक कहते हैं।) उदाहरण के लिए हम संस्कृत में 'दारा' को पुल्लिग कहते हैं, जबकि इसका अर्थ स्त्री है। *'मित्र'* को नपुंसकलिंग कहते हैं, जब यह पुरुष मित्र के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। हिन्दी में हम *'राम ने उसको मारा'* कहेंगे और *'राम ने उसे मारा'* भी कहेंगे पर *'राम ने अध्यापक मारा'* न कह कर केवल *'राम ने अध्यापक को मारा'* कहेंगे। इस प्रकार एक तरह की इसकी यादृच्छिक व्यवस्था है (व्यवस्था बदलती रहती है, क्योंकि जिन प्रतीकों का हम व्यवहार करते हैं वे प्रतीक हमारी यादृच्छा के द्वारा निर्मित किये गये हैं और निर्मित किये भी जा रहे हैं, परन्तु वह दूसरी व्यवस्था को जन्म देती रहती है।)

परिभाषा का अंतिम अंश है भाषा का एक समुदाय के परस्पर व्यवहार का प्रकृष्टतम माध्यम माना जाना। (भाषा मनुष्य के अनेक

अर्जित संस्कारों में से एक संस्कार है जिसे वह जन्म से नहीं प्राप्त करता, बल्कि जिस समुदाय के बीच में वह बरतता है, उसी से उसे अर्जित करता है। जैसे आदमी खाने का तौर-तरीका सीखता है, उसी तरह भाषा के प्रतीकों का भी तरीका सीखता है। दूसरे तौर-तरीके से भाषा में यह समानता है कि भाषा भी मनुष्य के जीवन में उसी की तरह आरोपित व्यापार है, वह भाषा-समुदाय के दैनन्दिन जीवन का प्रकृष्टतम माध्यम है, बल्कि कहना चाहिए कि समाज और भाषा में एक अविभाज्य सम्बन्ध है। हम भाषा के बिना किसी समुदाय की कल्पना ही नहीं कर सकते। मनुष्य के सामाजिक जीवन में भाषा का स्थान इसीलिए है कि यह दूसरे तौर-तरीकों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण और अपरिहार्य है। समुदाय कम से कम दो का तो होना ही चाहिए। ऐसी भी भाषाएँ हैं, जो क्रमशः लुप्त होती जा रही हैं, पर तब तक बनी रहती हैं, जब तक कि उनके कम से कम दो बोलने वाले एक-दूसरे के पास बने रहते हैं।

हम अन्त में भाषा के इस लक्षण के पद का समाहार करते समय यह कह सकते हैं कि भाषा वह है जो बोली जाती है, जो विशिष्ट समुदाय में बोली जाती है, और जो मनुष्य और उसके समाज के भीतर की ऐसी कड़ी है जो निरन्तर आगे जुड़ती रहती है।

चौथा अध्याय

भाषा की इकाइयाँ

भाषा को संघटन मानने पर हमें अब यह विचार करना है कि भाषा की संघटना के स्तर कौन-कौन से हैं, उस संघटना के उन स्तरों पर इकाइयाँ कौन-कौन सी हैं और ये इकाइयाँ कितनी भौतिक हैं और कितनी मानसिक हैं। यद्यपि हम भाषा को दो स्तरों में विभक्त करते हैं तथापि विभक्त करने के पहले इस पर ज़रूर बल देना चाहते हैं कि वस्तुतः संघटित के अर्थ ही यह होते हैं कि परस्पर संयुक्त भाव इसमें हों, इसलिये जितनी भी विभाजन की हम बातें करते हैं वह धारणात्मक स्तर पर ही, पारमार्थिक स्तर पर नहीं। संस्कृत के महाकवि कालिदास ने शब्द और अर्थ को जो शिव-पार्वती की तरह संयुक्त माना है, वही वस्तुतः चरम सत्य है। केवल समझने के लिए इन दो भेदों की कल्पना कर लेते हैं। ये दो भेद हैं—अभिव्यक्ति (Expression) और अर्थ (Content)। "अभिव्यक्ति" को हम 'शब्द' भी कह सकते हैं, शब्द एक ऐसा सामान्य शब्द है जिसका प्रयोग अनेक अर्थों में बहुत छूट के साथ होता है। अभिव्यक्ति से हमारा तात्पर्य भाषा के उस अंश से है, जो एक भौतिक घटना के रूप में हमारे वाग्यन्त्र से घटित होकर हमारे श्रवण-यन्त्र के द्वारा गृहीत होता है और अर्थ से हमारा तात्पर्य उस भौतिक घटना के प्रेरक संकेत और उसके परिणाम दोनों से है।

अर्थ शुद्ध रूप से मानसिक सत्ता है। इसीलिए अभिव्यक्ति के विश्लेषण की अपेक्षा उसका वैज्ञानिक विश्लेषण अधिक कठिन है। अर्थ वस्तुतः वक्ता और ग्रहीता की पूर्ण सामाजिक इयत्ता का ही प्रतिभास है। गाँव में रहने वाले आदमी के सामने जब पेड़ का शब्द आयेगा तो वह अपने गाँव के आस-पास मिलने वाले पेड़ों के बाहर पेड़ की सत्ता

नहीं देख पायेगा। मरुस्थल के निवासी के मन में पेड़ नागफनी बनकर ही रह जायगी, पर हिमालय की तराई का निवासी उसे देवदारु ही के रूप में देखेगा। इसी कारण अर्थ की मीमांसा उतनी निश्चित और स्पष्ट नहीं की जा सकती। उसकी अपेक्षा अभिव्यक्ति की मीमांसा अधिक स्पष्टता से की जा सकती है, यद्यपि अभिव्यक्ति की मीमांसा करते समय भी हम उसके प्रेरक अर्थ को भूल नहीं सकते पर वह अर्थ विशेषाकारक न होकर सामान्याकारक होता है। आगे हम इसे अधिक स्पष्ट करेंगे, यहाँ हम केवल यह इंगित करना चाहते हैं कि संघटनात्मक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने के लिए नये अमरीकी भाषाविदों ने अर्थ की आवश्यकता से अधिक उपेक्षा की है और अब यह स्थिति आ गयी है कि उनकी दृष्टि इसी कारण अधिकांश दूसरे वर्ग के विचारकों के द्वारा एकांगी भी मानी जाने लगी है।

इस अभिव्यक्ति के स्तर पर भी हम भाषा के तीन स्तर सोच सकते हैं—वाक्य, रूप और ध्वनिग्राम। वाक्य विचार की पूर्णता की इकाई है और इसका ज्ञापन भौतिक घटना में एक अपेक्षाकृत लम्बे विराम के द्वारा होता है। वाक्य ही व्यवहार में अपने में उक्ति का एक पूर्ण रूप होता है। वाक्य को हम ऐसे शब्दों या रूपों में विभक्त पाते हैं, जो हर एक तरह से परस्पर सम्बद्ध होते हैं। यह सम्बन्ध चाहे एक रूप से दूसरे रूप में हो, या एक रूप-समूह से दूसरे रूप में हो, या एक रूप-समूह से दूसरे रूप-समूह में हो। वाक्य के स्तर पर हम जब संघटना का विचार करते हैं तो इन्हीं सम्बन्धों का विवेचन करते हैं और इन सम्बन्धों के विविध प्रकार के विन्यास के आधार पर वाक्यों की विविधता की व्यवस्था निर्धारित करते हैं। साधारण भाषा में हम कह सकते हैं कि जिन भाषाओं में रूप-प्रक्रिया है, उनमें पदों का दूसरे पदों से बाह्य सम्बन्ध वाक्य-विश्लेषण का अंग है, और पदों के भीतर प्रकृति और प्रत्यय का अन्तः संबंध पद-विश्लेषण या रूप-विश्लेषण का विषय है। जिन भाषाओं में रूप-प्रक्रिया नहीं है अर्थात् जिनमें एक रूप दूसरे रूप से असंलग्न होकर भाषा में सन्निधि या क्रम-मात्र से ही सम्बन्ध की स्थापना करते

हैं उन भाषाओं में वाक्य-विचार और रूप-विचार के बीच में रेखा नहीं खींची जा सकती।

रूप (morpheme) भाषा के अभिव्यक्ति-स्तर पर वह इकाई है जो एक सम्बन्धवाचक ध्वनिग्राम-राशि की होती है और जो अर्थवान् होती हुई भी स्वयं अर्थ नहीं होती। एक तरह से यह ध्वनिग्राम-राशि और अर्थ के बीच जोड़ने वाली कड़ी है। जहाँ तक कि इसके आकार का प्रत्यय है, वह प्रत्यय भौतिक है, पर जहाँ तक कि इसमें निहित अर्थ का प्रत्यय है, वह प्रत्यय मानसिक है। उदाहरण के लिए यदि हम संस्कृत के "रामः" शब्द को लें तो इसमें हमें तीन रूपतत्वों का संश्लेष मिलता है।

{ रम् } + { घञ् (अ) } + { सुप् (स्) }

जब हम "रम्" रूप की बात करते हैं तो हम केवल उसके तिङन्त और कृदन्त प्रत्यय से सम्बन्ध स्थापित करने की आकांक्षा रखने वाले "रम्" को ही ध्यान में रखते हैं, न कि उसके "रमना" अर्थ को। इसी तरह "घञ्" प्रत्यय की जब बात करते हैं तो हम केवल उसकी धातु में कर्तृत्व सम्बन्ध जोड़ने की शक्ति की ही कल्पना करते हैं और अन्त में "सु" रूप से हमारे मन में कर्त्ता के रूप में आदमी नहीं खड़ा होता है बल्कि उससे केवल "राम" जैसे किसी प्रातिपदिक का किसी कार्य-विशेष से सम्बन्ध-विशेष ही हमारे मन में उदित होता है। इसलिये यह ध्यान देने योग्य है कि रूप छोटी से छोटी अर्थवान् इकाई है सही, पर वह अर्थ से भिन्न है और इस प्रकार वह ध्वनिग्रामाकार होते हुए भी ध्वनिग्राम की तरह अर्थ-शून्य नहीं है।

अन्त में हम भाषा के अन्त्य अवयव ध्वनिग्राम पर आते हैं। ध्वनिग्राम किसी भाषा विशेषगत उक्ति का वह अन्त्य गुणनखंड है, जिसके बाद विश्लेषण करना, उस भाषा की दृष्टि से निष्प्रयोजन है, पर जो साभिप्राय होते हुए भी स्वयं कोई अर्थ न रखता हो। इस तरह से ध्वनि-ग्राम पूर्णतः भौतिक घटना पर आधृत है, यद्यपि स्वयं यह भौतिक तथ्य

का प्रतिनिधित्व मात्र करता है, स्वयं भौतिक तथ्य उपस्थित नहीं करता। भाषा के विश्लेषण की ऊपर भी जो इकाइयाँ बतायी गयी हैं वे भी भौतिक घटना या तथ्य की (Presentation) आकृति न होकर (Representation) प्रतिकृति के ही रूप में कल्पित की गयी हैं। वस्तुतः एक तरह से वे अपने संवादी तथ्य की अपेक्षा वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक परिच्छिन्न एवं सत्य हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी भाषा-भाषी जब 'कमल' शब्द का उच्चारण करता है तो वह चाहे इस शब्द के आद्य अवयव "क्" का उच्चारण पृष्ठ कोमल तालु से करे, चाहे कोमल-तालु से करे, चाहे उससे भी कुछ आगे आकर करे, पर उसके हिन्दी-श्रोता तीन प्रकार के "क्" के उच्चारणों को एकाकार ही मानेंगे। उसके लिए "क्" की तीन सत्ताएँ निरर्थक हैं और उससे यदि कहा भी जाय कि उसने कमल के "क्" का उच्चारण तीन प्रकार से किया है तो वह विश्वास नहीं करेगा क्योंकि उसके लिए "क्" की तीन नहीं केवल एक इकाई ही सत्य है।

इस प्रकार हम वैज्ञानिक परिकल्पना के आधार पर संक्षेप में चार स्तरों पर भाषा की संघटना का विश्लेषण कर सकते हैं (१) अर्थ-स्तर पर अर्थतत्व का विश्लेषण जिसे हम अर्थ-विज्ञान कह सकते हैं। (२) वाक्य-स्तर पर वाक्य-तत्वों में विश्लेषण जिसे हम वाक्य-विज्ञान कह सकते हैं। (३) रूप-स्तर पर रूप-तत्वों में विश्लेषण जिसे हम रूप-विज्ञान कह सकते हैं और (४) ध्वनिग्राम-स्तर पर ध्वनिग्राम-तत्वों में जिसे हम ध्वनिग्राम-विज्ञान कह सकते हैं।

पाँचवाँ अध्याय

संघटनात्मक भाषाविज्ञान-सम्प्रदाय

भाषा की उपरिलिखित परिभाषा के अनुसार उक्त प्रकार से भाषा की संघटना के विश्लेषण में जो सम्प्रदाय विश्वास रखता है, वह अपने को संघटनावादी भाषाविद् कहता है। यह सम्प्रदाय ऐतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययन के सम्प्रदाय से मुख्यतः इसलिए कुछ अलग है कि यह भाषा को उसके जीवित और वर्तमान रूप में ही ग्रहण करना चाहता है, न कि उसके विगत और मृत रूपों के संदर्भ में। इसके लिए भाषा का इतिहास नहीं बल्कि भाषा का भूगोल ही महत्व रखता है। इस सम्प्रदाय को भाषा के इतिहास में गौण रुचि है और इसकी मान्यताएँ संक्षेप में ये हैं :—

(१) भाषा का बोला जानेवाला रूप ही उसका वास्तविक रूप है, इसीलिए भाषा लिखने के पहले भाषा बोलनी चाहिए और बोलने के पहले सुननी चाहिए।

(२) भाषा के संघटनामय होने के कारण उसके अवयव एक दूसरे से असंलग्न या असम्बद्ध नहीं हो सकते। वस्तुतः भाषा का विश्लेषण उसके अवयवों की निरपेक्ष या पारमार्थिक सत्ता के आधार पर नहीं किया जाता, वह विश्लेषण आधृत होता है भाषा की विविध प्रकार की सम्पर्क-सीमाओं के ख्यापन पर। इस विश्लेषण में पारमार्थिक (Absolute) सत्ताओं को परिधियों में बाँध देने की चेष्टा की जाती है। इन परिधियों को बनाने की चेष्टा इसलिए की जाती है कि जिन परिधियों के भीतर चाहे जितने भी विकल्प हों, वे अनेक नहीं माने जाकर केवल एक ही माने जाते हैं। भाषा की इन परिधियों की सीमायें जब टूटती हैं, तब पूरी भाषा की श्रृंखला टूट जाती है और फिर नयी परिधि से नयी

शृंखला बनती है। संक्षेप में भाषा में कोई परिवर्तन एकाकी नहीं होता। वह परिवर्तन पूरी शृंखला में होता है।

(३) भाषा एक अर्जित संस्कार है इसलिए भाषा के सम्बन्ध में जन्मजात रुचि-अरुचि का प्रश्न नहीं उठता। भाषा बच्चा अपने बड़ों से अधिक अपने समकालीनों से सीखता है, बड़े केवल उस भाषा में अनावश्यक और अप्रभावकारी नियन्त्रण का ही कार्य करते हैं। यदि बच्चा बड़ों की भाषा को यथावत् स्वीकार करता तो भाषा कभी बदल ही नहीं पाती।

(४) भाषा के संबंध में कोमल-परुष, सरल-कठिन या शुद्ध-अशुद्ध जैसे विकल्प वैज्ञानिक दृष्टि से अनुपयुक्त हैं। प्रत्येक भाषा अपने समुदाय के लिए अपने समुदाय की दृष्टि से जैसी होती है वैसी दूसरे समुदाय के लिए नहीं हो सकती। इसका कारण केवल इतना ही है कि अभ्यासवश आदमी एक समुदाय के रहन-सहन से इतना अभिभूत हो जाता है कि वह दूसरे प्रकार के रहन-सहन में विचित्रता अपने-आप देखने लगता है। प्रत्येक मनुष्य की भाषा अपने में पूर्ण व्यवस्था होती है, इसलिए जिसे शुद्ध भाषा कहते हैं और जिसका प्रचलन मनवाना चाहते हैं, वह समाज की स्वीकृति पर ही अवलंबित है। भाषा के ऊपर अधिकार उसके औसत बोलने वाले का है, किसी जन-विशेष का नहीं। महाभाष्यकार ने भी लोक को ही भाषा के सम्बन्ध में प्रमाण माना है।

(५) भाषा की संघटना में प्रतीकों का विन्यास, यादृच्छिक होने के कारण प्रत्येक संघटना को दूसरी संघटना से इतनी दूर कर देता है कि यथार्थ रूप को एक भाषा का दूसरी भाषा में अनुवाद नहीं किया जा सकता। यह कहना कि यह विन्यास उस भाषा के बोलने वाले समुदाय की सांस्कृतिक सम्पद् या हीनता का मापदंड हो सकता है, एक बहुत बड़े असत्य की प्रतिष्ठा होगी। इस विन्यास में शुद्ध रूप से मनुष्य की यदृच्छा काम करती है। मीमांसा शास्त्र में इसी सिद्धान्त को *भूमौ अर्थः मुखे शब्दः, औत्पत्तिकः शब्दस्य अर्थेन सह सम्बन्धः* जमीन में प्रतीयमान और मुँह में शब्द, भला इन दोनों के बीच "यादृच्छिक

सम्बन्ध माने बिना कैसे काम चलेगा" इस कथन के द्वारा समर्थन किया गया है।

संघटनात्मक भाषाविज्ञान ने इधर हाल में वाक्यविन्यास के विश्लेषण पर भी ध्यान दिया है और रूलन वेल्स ने आसन्न घटक (Immediate Constituents) सिद्धान्त की स्थापना करके वाक्यविश्लेषण का एक नया तरीक़ा निकाला है। पर अभी वाक्यस्तर पर विश्लेषण साध्यावस्था में है। इसीलिए इसके विस्तार में जाना आवश्यक नहीं। अर्थ के क्षेत्र की ओर से पहले जितनी उदासीनता थी, उतनी अब नहीं है, यह एक शुभ लक्षण है। तब भी अर्थ-विचार की दिशा में प्रगति मन्द है।

संघटनात्मक भाषाविज्ञान का समुचित उपयोग भाषा-शिक्षण, बोलियों के भौगोलिक सर्वेक्षण, भाषा-रीति विज्ञान (Linguistic Typology), ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में प्रत्याकलन (reconstruction), नृतत्त्व एवं समाजशास्त्र में हुआ है। भाषा-शिक्षण के क्षेत्र में प्रत्यक्ष समय और प्रयत्न का लाघव इस शाखा के उपयोग के फलस्वरूप आया है। गत पच्चीस वर्षों के निरन्तर प्रयोग के बाद यह स्थिति आ गयी है कि संघटनात्मक भाषाविज्ञान ने इस भाषाशास्त्र को विज्ञान के स्तर पर पहुँचाने की दिशा में बहुत बड़ी मंजिल तै कर ली है और अब उसका अध्ययन अपरिहार्य हो गया है।

छठा अध्याय

भाषा का उद्गम

दूसरे अध्याय में हम देख चुके हैं कि मनुष्य अपने पूर्वजों से भाषा सीखता आया है। हमने अपने माँ-बाप से सीखी, उन्होंने अपने माँ-बाप से। इस तरह चलते-चलते उस आदि अवस्था तक हम पहुँच जाते हैं जब भाषा पहले पहल सीखी गई होगी। उस समय मनुष्य को भाषा किसने सिखाई ? और यदि सिखाने वाला कोई नहीं था तो मनुष्य ने किस प्रकार भाषा का सृजन किया। यह सवाल विचारणीय है।

धर्मग्रन्थों में श्रद्धा रखने वालों के लिए इस प्रश्न की तह में कोई समस्या नहीं मालूम होती। प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ऋषियों को ईश्वरीय ज्ञान (वेद के रूप में) प्रदान करता है। इन आदिम ऋषियों को उस वैदिक भाषा का स्वतः ज्ञान होता है और ये परम्परा से अपने बाद वालों को और ये अपने बाद आने वालों को सिखाते चले आए हैं। यास्क की दृष्टि से प्रवरों ने अवरों को यह ज्ञान दिया और पतञ्जलि के मत से ईश्वर से पूर्व कोई गुरु नहीं था—वही अनन्त काल से आदि गुरु है। इस प्रकार देववाणी संस्कृत ही आदि भाषा है जिसे परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों को सिखाया और जिससे बाद को अन्य भाषाएँ और उपभाषाएँ फूट निकलीं। इंजील को धर्मग्रन्थ मानने वालों के लिए तो यहूदी भाषा (इब्रानी) ही आदमी की आदिम भाषा थी जो परमेश्वर-प्रदत्त है और यदि बेबल के मीनार की दुर्घटना न हुई होती तो आज भी वही अकेली भाषा सारे संसार में प्रचलित होती और भाषा की विभिन्नता के कारण मनुष्य जाति की जो दुर्गति हो रही है उससे वह बच जाती।

आदि में किसी परमेश्वर की कल्पना न करने वाले और सृष्टि को प्रवाह रूप से अनादि और अनन्त मानने वाले धर्म भी आदि भाषा की सत्ता स्वीकार करते हैं। बौद्ध लोग पालि (मागधी) को मूल भाषा मानते हैं और विश्वास करते हैं कि आदि कल्प के मनुष्य, ब्राह्मण और संबुद्ध इसी का व्यवहार करते थे। जैन लोग तो आर्ष (अर्द्धमागधी) को मूल भाषा (प्राक्कृत) मान कर उसे मनुष्यमात्र ही तक सीमित नहीं रखते। उनका विश्वास है कि श्री महावीर स्वामी की इस भाषा का उपदेश तिर्यग्योनि (पशु-पक्षी आदि) के और सिद्ध, देव आदि योनियों के जीव भी समझते थे, और सुन कर लाभ उठाते थे।

मतमतान्तरों पर श्रद्धा रखनेवाले और यह मानने वाले कि मनुष्य परमेश्वर के यहाँ से इस संसार में आते समय ही भाषा सीखकर आता है, एक दूसरी ही समस्या से विचलित रहे हैं—कौन-सी भाषा लेकर मनुष्य यहाँ उतरता है? ई० पू० ५वीं सदी के ग्रन्थकार हेरोडोटुस ने लिखा है कि मिस्र देश के राजा सैमेटिकुस ने यह जानने के लिए कि संसार में सबसे प्राचीन कौन मनुष्य-जाति है, दो तत्काल पैदा हुए बच्चों को एक पार्क में अन्य मनुष्यों से बिलग रक्खा। उन्होंने जब बोलना आरंभ किया तो उनके मुँह से *वेकोस* शब्द निकला जो फ़्रिजियन है और जिसका अर्थ है "रोटी"। उन बच्चों के सामने किसी को भी बोलने का निषेध था। *वेकोस* शब्द जो उन बच्चों के मुँह से निकला वह भी रोटी लाने वाले प्रहरी की ज़बान से अनजान में कभी निकल गया था। इस प्रयोग से यह निश्चय न किया जा सका कि मिस्री लोग आदि पुरुष हैं या फ़्रिजियन। इसी प्रकार का एक प्रयोग कुछ बच्चों पर अकबर बादशाह ने भी करवाया था और वे बच्चे भी गूँगे निकले। इससे इतना स्पष्ट है कि मनुष्य का बच्चा कोई भी भाषा सीख कर नहीं आता, जो सीखता है, यहीं इस संसार में। धर्म में अटल विश्वास रखने वाले इन प्रमाणों से हतबुद्धि नहीं होते। वे कहते हैं कि माना कि अब मनुष्य जाति, जन्म से कोई भाषा सीखकर नहीं आती पर सृष्टि के आरंभ में अवश्य भाषा मनुष्य को सिखाई गई थी अन्यथा आज की तरह सब लोग गूँगे ही

आते। और जब मनुष्य को और कोई पूर्वज स्वजातीय शिक्षक नहीं सिखा सकता था, उस समय निश्चय ही उसको यह ज्ञान किसी दैवी शक्ति से मिला होगा।

आधुनिक विज्ञान मनुष्य की सृष्टि को विकासवाद की दृढ़ नींव पर ही स्वीकार करता है, इसीलिए भाषा के उद्‌गम की समस्या उसके सामने जटिल समस्या के रूप में उपस्थित होती है और इसको हल करने का विद्वानों ने प्रयास किया है।

एक मत यह है कि आरंभ में जब संकेत आदि से मनुष्य-समुदाय का यथेष्ट काम नहीं चला, तब समुदाय ने एकत्र होकर विचारपूर्वक निश्चय किया कि अमुक वस्तु का यह नाम होगा और अमुक का यह। इस प्रकार उसने आपस के समझौते से भाषा का सृजन किया। परन्तु यह मत थोड़े दिन भी समीक्षा की कसौटी पर नहीं ठहर सका। सवाल उठा कि जब मनुष्य के पास कोई भाषा थी ही नहीं, केवल संकेत थे तब उसने एक दूसरे पर अपने समझौते के समय के विचार किस साधन से प्रकट किये होंगे? क्या यह संभव नहीं कि एक वस्तु के लिए किसी सदस्य ने एक नाम पेश किया हो और दूसरे ने दूसरा और फिर वाद-विवाद हुआ हो कि कौन स्वीकार किया जाय और कौन नहीं? यह वाद-विवाद क्या केवल संकेतों से हुआ होगा? फिर किसी वस्तु का विचार उठते ही उसकी ध्वन्यात्मक प्रतिमा मन में आ जाती है। तो, जब किसी वस्तु का क्या नाम रक्खा जाय यह बात निश्चित नहीं हुई थी तब यह प्रतिमा कैसे मस्तिष्क में आई और किस रूप में? और उसकी अनुपस्थिति में विचार ही कैसे आया? इस प्रकार समीक्षा करने पर विचारपूर्वक आदि भाषा के निर्माण का मत कितनी कमज़ोर दीवार पर खड़ा है यह स्पष्ट हो जाता है।

भाषा की उत्पत्ति का समाधान करने के लिए दूसरा मत यह है कि मनुष्य ने भाषा अपने आस-पास के पशु-पक्षियों तथा सृष्टि के अन्य पदार्थों से सीखी। कोयल को कुहू, कुहू करते सुना तो उसका नाम कुहू रक्खा, बिल्ली को म्याऊँ, म्याऊँ करते सुना तो उसकी संज्ञा

म्याऊँ बनाई, पेड़ से पत्ता गिरते देखा और उसकी आवाज़ परखी तो पत् धातु गिरने के अर्थ में निश्चित की, पानी की तेज़ धार को बहते सुनकर नद् धातु का निश्चय किया और नदी शब्द बनाया। आज भी इस प्रकार शब्द बनते हैं। बच्चे मोटर को मोटर न कहकर *पों-पों* कहते हैं क्योंकि उनको हटाने के लिए मोटर *पों-पों* शब्द करती है और मोटर के हार्न को हम लोग अपनी भाषा में *भोंपू* नाम शायद इसीलिये दे बैठे हैं। परंतु यह मत भी समीक्षा करने पर पक्का और संतोषजनक नहीं ठहरता। पहली बात तो यह है कि संसार की पुरानी से पुरानी भाषा का भी अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि ऐसे शब्द जो इसप्रकार पशु-पक्षियों के अनुकरण और अन्य पदार्थों के अनुकरण पर बने हैं, उनकी संख्या बहुत कम है। कोई कह सकता है कि संस्कृत आदि सब से पुरानी भाषाएँ जिस अवस्था में हमको मिलती हैं वह हज़ारों वर्ष की विकसित अवस्था है, इस कारण यह तर्क पुष्ट प्रमाण नहीं। इस संदेह में कुछ तथ्य है। परन्तु संसार की असभ्य और असंस्कृत जातियों की भाषाओं का भी विद्वानों ने अध्ययन किया है और तब भी इसी नतीजे पर पहुँचे हैं कि अनुकरणात्मक और अनुरणनात्मक शब्दों का अनुपात उन भाषाओं में भी बहुत थोड़ा है। अमरीका की, मैकेंज़ी नदी के किनारे बसी हुई असभ्य जाति अथबस्कन की भाषा में तो ऐसे शब्दों का नितान्त अभाव पाया गया है। दूसरी बात यह है कि क्या जब पशु-पक्षियों को प्रकृति ने ध्वनियों के उच्चारण करने की शक्ति प्रदान की थी तो आदिम मनुष्य को कोई भी शक्ति प्राप्त न थी? क्या वह स्वयं दृश्यों और वस्तुओं को देखकर कुछ शोर न कर सकता था? जब उसे भी यह शक्ति प्राप्त थी तब वह भाषा के सृजन के लिए दूसरों का ही सहारा क्यों लेता?

दूसरे मत की समीक्षा से ही तीसरा मत निकल आया। प्रकृति के जीवों का अवलोकन करते समय हम देखते हैं कि उन के भावों और आवेशों के ही समय विशेष रूप से ध्वनियाँ निकलती हैं। पक्षी आनंदोल्लास, भय, भूख आदि के ही समय शोर मचाते हैं अन्यथा चुप रहते हैं।

गाय का बच्चा भी कुदक्की मारते समय, भूख से या माँ को देख कर उल्लास से *अम्माँ-अम्माँ* करता है। गायें, भैंसें बहुधा मैथुन की प्रबल अदम्य आकांक्षा होने पर रँभाती हैं। श्री वैशाखनंदनजी भी पीछे नज़र घुमाकर और यह ज्ञान प्राप्त कर कि इतनी भारी जगह की घास हमने साफ़ कर दी, आनंदातिरेक से रेंकने लगते हैं। इसी प्रकार, तृतीय मत को पेश करने वाले विद्वानों के अनुसार आरंभ में मनुष्य में भी इसी प्रकार भाव प्रकट करने की शक्ति थी और विस्मयादिबोधक शब्द इसी शक्ति के परिणाम हैं। इन विद्वानों का कहना है कि प्रारंभ में मनुष्य इन्हीं का उच्चारण कर सकता था और धीरे-धीरे इसी प्रकार की उच्चारित ध्वनियों का उन आवेशों और भावों से अलग भी उच्चारण करने की उसे शक्ति प्राप्त हो गई। जैसे कि हम देखते हैं कि प्रारंभ में बच्चा जो सोचता है उसे अकेला बैठा हुआ भी शब्द में प्रकट करता जाता है, पर धीरे-धीरे वह विचार और ध्वनि को अलग करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है, ठीक उसी प्रकार आदिम मनुष्य-समुदाय की शक्ति का विकास हुआ होगा। उदाहरण के लिए *छिः छिः, धत्, हुश, हला,* आदि अथवा अँगरेज़ी के *फ़ाइ, बाश,* आदि शब्द पेश किये जाते हैं। मज़दूर जब बोझा उठाता हुआ थका रहता है तब उसके मुँह से अनायास *हे, हो* आदि शब्द निकल पड़ते हैं और इसी से उठाने के अर्थ की अँगरेज़ी धातु हीव् की उत्पत्ति बताई जाती है। इसी प्रकार तिरस्कार-सूचक *फ़ाइ* शब्द से तिरस्कारपूर्ण काम करने वाले फ़िएंड (शैतान) शब्द का संबंध जोड़ा जाता है।

दूसरे मत को काटने के लिए यह मत उपकारक साबित हुआ। पर स्वयं यह मत भी पूरे तौर से संतोषजनक नहीं है। पहली बात यह है कि विस्मयादि-बोधक अव्यय भाषा के मुख्य अंग नहीं और किसी भी भाषा में उनकी संख्या बहुत परिमित है। वे वाक्य के अंदर तो आते ही नहीं उनका अस्तित्व अलग ही है। दूसरे, यह बात भी कि ये अव्यय सदा और सर्वत्र मनोराग, आवेश आदि के द्योतक हैं ठीक नहीं जँचती, क्योंकि कहीं और कभी कोई अव्यय प्रयोग में आते हैं और दूसरे देशकाल में अन्य।

तब भी दूसरे और तीसरे मत के अनुसार भाषा के थोड़े से (परन्तु बहुत थोड़े से) शब्दों की उत्पत्ति समझ में आ जाती है। शेष के विषय में वे केवल असंतोषजनक वाद की सत्ता पर स्थित रहते हैं।

फिर इस जटिल समस्या का क्या हल है ? अल्पज्ञानी मनुष्य के ज्ञान की वर्त्तमान स्थिति में इस समस्या का हल नहीं सूझता। इसी कारण पिछली पीढ़ी के भाषा-वैज्ञानिकों ने इस प्रश्न को उठाया तो, पर टाल दिया था और यह कहा था कि इससे हमें सरोकार नहीं; हम तो जैसी भाषा पाते हैं उसका अध्ययन करते हैं और उसके मूलतत्त्वों तक पहुँचने की कोशिश करते हैं, भाषा की उत्पत्ति का विषय तो दर्शन के क्षेत्र में आता है। पर आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक यह नहीं कहता। वह स्वीकार करता है कि भाषा की मूल उत्पत्ति का पता लगाना उसी का कर्तव्य है। वह प्रयत्नशील है—असभ्य और बर्बर जातियों की तथा बच्चों की बोलियों का अध्ययन करता है, दूर-दूर की भाषाओं की परस्पर तुलना करता है और भाषा के मूल आधार पर पहुँचने का उद्योग करता है। वह हिम्मत नहीं हारता।

भाषा और विचार का अटूट संबंध है। मनुष्य के मस्तिष्क में जब विचार उठे होंगे तभी भाषा भी आई होगी। पाणिनीय शिक्षा में कहा है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥

अर्थात् आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों को समझ कर मन को बोलने की इच्छा से प्रेरित करती है। मन शरीर की अग्नि (शक्ति) पर ज़ोर डालता है और वह वायु को प्रेरित करती है (इस प्रकार शब्द निकलता है)। आदि काल में यदि भिन्न-भिन्न स्थानों पर मनुष्य का विकास हुआ होगा तो संभव है कि भिन्न-भिन्न भाषाएँ प्रारंभ से ही उपस्थित हुई हों। यदि एक ही स्थान पर सुसंगठित मनुष्य-समुदाय का आविर्भाव हुआ होगा, तो प्रारंभ में एक ही भाषा रही होगी और कालान्तर में उसमें विभिन्नता आई होगी।

मनुष्य को विचार करने की शक्ति कब मिली? इस प्रश्न का उत्तर मनोवैज्ञानिक नहीं दे पाते।

भाषा और विचार के आविर्भाव का प्रश्न मनुष्य-समाज के विकास की समस्या के साथ अनिवार्य रूप से उलझा हुआ है, और जब तक विकासवाद के उपस्थापक डार्विन आदि विद्वानों के खोए हुए पूर्वजों का पता नहीं चलता और विकासवाद की श्रृंखला की टूटी हुई कड़ी नहीं मिलती तब तक भाषा-वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक, भाषा और विचार के आदि स्रोत तक पहुँचने में नितांत असमर्थ हैं और रहेंगे। धर्म पर श्रद्धा रखने वाले को यह माया नहीं व्यापती, क्योंकि उसके सिद्धान्त हैं "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" और "संतोषः परमं सुखम्।"

सातवाँ अध्याय

भाषाविज्ञान तथा अन्य विज्ञान

ऊपर हम देख चुके हैं कि मनुष्य के विचारात्मक ज्ञान से भाषा का घनिष्ठ संबंध है—भाषा विचार का वाह्य स्वरूप है और विचार भाषा का मानसिक स्वरूप, ऐसा भी कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं। ऐसी दशा में भाषा-विज्ञान का मनुष्य के ज्ञान की अन्य शाखाओं से गहरा संबंध है।

भाषाविज्ञान का अटूट संबंध *मनोविज्ञान* से है। मनुष्य के सभी कार्य उसकी अदम्य इच्छा से प्रेरित होते हैं, भाषा भी। यह इच्छा कैसे उठती है इस प्रश्न का उत्तर मनोविज्ञान ही दे सकता है। फिर मन में विचार कैसे उठते हैं, मस्तिष्क में कैसे संग्रहीत रहते हैं, एक शब्द के कई अर्थ रहते हुए भी किसी समय एक विशिष्ट अर्थ ही क्यों उद्बोधित होता है, शब्दों के अर्थ में परिवर्तन किस प्रकार होते हैं, इन सब प्रश्नों का उत्तर भाषाविज्ञान मनोविज्ञान का सहारा लिए बिना देने में असमर्थ है। हम देखते हैं कि कोई-कोई मनुष्य बोली के सभी अवयवों के सही रहते हुए भी तुतलाते हैं, रुक रुक कर बोलते हैं, इस दोष का हेतु मनोविज्ञान ही बता सकता है। इसी तरह भाषा में जो परिवर्तन एक पीढ़ी से दूसरी तीसरी पीढ़ी तक आते-आते हो जाते हैं उनका मुख्य रूप से मनोविज्ञान से ही कारण मालूम हो सकता है। इस प्रकार भाषाविज्ञान मनोविज्ञान का ऋणी है परन्तु बदले में मनोविज्ञान भी भाषाविज्ञान का ऋणी है। उसे भी विचारों के विश्लेषण, अनुभव की संपूर्णता, अपूर्णता आदि के अध्ययन में भाषाविज्ञान का सहारा लेना पड़ता है।

भाषाविज्ञान का *तर्कशास्त्र* से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है यद्यपि शब्दों का अर्थ व्यक्तित्व से सामान्यता को कैसे पहुँचता है तथा सामान्य

अर्थबोधक शब्द किसी व्यक्ति का द्योतक किस तरह हो सकता है इसके अध्ययन में तर्कशास्त्र से कुछ सहायता मिलती है। पर साधारण रीति से भाषा तर्क के अनुसार नहीं चलती और प्राणी और अप्राणी, स्वेदज, अंडज, उद्भिज्ज आदि शब्द जिनमें तर्कशास्त्र का प्रत्यक्ष प्रभाव दीखता है, अनुसन्धानकर्ता के मस्तिष्क की उपज हैं, साधारण भाषा के नहीं।

(3) भाषाविज्ञान का *समाजशास्त्र* से भी गहरा संबंध है। भाषा विचार-विनिमय का साधन है, यह विचार-विनिमय मनुष्य-समाज में ही होता है, समाज ही अपने समुदाय के व्यक्ति पर भाषा थोपता है, व्यक्ति को जैसी है वैसी ही स्वीकार करनी पड़ती है, वह चीं-चपड़ नहीं कर सकता, उसमें अपनी इच्छा के अनुकूल, बिना दूसरे व्यक्तियों की सम्मति के, कोई विकार भी प्रविष्ट नहीं कर सकता। समाजशास्त्र के अध्ययन से ही भाषाविज्ञान के विद्यार्थी को उन अवस्थाओं का पता चलता है जिनमें भाषा का विकास होता है। समाजशास्त्र के किन प्रभावों द्वारा भारतीय स्त्री अपने पति के नाम का उच्चारण नहीं कर सकती, किन प्रभावों द्वारा साँप को कीड़ा और लाश को मिट्टी कहते हैं, क्यों गाय बियाती है स्त्री नहीं; क्यों पाख़ाना (वस्तुतः पैर रखने की जगह) कहा जाता है और उस क्रिया का नाम नहीं लिया जाता जो इस स्थान पर की जाती है, इन सब बातों का उत्तर समाजशास्त्र के सूक्ष्म अध्ययन से ही मिल सकता है। इसी प्रकार किसी विशेष समाज की अवस्था का अध्ययन भी इतिहासिक या तुलनात्मक भाषाविज्ञान द्वारा सहारा पाता है। अवेस्ता की ईरानी भाषा में आँख, कान आदि क़रीब बीस अर्थों के बोधक दो-दो शब्द हैं—एक शुभ और दूसरा अशुभ। इनके रखने की उस समाज में क्यों ज़रूरत पड़ी? ईरान में दैव (देव) शब्द अशुभ और संस्कृत में उसका विपरीत क्यों है? वैदिक सूक्तों में असुर शब्द कहीं देवता-वाचक और कहीं राक्षस-वाचक क्यों है? संस्कृत में यक्ष शब्द अच्छे अर्थ में और पालि में बुरे अर्थ में क्यों प्रयोग में आया है? *अशोक महाराज* ने *देवानां प्रियः* इस वचन का अपने लिए सर्वत्र लेखों

में प्रयोग किया है और उनके बाद वाले संस्कृत के ग्रन्थों में इसका अर्थ है मूर्ख। क्यों? अशोक के लेखों में *पाखंडी* शब्द धर्मावलम्बी के अर्थ में आया है और आज उस शब्द का क्या अर्थ है? अपनी भाषा में जो शब्द *पिल्ला* कुत्ते के बच्चे के अर्थ में अर्थ-संकोच से रूढ़ है वही द्राविड़ भाषाओं में मनुष्य, जानवरों, पक्षियों आदि के बच्चे बच्ची के अर्थ में आता है। इन सबसे विशेष देश और काल के समाज की मनोवृत्ति और अवस्थाओं का पता लग जाता है।

भाषाविज्ञान को मनुष्य के **शरीर-विज्ञान** का भी सहारा लेना पड़ता है। भाषा मनुष्य के शरीर से निकलती है। ज्ञानतंतु मस्तिष्क से मुख, नासिका, जिह्वा, तालु आदि अवयवों को प्रेरित करते हैं। ध्वनि के अध्ययन के तीन भाग हैं---ध्वनि का निर्माण, उसका दूसरे के प्रति वहन और उसकी दूसरे द्वारा प्राप्ति। ध्वनि किस प्रकार बनती है, किस प्रकार अंदर से आती हुई प्राणवायु स्वरयंत्र, अलिजिह्व, तालु, दाँत, ओठ, नाक आदि में स्थान पाकर और उसके कारण ध्वनि की विशेषता को प्राप्त होती है यह मनुष्य के वाचिक अवयवों के अध्ययन से ही जाना जा सकता है। फिर यह ध्वनियाँ किस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण की जाती हैं और उस इन्द्रिय की गठन क्या है यह भी शरीर-विज्ञान के अध्ययन से ही मालूम किया जा सकता है। आधुनिक काल में लिखित भाषा का व्यवहार बहुत विस्तृत है। नेत्रेन्द्रिय किस तरह लेख को ग्रहण करती है और किस प्रकार अनुच्चारित शब्द को मस्तिष्क तक पहुँचाती है यह भी नेत्रेन्द्रिय और ज्ञानतंतुओं के अध्ययन से ही समझ में आ सकता है। सारांश यह कि भाषाविज्ञान की ध्वनि के अध्ययन के लिए शरीर-विज्ञान के अध्ययन की ज़रूरत पड़ती है।

ध्वनि किस प्रकार मुँह से निकल कर दूसरे आदमी के कान तक पहुँचती है यह बात हमें *भूत-विज्ञान* बतलाता है। शब्द आकाश में लहरें मारता है या वायु में, भाषा की ध्वनियों में और अन्य ध्वनियों में क्या अंतर है ये सब बातें भूत-विज्ञान के ही अध्ययन से मालूम होती हैं। और आजकल तो प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान ने भूत-विज्ञान की कार्य-

शैली का अनुकरण करके और उसकी सामग्री को उपयोग में लाकर ध्वनि के मूलतत्त्वों की प्राप्ति में यथेष्ट सफलता पा ली है।

भाषाविज्ञान का इतिहास से भी संबंध है—राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि सभी इतिहास से। भारतीय भाषाओं में प्रचुर मात्रा में अरबी, फ़ारसी और तुर्की आदि शब्दों का अस्तित्व हमारी, पिछले आठ-नौ सौ साल की ग़ुलामी का परिचायक है। पंजाब और उत्तरप्रदेश की हिन्दी-उर्दू समस्या पिछले दो-तीन सौ वर्ष की राजनीतिक विषमता की उपज है। बंगाली और मराठी आदि भाषाओं में प्रचलित ब्रज-शब्द ब्रजमण्डल के वैष्णवधर्म के देशव्यापी प्रभाव के द्योतक हैं। इसी प्रकार प्राचीन आर्य भाषाओं में *'विधवा'* शब्द का अस्तित्व, तथा जिसकी पत्नी का देहान्त हो चुका हो उस अभागे के लिए किसी विशेष शब्द का अभाव, संभवतः इस बात का सूचक है कि प्राचीन आर्यों के समाज में पत्नी के देहान्त पर अपना विवाह कर लेने का अधिकार पुरुष ने अक्षुण्ण रक्खा था और वही समान अधिकार स्त्री को नहीं दे रक्खा था। प्राकृत भाषाओं के काल के पूर्व माँ की बहिन (मातृष्वसा) और बाप की बहिन (पितृष्वसा) के लिए अलग-अलग शब्द थे पर मौसा और फूफा के लिए नहीं, यद्यपि लड़की के पति (जामातृ) के लिए विशिष्ट शब्द था। इससे स्पष्ट है कि कुटुम्ब में मौसा और फूफा का कोई स्थान नहीं था। भाषा का ऐतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययन इतिहास के उन अंशों पर जिन पर पर्दा पड़ा हुआ है, प्रकाश डाल सकता है। इस तरह भाषा-विज्ञान द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अन्य इतिहासिक सामग्री के अभाव में अमूल्य होता है।

भाषाविज्ञान की मदद से प्रागैतिहासिक काल के बारे में भी कुछ न कुछ ज्ञान मिल जाता है, उदाहरणार्थ प्राचीनतम आर्यों के विषय में प्राचीन आर्य भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से बड़ी रोचक सामग्री प्राप्त होती है। ये परिवार बना कर रहते थे—जिसमें माँ-बाप, भाई, बहिन, लड़की आदि होते थे तथा स्त्री विवाह के अनंतर पति के परिवार में आकर शामिल हो जाती थी। पशुपालन मुख्य व्यवसाय था—विशेष

कर गाय और घोड़े का। संभवतः नगर बना कर नहीं रहते थे और कृषि भी बहुत नहीं जानते थे। कई वृक्षों से परिचय था तथा कई प्रकार के पशु-पक्षियों से। सौ तक के गिनती के शब्द थे, हज़ार का नहीं। ईश्वर के लिए कोई एक शब्द नहीं मालूम होता—शायद *द्यौः पिता* बाद को बना। इनका आदि निवासस्थान कहाँ था इसका शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं प्राप्त होता, अनुमान कई वाद उपस्थित करता है—(क) उत्तरपूर्वी यूरुप, (ख) मध्य एशिया, (ग) उत्तरी ध्रुवप्रदेश तथा (घ) सप्तसिंधु का देश।

भाषाविज्ञान के अध्ययन में भूगोल से भी मदद मिलती है। पहाड़ मरुभूमि, सागर आदि भाषा के प्रसार में कैसी कठिनाइयाँ उपस्थित करते हैं, किन्हीं प्रदेशों में बोलियों की संख्या अधिक क्यों हो जाती है किन्हीं में कम क्यों—इत्यादि प्रश्नों पर तत्संबंधी भूगोल के अध्ययन से यथेष्ट प्रकाश पड़ सकता है। स्थानों, नदियों आदि के नामों के इतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन से भूगोल-संबंधी रोचक सामग्री उपस्थित हो सकती है जो ऐतिहासिक भूगोल के काम की चीज़ है।

भाषाविज्ञान तथा *नृतत्वज्ञान* का भी गहरा संबंध है। आदिम मनुष्य की अवस्था तथा उसके विकास की सीढ़ियों को समझने से भाषा की उत्पत्ति की जटिल समस्या पर प्रकाश पड़ता है। जातीय सम्मिश्रण का भाषा पर प्रभाव पड़ता है अथवा नहीं, विभिन्न जातियाँ क्या एक भाषा का प्रयोग कर सकती हैं, जाति तथा भाषा का कोई अन्योन्याश्रय संबंध है या नहीं, इन तथा इस प्रकार के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को सुलझाने में नृतत्वज्ञान भाषाविज्ञान की सहायता करता है। आदिम तथा बर्बर जातियों की बोली के सम्यक् अध्ययन में भी नृतत्वज्ञान की सहायता अपेक्षित होती है।

भाषा और **वाङ्मय** का भी संबंध है। वाङ्मय द्वारा हमें प्राचीन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त होता है जिससे भाषा के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन में सहायता मिलती है। वैदिक वाङ्मय मौखिक

परंपरा से, और भारतीय प्राचीन पंडितों के पदपाठ, संहितापाठ, घनपाठ आदि कृत्रिम किंतु बहूपकारक साधनों द्वारा सुरक्षित रहा, और आज बड़े काम की चीज़ है। प्राचीन गाथाएँ, प्रायः पद्यबद्ध, धर्म-संबंधी अथवा वीरपूजा-संबंधी भी प्राचीनकाल से ही मौखिकरूप से सुरक्षित रहती आई हैं, और भाषा के अध्ययन के लिए बहुमूल्य साबित हुई हैं। जब से मनुष्य को लेखन-कला का सहारा मिल गया तब से तो वाङ्मय को सुरक्षित रखने में बड़ी आसानी हो गई। भाषाविज्ञान के लिए यही बहुमूल्य सामग्री है, इस वाङ्मय के बिना भाषाविज्ञान की टाँग टूटी रहती। लेख से जहाँ इतना सहारा मिलता है वहाँ कभी-कभी भाषा के शब्दों में भ्रांति भी उपस्थित हो जाती है—हम बोलते हैं *सिंघ्, भूक्, हात्* पर लिखते हैं *सिंह, भूख* और *हाथ*। जहाँ पानी का *बरसना* सरल मार्ग से आया है वहाँ *बर्खा* (वर्षा) संस्कृत के पंडित के मुख से निकली है। यह संभव नहीं कि लेख ध्वनियों को बिल्कुल यथातथ्य रूप में उपस्थित कर सके पर तब भी उसमें उच्चारण का एक व्यावहारिक प्रतिबिम्ब तो आवश्यक है ही। वाङ्मय का अस्तित्व भाषा के विकास के अस्तित्व की रोक-थाम नहीं कर सकता, हाँ यदि पढ़ने-लिखने की मात्रा मनुष्य-समुदाय में बढ़ जाती है और सब जगह फैल जाती है तो लेख का प्रभाव भाषा के विकास पर पड़े बिना नहीं रहता।

भाषाविज्ञान का *व्याकरण* (भाषाशास्त्र) से केवल इतना संबंध है कि व्याकरण किसी भाषा की ध्वनियों और शब्द-रूपों का यथातथ्य सामान इकट्ठा करके दे देता है और उसका उपयोग भाषाविज्ञान कर लेता है। इसके अलावा और कुछ नहीं। जैसे किसी व्याकरण का ज्ञान उस भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उपादेय है उसी प्रकार कई भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण तत्सम्बन्धी तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के लिए।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भाषा के विज्ञान का संबंध मनुष्य के सभी इतर ज्ञान से है और यह ठीक भी है, क्योंकि दर्शनकार बताते

ही हैं कि ज्ञान अखंड, अनंत तथा एक है—*सत्यं ज्ञानमखंडं ब्रह्म एकमेवाद्वितीयं*।

भाषा वाक्यों का समूह है। विज्ञान की दृष्टि से हम लोग वाक्य ही बोलते हैं, ये वाक्य प्रायः पाँच-छः शब्दों से अधिक के नहीं रहते। लम्बे-लम्बे वाक्य जो हमें साहित्यिक भाषा में मिलते हैं स्वाभाविक नहीं, कृत्रिम हैं। कभी-कभी वाक्य में एक ही दो शब्द रहते हैं। ऐसे वाक्यों के बाक़ी के शब्द अपेक्षित होते हैं और उच्चारण के बिना ही सुनने वाला उन्हें समझ जाता है। इस प्रकार वाक्य स्वतः पूर्ण होता है। वाक्य शब्दों से बनता है, यद्यपि इन शब्दों का अस्तित्व और पार्थक्य, विज्ञान की दृष्टि में, उतना प्रमाणित नहीं जितना वाक्य का। प्रत्येक वाक्य के उपरांत मनुष्य क्षणमात्र के लिए रुकता है तब दूसरे वाक्य को प्रारम्भ करता है। परन्तु शब्दों के बारे में ऐसी कोई बात नहीं आती। उच्चारण में बहुधा हम अव्ययों को पूर्ववर्ती शब्दों से मिलाकर बोलते हैं और जहाँ संधि का प्रयोग अधिक हो वहाँ तो दो प्रधान शब्दों को भी मिला देते हैं, जैसे (१) *इन्द्रश्च वरुणश्च* (२) *इन्द्रश्चाग्निश्च* (३) *चोल्ले गया*, (४) *माड्डाला* (५) *पंडिज्जी*। इन सभी उदाहरणों में व्याकरण की दृष्टि से जितने शब्द हैं, उच्चारण की दृष्टि से उतने नहीं। प्रथम उदाहरण में व्याकरण चार शब्द बताता है, पर उच्चारण दो ही। कभी-कभी व्याकरण की दृष्टि से जिसे एक शब्द कहेंगे वह वाक्य में दो विभिन्न स्थानों में दो टुकड़े हो कर दिखाई देता है। वैदिक भाषा में उपसर्ग और क्रिया के बीच में बहुधा कई शब्द आ जाते हैं। फ्रेंच *न पा* एक शब्द है और उसका अर्थ है *नहीं* पर वाक्य में *न* आरम्भ की ओर, और *पा* अंत की ओर आता है, और बीच में अन्य शब्द। इस प्रकार शब्द का अस्तित्व नितांत असंदिग्ध नहीं है। इस प्रकरण पर आगे पुनः विचार करेंगे। परन्तु शब्द का कोई अस्तित्व उच्चारण में न भी झलके तो भी दिमाग़ में रहता ही है अन्यथा हम शब्द के रूप न बना सकते। वाक्य में प्रत्येक शब्द एक दूसरे की आकांक्षा रखता है। और सान्निध्य तो चाहिए ही। इस प्रकार का शब्द-समूह

अथवा वाक्य ध्वनियों का समूह होता है। भाषाविज्ञानी ध्वनियों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व मानते हैं। प्रत्येक वाक्य का अर्थ वाक्यार्थ तथा प्रत्येक शब्द का पदार्थ होता है। शब्द की अभिधा शक्ति से एक अर्थ हो, पर लक्षणा और व्यंजना से दूसरा ही तात्पर्य निकल सकता है, इस बात का बड़ा सुन्दर स्पष्टीकरण भारतीय भाषातत्वविदों ने सदियों पूर्व कर रक्खा है।

भाषा के इस प्रकार क्रमशः चार अंग हुए---वाक्य, पद, ध्वनि और अर्थ। और इन्हीं के अनुसार भाषाविज्ञान की भी चार शाखाएँ हैं---**वाक्यविज्ञान, पदविज्ञान, ध्वनिविज्ञान, और अर्थविज्ञान।**

वाक्यविज्ञान में वाक्यों का परस्पर संबंध, किसी वाक्य में पदों का परस्पर संबंध तथा उनका अपेक्षाकृत स्थान, पदों की परस्पर अपेक्षा, आकांक्षा और सान्निध्य आदि का विचार होता है। हिन्दी के वाक्य में पहले कर्त्ता, फिर कर्म और अन्त में क्रिया क्यों होती है और इतिहासिक दृष्टि से देखते हुए यह क्रम कब से आया है? अँगरेज़ी से तुलना करने पर वाक्यविज्ञान ही इस कुतूहल को शांत कर सकता है कि हिन्दी में कर्म बीच में और अँगरेज़ी में अंत में क्यों आता है। वाक्य विज्ञान शायद इस प्रकार के व्यावहारिक प्रश्नों का भी उत्तर दे कि हिन्दी के परसर्ग (विभक्तिसूचक अव्यय) संज्ञाओं के साथ मिला कर रखने चाहिए या अलग।

पदविज्ञान का कर्तव्य पदों का प्रत्येक दृष्टि से अध्ययन करना है। पद में अर्थसूचक कौन अंश है और संबंधसूचक कौन; धातु, प्रत्यय, उपसर्ग आदि का परस्पर क्या संबंध है; संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि में परस्पर क्या भेद है और क्यों उत्पन्न हुआ, व्याकरण द्वारा निर्धारित यह श्रेणी-विभाग कहाँ तक विज्ञान पर निर्भर है और कहाँ तक वैयाकरण की सुविधा पर; इत्यादि विविध प्रश्न जो पद के संबंध में उठते हैं उनका समाधान पदविज्ञान ही कर सकता है और पदविज्ञान भी भाषा की इतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से देखा जा सकता है।

ध्वनिविज्ञान द्वारा ध्वनियों का अध्ययन होता है। ध्वनियंत्र

का सिंहावलोकन, ध्वनियों का विश्लेषण, ध्वनियों के मात्रा, बलाघात, सुर आदि गुण, ध्वनिविकार, अक्षर का निर्माण इत्यादि प्रश्नों का विचार ध्वनिविज्ञान के ही अंतर्गत है।

अर्थविज्ञान अर्थ के विषय में पूर्ण रूप से विचार करता है। व्यक्ति-वाचक, भाववाचक, वस्तुवाचक आदि संज्ञाएँ किस प्रकार अर्थ ग्रहण करती हैं, कैसे धातु का कुछ अर्थ होता है किंतु पद का कुछ और ही, पद की ध्वनियों और अर्थ का परस्पर संबंध, अर्थ में परिवर्तन और इस परिवर्तन के कारण, इन सब बातों पर अर्थविज्ञान ही प्रकाश डालता है। किसी भाषा के अर्थ का अध्ययन ऐतिहासिक अथवा तुलनात्मक दृष्टि से भी हो सकता है।

इन चारों शाखाओं की सहायता लेकर व्युत्पत्ति का विज्ञान चलता है। किसी शब्द के मूल रूप और ऐतिहासिक दृष्टि से उसके विकास-क्रम की खोज करना व्युत्पत्ति के अंतर्गत आता है।

इन मुख्य शाखाओं के अतिरिक्त किसी भाषा के शब्दकोश को उठा कर अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से अध्ययन करना भी भाषा-विज्ञान के ही अंतर्गत समझना चाहिए। यही नहीं, किसी प्रदेश अथवा जाति के पुरों, ग्रामों और व्यक्तियों के नामों का अध्ययन भी उस प्रदेश अथवा जाति की संस्कृति आदि के बारे में बड़ी रोचक सामग्री उपस्थित करता है और सामान्य रूप से भाषाविज्ञान के अंतर्गत है।

कभी-कभी लोग पूछ बैठते हैं कि भाषाविज्ञान का अध्ययन क्यों करना चाहिए, इसका **उपयोग** ही क्या है? इस प्रश्न का सामान्य उत्तर यही है कि विज्ञान का उपयोग मनुष्य की, ज्ञान की नैसर्गिक पिपासा को सन्तोष देना है। जैसे दर्शन, भूतविज्ञान, इतिहास आदि के अध्ययन से हमें शांति मिलती है उसी प्रकार की शांति, भाषा-विषयक कौतूहल की तृप्ति, भाषाविज्ञान के अध्ययन के द्वारा प्राप्त होती है। नितांत व्यवहार की दृष्टि से भाषाविज्ञान के अध्ययन से भाषा का स्वरूप तथा पूर्ववर्ती भाषाओं का ज्ञान सुगमता से प्राप्त हो सकता है। भाषा-संबंधी जो जटिल समस्याएँ (पारिभाषिक शब्द, लिपि, राष्ट्रभाषा आदि

के बारे में) किसी देश और काल में उपस्थित होती हैं उनका सुलझाना जिस ख़ूबी से भाषाविज्ञान-विद् कर सकते हैं अन्य नहीं।

भाषाविज्ञान के अध्ययन का *अधिकारी* कौन है? प्रत्येक ऐसा समझदार व्यक्ति, जो भाषा-संबंधी उच्च ज्ञान की पिपासा रखता है इस विषय के अध्ययन का अधिकारी है। अध्ययन प्रारंभ करने के पूर्व यदि मनोविज्ञान और मनुष्य-शरीर के ऊपरी भाग की गठन का साधारण भी अध्ययन करके आदमी भाषाविज्ञान की ओर क़दम बढ़ाएगा तो उसे सुविधा होगी।

इस विज्ञान के मूलतत्वों का अध्ययन करते समय विद्यार्थी को उनकी परख अपनी मातृभाषा पर (अपने और निकटवर्ती जनों पर) घटित करके, करते रहना चाहिए और उदाहरण यथासंभव अपनी मातृभाषा से संगृहीत करने चाहिए। ध्वनियों के अध्ययन के समय कानों को सदा सतर्क रखना चाहिए और यथासंभव लिखित भाषा द्वारा उत्पादित भ्रमजाल से दूर ही रहना चाहिए। भाषा के मूलतत्वों को ग्रहण करके इतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन की ओर बढ़ा जा सकता है। इसका कुछ-कुछ आभास तो सामान्य सिद्धांतों के अध्ययन के समय भी उदाहरणों द्वारा उपस्थित हो जाता है।

आठवाँ अध्याय

भाषा का विकास

इस संसार की हर चीज़ परिवर्तनशील है। कुछ का परिवर्तन इतनी जल्दी-जल्दी होता है कि वह हमें प्रत्यक्ष जान पड़ता है, कुछ का बहुत धीरे-धीरे, इतने धीरे कि हमें मालूम नहीं पड़ता। मेज़ पर के फूलदान के फूल कितनी जल्दी कुम्हलाते हैं और फिर कितने शीघ्र उनकी पंखुड़ियाँ गिरने लगती हैं, इसका अनुभव साधारण मनुष्य को भी हो जाता है। पर मेज़ में भी परिवर्तन हो रहा है इसका अनुभव दो-चार महीने या दो-चार साल के अनुभव और इस्तेमाल से नहीं होता। बच्चा कितनी जल्दी-जल्दी बढ़ता है, उसके परिवर्तन का अनुभव आसानी से हो जाता है, पर जवान आदमी में भी परिवर्तन होता है, उसे सरलता से नहीं मालूम किया जाता। प्रतिक्षण प्रति ऐहिक वस्तु में परिवर्तन होता रहता है, कोई चीज़ स्थिर नहीं है। यही भारतीय क्षणिकवाद का अटल सिद्धांत है, जो *'इदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'* द्वारा प्रकट है। कवि की दृष्टि में यह परिवर्तन ही जीवन है। अस्तु।

भाषा भी परिवर्तनशील है। किसी भी भाषा को उदाहरण के लिये ले लें। प्रति अवयव में—क्या ध्वनि, क्या पद, क्या वाक्य-विन्यास और क्या अर्थ, सभी में परिवर्तन होता रहता है और इसका अंदाज़ किसी भी भाषा के सौ-दो सौ वर्ष पूर्व के रूप के साथ तुलना करने से लग सकता है। भाषा की देश काल के अनुसार जिस अनेक-रूपता का हमें अनुभव होता है वह भाषा की परिवर्तनशीलता की गवाही दे रहा है।

इस परिवर्तन को कोई उन्नति, कोई अवनति के नाम से पुकारते

हैं, कोई कहते हैं कि फ़लाँ रूप घिस कर ऐसा हो गया, कोई कहते हैं कि अमुक रूप ने बढ़ कर ऐसी शकल ग्रहण कर ली। इन सारे परिवर्तनों को **विकास** कहना चाहिए—*आदित्यवार* विकसित होकर *इतवार* हुआ और *एकादश ग्यारह*। इसी प्रकार *अलाबु* से *आलू* और *लौकी* का तथा *भक्त* से *भगत* का विकास हुआ। विकास में उन्नति और अवनति का सवाल नहीं उठता, वह अवश्यंभाविता का परिचायक है। भाषाविज्ञानी यह मानने को तय्यार नहीं कि आज जो भाषा एक समुदाय बोलता है वह दो पीढ़ी पूर्व या उपरांत बोली जाने वाली भाषा से अच्छी या बुरी है। अपने-अपने समय के लिये सभी अच्छी हैं। विकास में एक आशावादित्व छिपा हुआ है, जो अभाव में भी उपयोग की आशा रखता है। बीज अपने को धरती में खोकर ही सैकड़ों बीजों की सृष्टि करता है।

भाषा के परिवर्तन के कारण भाषा में ही मौजूद हैं। उसे हम परंपरा से सीखते हैं, इस कारण यह निश्चय ही है कि हम उसे ठीक वैसी ही नहीं ग्रहण कर पाते जैसी कि वह उनके पास है जिनसे हम सीखते हैं। भाषा अन्य मनुष्यों के संसर्ग से सीखी जाती है और प्रत्येक मनुष्य का संसर्ग भिन्न होता है। एक ही परिवार में कोई वकील है तो कोई अध्यापक, कोई व्यापारी। ये सभी अलग-अलग समुदायों में काम करते हैं, अलग-अलग के प्रभाव इन पर पड़ते हैं। परिवार में स्त्रियों की स्थिति बहुधा पुरुषों से भिन्न रहती है। इनको वाह्य संसर्ग का उतना मौक़ा नहीं रहता जितना पुरुषों को, इसीलिए इनकी बोली में परिवर्तन उतनी तेज़ी से नहीं होता जितनी से पुरुषों की बोली में। इस पर भी, सुसंगठित परिवार के व्यक्तियों की भाषा उतनी जल्दी परिवर्तन नहीं ग्रहण करती जितनी एक विश्रृंखल परिवार वालों की।

वैज्ञानिक रीति से देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि कोई दो व्यक्ति बिल्कुल एक तरह की भाषा नहीं बोल सकते। दो व्यक्तियों के बोलने के भेद को हम पहचान लेते हैं, पर उसे व्यक्त नहीं कर पाते। यदि ज़रा दूर पर हमारी नज़र से ओझल दो परिचित जन बोल रहे हों तो

हम उनकी आवाज़ से ही जान लेते हैं कि कौन बोल रहा हैं। पर कभी-कभी दो बहिनों की या दो भाइयों की या भाई-बहन की आवाज़ में भेद की मात्रा इतनी कम स्पष्ट होती है कि भ्रम हो जाता है। इस भेद का कारण व्यक्तियों के अभ्यास पर मुख्य रूप से और उनकी शारीरिक गठन पर आंशिक रूप से निर्भर है। हमारा उच्चारण-यंत्र इतना बढ़िया बना हुआ है कि हम सूक्ष्म भेद वाली अनेक ध्वनियों को बोल सकते हैं पर वे सुनने वाले को एक सी प्रतीत होंगी। कई तरह का क्, कई प्रकार का प्, बोला जा सकता है, जिसकी सूक्ष्मता की परख मनुष्य का कान अथवा कोई भी यंत्र नहीं कर सकता। एक ही मनुष्य ठीक एक ही स्थान और उतने ही प्रयत्न से एक ध्वनि का उच्चारण करता है, यह भी तो नहीं कहा जा सकता। फिर शब्द में स्थान के अनुसार भी किसी ध्वनि के स्वरूप में अंतर पड़ सकता है—*'काला'* का *अंतिम 'आ'* बिल्कुल उतनी ही मात्रा का नहीं है जितनी का पहले का। इस प्रकार व्यक्तियों की भाषा की विभिन्नता उच्चारण में रहती है। इसी तरह अर्थ-संबंधी विभिन्नता भी स्वाभाविक है क्योंकि अर्थ अनुभव-जन्य है और स्मृति और अनुभव के संयोग से बदलता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति की स्मृति और अनुभव दूसरे की स्मृति और अनुभव से भिन्न होते हैं।

इस प्रकार चाहे उच्चारण की परिस्थिति (भाषा के वाह्य स्वरूप) अथवा अर्थ की परिस्थिति (भाषा के आंतरिक स्वरूप) से देखा जाय, किन्हीं भी दो व्यक्तियों की भाषा यथार्थ रूप से समान नहीं होती। किंतु व्यक्तियों की यह भाषा-विभिन्नता वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ज्ञात होती है, व्यवहार में नहीं। व्यवहार में यह विभिन्नता उसी प्रकार समुदाय की भाषा में लय हो जाती है जिस प्रकार लहर में बूँद। एक समुदाय और दूसरे समुदाय में जब तक संसर्ग की प्रचुरता रहेगी, विभिन्नता कम होगी, पर उसमें ढिलाई पड़ते ही विभिन्नता को अपना प्रस्तार करने का अवकाश मिल जायगा।

सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि एक सुश्लिष्ट कुटुम्ब की भाषा

एकरूप होती है और इससे कम मात्रा में एकरूपता कई कुटुम्बों के सुसंगठित समुदाय--ग्राम--में होती है। गाँव में यदि जातियों के अनुसार मुहल्ले बसे हों, जैसा कि बहुधा होता है, तो विभिन्नता के मौक़े अधिक रहते हैं। कबरिए जुलाहे पास के गाँवों के मुल्ला-मौलवियों के संसर्ग से कुछ अधिक विदेशी शब्दों के (विशेष कर अपने दीन के संबंध के) इस्तेमाल के आदी हो जाते हैं। पूजा-व्रत में लीन पुजारी बाबा की बोली में ग़लत-सही कुछ संस्कृत के शब्द आ ही जायँगे और पट्टा, क़बूलियत, ख़सरा खे़तौनी में करामात करने वाले लेखपाल जी की बोलचाल में भी कुछ नागरिकता का आ जाना स्वाभाविक है। क़स्बे के स्कूल से पढ़ कर आये हुए विद्यार्थी भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन उपस्थित ही कर देंगे और कलकत्ता, बम्बई अथवा कानपुर में दस-पाँच साल मज़दूरी कर के बढ़िया कपड़े और गहने ख़रीद कर लाने वाला सफल आदमी भी गाँव में यदि दस-पाँच शब्दों का प्रवेश करा दे तो कोई अचरज नहीं। और यदि दूर के गाँवों से बहुत-सी बहुएँ ब्याह कर आ जाएँ तो भी कुछ नए शब्दों के समावेश की संभावना है। साधारण रीति से बहुएँ बहुत जल्दी ससुराल की बोली बोलने लगती हैं और मायके की भूल जाती हैं। उनको केवल सास-ससुर, जेठ-जेठानी की डाट का ही डर नहीं रहता बल्कि अपने पति और देवर-देवरानियों के हँसी-मजाक का भी भय रहता है। इसलिए *निकरब* के स्थान पर *निसरब* अथवा *ईख* के स्थान पर *ऊख* का उच्चारण विषम वातावरण में नहीं ठहर पाता। पर जहाँ परिवार का इतना अंकुश नहीं है वहाँ नए शब्द प्रवेश कर ही जाते हैं। इस तरह संसर्ग अपने प्रभाव के चमत्कार अनेक (और कभी-कभी दुर्ज्ञेय) प्रकार से दिखाया करता है।

सवाल होता है कि परिवर्तन के इतने ठोस हेतुओं के अस्तित्व में, परिवर्तन अधिक तीव्र गति से क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यही है कि भाषा के प्रयोजन में ही परिवर्तन की गति की बाधा मौजूद है। भाषा का प्रयोजन मनुष्य के विचारों को परस्पर व्यक्त करना है। इस व्यक्तीकरण में जो बाधाएँ उच्चारण-संबंधी और अर्थ-संबंधी, उपस्थित

होंगी, उनके विरुद्ध मनुष्य-समुदाय झुँझलाएगा। जितनी अनायास आ जाएँगी उन्हें वह सह लेगा। भाषा के समझने में जो विषमता उपस्थित होगी उसके विरुद्ध समुदाय खड़ा होगा। यदि बच्चा *ले पाना* के वज़न पर *पा पाना* कहेगा, तो उसके माँ-बाप तुरन्त उसे समझा देंगे कि 'पाना' धातु के साथ दूसरा *पाना, सकने* के अर्थ में प्रयोग में नहीं आता इसलिए *पा सकना* कहो, चाहे कारण बताएँ या न बताएँ पर प्रयोग की शुद्धि-अशुद्धि का ज्ञान उसे करा ही देंगे। इसी प्रकार यदि विद्यार्थी ने *कर्* धातु से *करा* रूप बनाया और उसे अपने लेख में लिखा तो गुरूजी *करा* को काट कर *किया* लिख देंगे। अथवा बालक जब *घली* और *छात* कहेगा तब उसके बड़े भाई और बहिन मुस्कुराएँगे, दो-एक बार उसे चिढ़ाएँगे भी और वह घोर प्रयत्न करके थोड़े ही दिनों में *घड़ी* और *सात* कहने लगेगा। उच्चारण और अर्थ दोनों में, परिवर्तन अपने आप अनजान में होता रहता है, जान में भी ऐसा परिवर्तन जो तुच्छ है सहा जा सकता है। पर घोर परिवर्तन बहुत कम होता है और जब होता भी है तब समुदाय जब उसे अंगीकार कर लेने को तैयार ही रहता है तभी होता है। *असुर* शब्द के अर्थ का *देवता* से *राक्षस* में परिवर्तित हो जाना आर्य जाति को किसी बड़ी ठेस के लगने का द्योतक है। इसी प्रकार *देवानां प्रियः* का अर्थ मूर्ख हो जाना पंडितवर्ग के बौद्धमत और उसके महापुरुषों के प्रति द्वेष का ही सूचक हो सकता है। अँगरेज़ों को भारत के 'न्यायप्रिय शासक' के स्थान से देश को ग़ुलामी में जकड़े रखने वाली 'बेईमान जाति' की हीनता पर ला पटकने वाली भारतीय मनोवृत्ति भी तो मनोवृत्ति के धीरे-धीरे और फिर किसी महापुरुष की प्रेरणा से झटके के साथ ज़ोर से बदल जाने का ही तो उदाहरण थी जो स्वराज-प्राप्ति के बाद बदल रही है।

क्या परिवर्तन तुच्छ हैं और क्या महत्त्व के, इसका निर्णय हर भाषा अथवा उसे बोलने वाला समुदाय स्वयं करता रहता है। बंगाली और नेपाली भाषाओं में स्वरों की मात्रा में व्यतिक्रम होने से उतना भ्रम नहीं होता, इसलिए वहाँ वह सह्य है परन्तु हिन्दी में उसका महत्व

है (नहीं तो *कटना काटना; मरना मारना* में अंतर न रहे), इसलिए व्यतिक्रम नहीं आने पाता। जर्मन भाषा में अंतिम व्यंजन सघोष हो अथवा अघोष इससे विशेष अंतर नहीं पड़ता, इसलिए द् लिख कर भी *त्* बोल सकते हैं (और *गुद्* को *गुत्* कह सकते हैं) पर अँगरेज़ी में ऐसा नहीं करने पाते क्योंकि ढेरों ऐसे शब्द हैं जहाँ इस अंतर के न रखने से घपला हो जाय (और इसीलिए *किट्-किड्, कैप्-कैब्, रिप्-रिब्* में उच्चारण का भेद रक्खा जाता है)।

इस प्रकार भाषा के विकास में परिवर्तन कुछ अंश में होता रहता है और कुछ में नहीं। सृष्टि के ऋत (गति के नियम) और सत्य (स्थिति के नियम) सदा ही काम किया करते हैं और इस जगती के जगत् का एक उदाहरण भाषा इन नियमों के चक्र के बाहर नहीं जा सकती। काल-भेद से एक ही भाषा को अवस्थाओं के अनुसार हम अनेक नाम देते आए हैं पर वह धारा एक ही है। एक ही धारा कहीं भागीरथी, कहीं गंगा तो कहीं हुगली हो जाती है। दर्शनकारों ने सवाल उठाया था कि साल भर का बच्चा जब विकसित होता होता दस साल का हो जाता है तब वह वही रहता है या दूसरा हो जाता है? उत्तर मिला था कि न हम यही कह सकते हैं कि वही है और न यही कह सकते हैं कि अन्य है। वह वही भी है और नहीं है, और अन्य भी है और नहीं है। दार्शनिक ढंग से यही उत्तर भाषा के बारे में भी दिया जा सकता है।

नवाँ अध्याय

विकास का मूल कारण

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि संसार की प्रत्येक अन्य वस्तु की तरह भाषा का भी निरंतर विकास होता रहता है, यह विकास ही सृष्टि के हर पदार्थ का नियम है। यह विकास गति और स्थिति के विचित्र संमिश्रण के रूप में प्रगट होता है। भाषा-विज्ञानियों ने इस विकास के मूल कारण को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है और इस संबंध में विविध विद्वानों के विविध मत हैं। सामान्य रूप से चार वाद उपस्थित किए जाते हैं।

पहला वाद

शारीरिक विभिन्नता--प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य से शरीर के संस्थान की दृष्टि से भिन्न है, उसके उच्चारण के अवययों की नाप तथा उसके मस्तिष्क की गुरुता दूसरे के अयवयों और मस्तिष्क से भिन्न है। जो शरीर विशालकाय जर्मन का है वह जापानी का नहीं, और जो मस्तिष्क आर्य ब्राह्मण के कंधे के ऊपर स्थित है वह पंचम जाति के अछूत का नहीं। इसी प्रकार इससे कम मात्रा में विभिन्नता एक ही जाति अथवा देश के विभिन्न व्यक्तियों में पाई जाती है। परमेश्वर ने कोई दो व्यक्ति समान नहीं बनाए।

शरीर-भेद के कारण भाषा-भेद होता है, यह वाद परीक्षा करने पर युक्ति-संगत नहीं जँचता। हमारे रोज़ के अनुभव की बात है कि एक ही समुदाय में बड़े क़द के भी आदमी होते हैं और छोटे भी, मोटे भी और दुबले-पतले भी, बड़े सिर वाले भी और छोटे सिर वाले भी, लंबे सिर वाले भी और गोल सिर वाले भी, पर इनके कारण समुदाय की भाषा में विभिन्नता नहीं आती। इसी बात को और संकुचित और सुश्लिष्ट

क्षेत्र (परिवार) में जाँचें तो वहाँ भी यही परिणाम पाएँगे। संसर्ग का भेद न होने पर, कन्नौज के ब्राह्मण से अपनी उत्पत्ति बताने वाला बंगाली ब्राह्मण और सीधे हज़रत मुहम्मद के ख़ानदान से सिलसिला जोड़ने वाला बंगाली मुसलमान बंगाल के किसी गाँव में पैदा होकर और जन्म बिता कर एक ही बोली बोलते दिखाई देते हैं। जो महाराष्ट्र के ब्राह्मण कुमायूँ में जाकर दो सौ वर्ष पहले बस गए थे उनके वंशज उतनी ही शुद्ध कुमाऊँनी बोलते हैं जितनी कि वहाँ बहुत पहले से रहने वाली क्षत्रिय अथवा डोम की सन्तान। गढ़वाल में कई पीढ़ी पूर्व आकर बसा हुआ चीनी परिवार उतनी ही सुन्दर गढ़वाली का प्रयोग करता है जितनी कि कोई अन्य गढ़वाली। कोई-कोई हिन्दुस्तानी परिवार विलायत में जाकर बस गए हैं और उनके बच्चे वहाँ शुद्ध अँगरेजी बोलते हैं। इसी प्रकार कोई कोई हिन्दुस्तानी अँगरेजी मेमें ब्याह कर ले आते हैं। इनके बच्चे भाषा की दृष्टि से पूर्णरूप से परिवार में खप जाते हैं। फिर शारीरिक भेद पर भाषा-भेद की निर्भरता कहाँ रही ?

दूसरा वाद

भूगोलिक विभिन्नता—कुछ विद्वानों का मत है कि भूगोलिक परिस्थिति के अनुसार भाषा में विभिन्नता आ जाती है। पहाड़ आदि ठंडे प्रदेशों के निवासी जाड़े के कारण उतना मुँह नहीं खोल सकते जितना कि मैदान वाले रेगिस्तान वाले मुँह ढके रहते हैं। इन कारणों से एक प्रकार की भूगोलिक स्थिति वाले प्रदेश की भाषा दूसरे प्रदेश की भाषा से भिन्न होती है। यही भाषा-विभेद का कारण है।

यह वाद भी तर्क-कसौटी पर खरा नहीं उतरता। एक बार जब भाषा प्रवाह में आ गई तो भूगोलिक परिस्थिति उसके बनाने या बिगाड़ने में सहायक या बाधक नहीं होती। और जो युक्ति इस वाद के पक्ष में दी जाती है वही इसके विपरीत बैठ सकती है। पहाड़ों और रेगिस्तानों के निवासी जलवायु की असुविधा के कारण ही तो ज्यादा मजबूत होते हैं, कठिन परिश्रम के आदी होते हैं, फिर उन्हें मुँह खोल कर

स्पष्ट उच्चारण करने में क्या दिक्क़त होनी चाहिए? और मैदानों के आदमी सुगम जलवायु के कारण शिथिल भी रहते हैं। ज़रूरी न होने के कारण कठिन मेहनत भी नहीं कर पाते। फिर मुँह खोल कर वे स्पष्ट उच्चारण क्यों करें? वर्तमान भाषाओं की समीक्षा से भी यह परिणाम नहीं निकलता कि पहाड़ी अथवा रेगिस्तानी प्रदेशों की भाषा में और मैदानों की भाषा में, स्पष्टता अस्पष्टता आदि का कोई भेद है।

तीसरा वाद

जातीय मानसिक अवस्था-भेद—कुछ लोगों का विचार है कि किसी किसी जाति (अथवा राष्ट्र) की मानसिक अवस्था दूसरी जाति अथवा राष्ट्र की मानसिक अवस्था से ऊँची या नीची होती है और इसी कारण भाषा में भेद उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए जर्मन विद्वानों का मत है कि उनकी भाषा में एक सौष्ठव और गति है जो अँग्रेजी आदि भाषाओं में नहीं है और उनकी राय से भाषा का यह सौष्ठव और यह गति उनकी जातीय मानसिक गति और सौष्ठव के कारण है। इसी प्रकार फ़्रेंच भाषा में एक अद्भुत लालित्य है जो उस जाति की ललित मानसिक अवस्था का परिचायक है। इसी तरह कोई कह सकता है कि बंगाली भाषा में दुरूह संयुक्त व्यंजनों तथा मूर्धन्य व्यंजनों के अभाव से जो माधुर्य आता है वह उनके सौन्दर्यानुभव और स्त्रीत्व के प्रभाव से तथा भाषा की द्रुतगति उनके तेज़ दिमाग के कारण है। और मद्रासी जो खटाखट कठिन से कठिन मूर्धन्य व्यंजन जल्दी-जल्दी बोलता जाता है वह उसकी इस मानसिक अवस्था का परिचायक है कि वह विषम जलवायु की परिस्थिति में भी अपना काम सुगमता और ख़ूबी से कर सकता है।

कोई भाषा अन्य भाषा की अपेक्षा अधिक द्रुतगति से विकसित होती है, इसमें मूल कारण संगठन की शिथिलता, और सुश्लिष्टता की कमी ही होती है, किसी जाति की मानसिक अवस्था की उच्चता

या नीचता नहीं। ऐसा देखा गया है कि यदि किसी देश में कई साल तक युद्ध जारी रहे जिसके कारण पुरुष अधिक संख्या में संग्राम में जुटे रहें और स्त्रियाँ अन्यान्य व्यवसायों में, तो उस समय भाषा में परिवर्तन की गति द्रुत हो जाती है। इसका कारण यही है कि सीखने वाले, बच्चों की पीढ़ी पर यथेष्ट नियन्त्रण नहीं रह पाता और इस प्रकार संगठन की कमी आ जाती है। यह भी संभव है कि राजनीतिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों के कारण, युद्ध न होने पर भी, स्वतन्त्रता और निरंकुशता की लहर युवकवर्ग में फैल जाय और अन्य क्षेत्रों की तरह भाषा के क्षेत्र में भी फैल जाय, उस समय भी भाषा में परिवर्तनों की गति के द्रुत होने की संभावना है, क्योंकि बच्चे और लड़के लड़कियाँ भाषा के संशोधनों की पर्वाह न करेंगे और अध्यापक तथा मातापिता खीज कर रह जायँगे। भाषा के प्रवाह में द्रुत और विलम्बित गति रहती है, और यह भी समझ में आता है कि आपेक्षिक दृष्टि से किसी भाषा में दूसरे की अपेक्षा द्रुत या विलम्बित गति हो। पर इसका मूल कारण केवल जातीय मानसिक अवस्था को ही समझना ठीक नहीं मालूम होता। सौष्ठव, लालित्य और माधुर्य आदि गुणों की मर्यादा तो अपनी-अपनी रुचि पर निर्भर है। जिस चीज़ को जर्मन अपनी भाषा का सौष्ठव कहता है उसी को अंग्रेज या फ्रेंच रूक्षता के नाम से पुकारता है। बंगाली जिसको अपनी भाषा की सुन्दरता कहता है उसी को पंजाबी ज़नानापन कह कर हँसी उड़ा सकता है। भारतीय संस्कृति वाले को संस्कृत के जो पद ललित और सुरस जान पड़ते हैं वही पद इसी देश के ऐसे निवासी को जो विदेशी संस्कृति के पालने पर झुलाया गया है, करीह नज़र आते। दसवीं सदी के महाकवि राजशेखर के मत से "संस्कृत की रचना रूक्ष और प्राकृत की सुकुमार है। पुरुष और महिला में जितना अन्तर है। उतना इन दोनों में है" किन्तु आज जब हम प्राकृत की टवर्गध्वनि-प्रचुरता देखते हैं तब हमें कवि की उस उक्ति में संदेह होने लगता है। फ़ारसी की एक कहावत का अर्थ है—

"फ़ारसी मधुर भाषा है।" इस प्रकार हर एक को अपनी भाषा में गुण और अन्यों की भाषा में अपेक्षाकृत अवगुण दिखाई देते हैं और इस क्षेत्र में भी हमें तुलसीदास की यह अनुभूति याद आ जाती है—

निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका।

चौथा वाद

प्रयत्न-लाघव—मनुष्य का स्वभाव है कि अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए, लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कम से कम प्रयत्न करे और यदि एक ही जगह पर पहुँचने के लिए दो मार्ग हों तो छोटी-मोटी बाधाओं की भी पर्वाह न कर छोटा और सीधा रास्ता ही पकड़े। पहाड़ पर रोज़ ही का अनुभव है कि चक्करदार चौड़ी सड़क को छोड़ कर ऊबड़-खाबड़ पगडंडी पर ही अधिक लोग चढ़ कर रास्ता और समय की बचत कर लेते हैं। फाटक पर 'आम रास्ता नहीं' का नोटिस मोटे अक्षरों में टँगे होने पर भी यदि आप के बंगले से कहीं जाने का सीधा रास्ता मिलता है तो आपकी नज़र बचा कर लोग आपके बंगले में हो कर जाने की अनधिकार चेष्टा करेंगे ही। और गाँवों में मेढ़-मेढ़ न चलकर बोए हुए खेतों को रौंद कर जाने वालों की शिकायत और ऊपर से गाली-गलौज की बौछार हुआ ही करती है। कुली को छः पैसे की जगह अगर चार ही पैसे देने पर वह चला जाय तो कौन समझदार आदमी दो पैसे की बचत कर लेना न चाहेगा? केवल परीक्षा में पास हो जाने को ही अपना परम लक्ष्य रखने वाले विद्यार्थी को महत्त्व के ही अंशों पर निर्भर रहने और ग्रंथों के शेष अंशों को छोड़ जाने से कौन अध्यापक रोक सकता है? इस प्रकार जिधर भी निगाह डाली जाय हमें मनुष्य के कार्यों में प्रयत्न की बचत करने का सिद्धांत अंतर्निहित दिखाई देता है। यही सिद्धान्त भाषा के परिवर्तनों के मूल में भी हो सकता है।

प्रयत्न-लाघव का यह सिद्धान्त तरह-तरह से भाषा में काम करता

हुआ दिखाई देता है। और कहीं एक चीज़ में प्रयत्न-लाघव कर के दूसरी में प्रयत्न-वृद्धि से ही सुविधा मालूम होती है। सुविधा ही प्रयत्न लाघव की जड़ है।

भाषा के वे अंश जो बहुधा प्रयोग में आते हैं उनका मूल अंश तो रह जाता है किन्तु शरीर विकल हो जाता है। अभिवादन के शब्द, व्यक्तियों के नाम, सर्वनाम, बहुव्यवहृत अव्यय इत्यादि में काफ़ी विकार होने पर भी मूल स्थित रहता है। इसका कारण यही है कि बहुव्यवहार के कारण इनका अस्तित्व मस्तिष्क में निश्चित स्थान प्राप्त कर लेता है पर प्रयोग की अधिकता के कारण इनको अंशरूप से बोलने से ही काम चल जाता है। शास्त्र में दंडवत् प्रणिपात करके गुरु को अभिवादन करने का विधान दिया है और अनुमान है कि रघु-वंश के निर्माता के काल में ऐसी प्रथा भी थी। धीरे-धीरे सारी देह को ज़मीन पर न टिका कर केवल दोनों हाथों को जोड़ कर टिकाने का प्रयत्न-लाघव किया गया। इसके लिए शरीर झुकाना तो पड़ता ही था, फिर ज़मीन तक हाथों को न ले जाने की प्रथा चल पड़ी होगी। यह प्रयत्न-लाघव की दूसरी अवस्था आई। और तीसरी अवस्था थी अपने सिर को थोड़ा झुका कर अंजलि उस पर टेक देना। और अब गुरु के अभिवादन की चरम-सीमा बिना शरीर का कोई भी अवयव झुकाए हाथ जोड़ देना है, और कभी-कभी ये हाथ मस्तक के ठीक सामने न आकर दाएँ-बाएँ कंधे के सामने ही दिखाई पड़ते हैं जिससे दंड-वत् प्रणिपात की तो नहीं, हाँ दंडवत् प्रहार की मुद्रा की आशंका होती है। इसी प्रकार बंदगी करने का पुराना ढंग यह था कि शरीर को काफ़ी झुका कर दाहिने हाथ को अपने मस्तक पर ले जाकर अर्ज़ करना और इसकी चरम सीमा आज यह है कि हाथ (कभी-कभी बाँया भी) मस्तक तक जाता है जिससे यह आशंका होती है कि मस्तक पर बैठी हुई मक्खी को उड़ा देने का उद्योग तो नहीं है। इसी प्रकार भाषा के भी प्रयत्न-लाघव के उदाहरण दिए जा सकते हैं। कुछ ये हैं :—

अपरं > अवरं > अउरं > और > औ > अ

ततः>तओ>तउ>त

खलु>क्खु>हु>उ

साहब>साब

जय रामजी की>जय राम>जै राम

हुजूर>जुर

बाबू>बाउ

बाप साहब>बा साब; मास्टर साहब>माट् साब >मास्साब

भाई>भइ

धीरेन्द्र>धीरेन; रामेश्वर>रमेसुर; गोपीकृष्ण>गोपी; कृष्णमानसिंह> कृष्णा आदि। अथवा *हीराबल्लभ दादा>हिरदा; पद्मादत्त दादा>पद्दा सुवीरा>सुइरा, बड़ी जिज्जी>बड़ी जी।*

अस्ति>अत्थि>आथि

आच्छेति>आछइ>आछे>आहि>हइ>है

वर्तते>बट्टइ>बाटइ>बा

त्वया>तुए>तुइ, तू

मया >मए>मइ, मैं

बलाघात और भावातिरेक में भी भाषा में परिवर्तन होता है और इसके मूल में भी सुविधाजनक प्रयत्न-लाघव है। बलाघात के समय हम किसी विशेष अक्षर पर अधिक प्राणशक्ति ख़र्च कर देते हैं जिसका नतीजा यह होता है कि उस अक्षर का अस्तित्व तो दृढ़तर हो जाता है पर पास-पड़ोस के अक्षर कमज़ोर पड़ जाते हैं और एक आध उनमें से गायब भी हो *जायँ तो अचरज* नहीं। प्राचीन *अलाबु* शब्द के वर्तमान दो रूप *आल्* (मालवी) और *लौकी* (हिन्दी) मिलते हैं। इनमें *आल्* उस प्राकृत से आया हुआ रूप है जिस में बलाघात प्रथम अक्षर पर था और *लौ-(की)* उसका जिसमें बलाघात उपधा के अक्षर पर था। इसी प्रकार भावातिरेक में भी भाषा में परिवर्तन आ जाता है। बच्चे के *पाँव* को दुलार में *पइयाँ* और *गाल* को *गल्लू* कहने लगते हैं। व्रजनारी की *बाँह* का *बँहियाँ* रूप, मोहक मोहन के

अतिशय प्रेम का ही द्योतक हो सकता है। इसी प्रकार ग़ुस्से में *रामेश्वर* का *रमसुरा* हो जाना अथवा *कल्लू* का *कलुआ* हो जाना स्वाभाविक है। अतिशय प्रेमातिरेक में भी मनुष्य अपने स्निग्ध जनों के नाम बिगाड़ कर बोलता है—*बहू* का *बहुरिया*, ननद का *ननँदिया* या *भौजाई* का *भौजइया* रूप स्नेह का सूचक है। कभी-कभी ज़ोर देने के लिए स्वर अथवा व्यंजन की मात्रा दीर्घ हो जाती है—*नद्दी* (नदी), *बब्बू* (बाबू) आदि उदाहरण हैं। इन्हीं में से एकाध कारण शब्दों के वर्धित रूपों के मूल में हैं—उत्तरप्रदेश के पूर्वी ज़िलों में संज्ञाओं को बढ़ा कर बोला जाता है यथा, *लोटवा*, *घोड़वा*, *कुतवा-कुतउना*, *सुअना* आदि। दिल्ली की तरफ़ है की जगह *हैगा*, हैं की जगह *हैंगे* का प्रयोग भी ज़ोर देने की भाषा का उदाहरण है।

बड़े-बड़े शब्दों के पूरे रूप का उच्चारण न करके उनके आदि के अक्षरों को अथवा समस्त शब्द के प्रथम पद को ही बोल कर काम निकालना भी प्रयत्न-लाघव के सिद्धान्त का ही उदाहरण है। *इक्का (गाड़ी,)* *कापी (-बुक)* *ब्लाटिंग (-पेपर,)* *जोड़ी* (घोड़ों आदि की) *मोटर (कार)* तथा *वी० सी० (वाइसचैंसलर)* *डी० सी० (डिप्टीकमिश्नर)* *सुदि* (शुक्ल दिवस—शुक्ल पक्ष का दिन अर्थात् तिथि), *बदि* (बहुल-कृष्ण दिन, कृष्णपक्ष का दिन अर्थात् तिथि) आदि तथा अंग्रेज़ी *एन्० सी० ओ*, *एस० डी० ओ*, *एस० ओ०* आदि इसके उदाहरण हैं। शब्दों या शब्दसमूहों को प्रयत्न-लाघव के लिए छोटा कर के बोलने के कुछ विलक्षण परिणाम हो जाते हैं। गली में "*लेउ साग बथुई का*" यह आवाज़ सुन कर हम बेचने वाले को "*ए बथुई*" कह कर बुलाते हैं। *जानकी (प्रसाद)*, *लक्ष्मी (शंकर)*, *शारदा (प्रसाद)* आदि पुरुष प्रयत्न-लाघव से *जानकी* आदि कहे जाते हैं, और *इन्दु (मती)* *इन्द्रा (-णी)* आदि स्त्रियाँ *इन्दु* आदि। *फैजाबाद आई*, *बनारस गई* *लखनऊ जाई* आदि में विशेष प्रयत्न-लाघव दिखाई पड़ता है और इन पुँल्लिग नगरवाची शब्दों से स्टेशनों पर इन नगरों को आने-जाने वाली गाड़ियों का बोध होता है।

बोलते समय प्रयत्न-लाघव की दृष्टि से मन बहुधा आगे की ध्वनियों पर दौड़ जाता है और इसके कारण तरह-तरह के ध्वनि-विपर्यय भाषा में आ जाते हैं। सामान्य रीति से नीचे लिखे प्रकार के परिवर्तन देखे गए हैं।

(१) **ध्वनि-विपर्यय**—जिन पदों में स् र् या ल् की ध्वनि रहती है उनमें विशेष रूप से यह देखा गया है। यह विपर्यय कभी दो ध्वनियों में ही होता है और कभी सम्पूर्ण अक्षरों में। और यह परिवर्तन पहले-पहल बच्चों और अज्ञों की बोली से आरम्भ होता है और नियंत्रण न होने पर टिक जाता है। हिन्दी के *नखलऊ (लखनऊ), डूबना (बूड़ना), कुलफ़ी (कुफ़ली,) अरसूद (अमरूद), चिन्ह (चिह्न), मतबल (मतलब), नहाना > हनाना, तकुआ > कतुआ,* बसक (बकस), *जबेली (जलेबी),* और संस्कृत का *वल्मीक (वैदिक वम्री वम्र)* तथा अंग्रेजी *थर्ड (थ्रिड्), ऑस्क (आक्स), वॉस्प (वॉप्स)* अवे० *वफ्र* (सं० वप्र) फा० *बर्फ़* इसी के उदाहरण हैं। दो-तीन ध्वनियाँ यदि पास ही पास लगातार आवें तो इस भूल की संभावना अधिक रहती है। बचपन में बहुधा *तौ तचतइ तचत तो तचिहै* आदि वाक्यों के उच्चारण का अभ्यास खिलवाड़ में ही भाषा की शुद्धि कायम रखने के लिए करा दिया जाता है।

(२) **ध्वनि-लोप या अक्षर-लोप**—जब दो समान ध्वनियाँ या समान अक्षर पास ही पास आते हैं तब प्रयत्न-लाघव से अनजान में ही उनमें से एक का लोप हो जाता है, यथा सं० *जहि > जहीहि,* सं० *मदुघ < मधुदुघ,* सं० *वृथा < वृत + था,* पा० *अप्पतिस्सावो < अप्पतिस्सववासो* अव० *बिलइया < बिलालिआ < विडालिका* तथा *एहट्टीन > एट्टीन;* हि० *बड़ी जिज्जी > बड़िजी;* हिं० *छोटी जिज्जी > छोटी जी।*

(३) **समीकरण**—जब दो विभिन्न ध्वनियाँ पास-पास आती हैं तो प्रयत्न-लाघव से वे दोनों सम हो जाती हैं। यह समीकरण दो प्रकार का होता है—(क) मस्तिष्क एक ध्वनि पर जमा हुआ है और उसी समय आगे आने वाली ध्वनि का आभास आ गया तब पिछली ध्वनि ही आगे आने वाली ध्वनि को अपनी-सी कर लेती है, अथवा (ख) जब मस्तिष्क एक ध्वनि पर आधा ही ठहरा था तभी

अगली ध्वनि आ धमकी और उसने पिछली ध्वनि को सम कर लिया। इस प्रकार जब परवर्ती ध्वनि पूर्ववर्ती के समान हो जाय तो उसे पुरोगामी समीकरण और जब पूर्ववर्ती ध्वनि परवर्ती के समान हो जाय तो उसे पश्चगामी समीकरण कहते हैं। किसी शब्द में इन दो समीकरणों में से कौन-सा होगा यह बात प्रायः सदा ही उन दोनों ध्वनियों के आपेक्षिक बल तथा उनके बलाघात पर निर्भर होती है और वलवती ध्वनि सदा निर्बल को दबा देती है।

उदाहरणार्थ—

(क) **पुरोगामी**—सं० *लग्न* > प्रा० *लग्ग*, *स्तृणोति* (*स्तृ* + *नोति*), *दष्टम्* (*दश्* + *तम्*), सं० *यस्य* > प्रा० *जस्स*, सं० *निषण्णः* > प्रा० *निसिन्नो*।

(ख) **पश्चगामी**—सं० *भक्त* > प्रा० *भत्त*, सं० *सर्प* > प्रा० *सप्प*, सं० *वल्कल* > प्रा० *वक्कल*, सं० चतुष्क > प्रा० चउक्क, सं० दुग्ध प्रा० दुद्ध, सं० *असूया*, > प्रा० *उसूया*, सं० इक्षु > प्रा० इक्खु हि० *मार डाला* > *माड्डाला*, हि० चोर *ले गया*, चोल्ले *गया*, हि० *उँगली उँगुली* < सं० *अंगुली*।

उच्चारण की सुविधा की दृष्टि से और कई प्रकार के प्रयत्न-लाघव देखे गये हैं। जब हम कोई उच्चारण क्रम से करते हैं और उस क्रम के बीच में कोई अवयव विषम बैठता है तब उसको भी क्रम में सम कर लेने की प्रवृत्ति होती है, यथा गिनती गिनते समय *तैंतालीस* और *पैंतालीस* के बीच के विषम *चौआलीस* का *चौतालीस* हो जाना, अथवा *तिरपन* और *पचपन* के बीच *चौअन* का *चौपन* हो जाना समझ में आता है।

(४) **विषमीकरण**—कभी-कभी पार्श्ववर्ती सम ध्वनियों के उच्चारण में असुविधा जान पड़ती है तब प्रयत्न-लाघव के लिए उनको विषम (परस्पर भिन्न) कर लेते हैं, यथा सं० पक्व>प्रा० *पिक्क*, सं० मुकुट > प्रा० *मउड* हिं० *मौर*, सं० मुकुल > प्रा० *मउल* हिं० बौर; *श्रथ्* धातु से सं० शब्द *श्रिथिर* बनना चाहिए पर उससे *श्रिथिल* के द्वारा *शिथिल* हुआ, सं० *अष्टमी* > हिं० *अट्टिमी*।

(५) **स्वरभक्ति**--संयुक्ताक्षरों के बोलने में विशेष प्रयत्नशील रहने की ज़रूरत होती है। इस असुविधा को हटाने के लिए मन अपने आप उस संयोग को, बीच में और कोई ध्वनि लाकर, दूर कर देता है और दो व्यंजनों के संयोग को दूर करने के लिए एक छोटा-सा स्वर ला धरता है। संस्कृत से प्राकृतों में विकास होते समय इस प्रवृत्ति के बहुतेरे उदाहरण मिलते हैं, सं० *रत्न* < प्रा० *रदण*, सं० *कृष्ण* प्रा० *किषण*; इसी प्रकार *भक्त* > *भगत*, *इन्द्र* > *इन्दर*, *प्रसाद* > *परसाद*। संस्कृत शब्दों का पंजाबी लोगों के मुख से उच्चारण आज भी इसके बहुत से उदाहरण उपस्थित करता है। इस प्रकार दो व्यंजनों के बीच स्वर रख देने को स्वरभक्ति कहते हैं। दो संयुक्त ध्वनियों के बीच में स्वर ही नहीं, कभी-कभी व्यंजन (बहुधा ह् या न्) भी ले आते हैं, यथा हिं० *तैरना* का उच्चारण *तहेरना* , प्रा० *वक्क* हिं० *बांका*, सं० दर्शन पा० *दस्सन* प्रा० *दंसन*।

कभी-कभी दो स्वरों के बीच में व्यंजन रखने के उदाहरण भी प्राकृत में मिलते हैं, यथा *अपस्सि उत्तिरणपदं* > *अपस्सि सुत्तिरणपदं*।

(६) **अग्रागम**--बोलते समय आरम्भ में ही कोई ऐसी ध्वनि आ जाती है या संयुक्ताक्षर आ जाता है जिसके उच्चारण में कठिनता मालूम होती है तब उस शब्द के पूर्व कोई स्वर अनजान ही आकर सहायता करता है। *स्त*, *स्त्र*, *स्न* आदि संयुक्ताक्षर प्राकृत काल से ही उच्चारण में दुख देते रहे हैं, इसी कारण प्राकृत का *इत्थी* सं० *स्त्री* मिलता है। आज भी *स्त्री*, *स्नान*, *स्कूल*, *स्टेशन*, को हम *इस्त्री*, *अस्नान*, *इस्कूल*, *इस्टेशन* कहते हैं और पंजाबी भाई स्वरभक्ति का सहारा लेकर *सणाण*, *सकूल*, *सटेशन*, बोलते हैं। र-ध्वनि भी शब्द के आरंभ में कठिन प्रतीत होती है, इसीलिए कुछ लोगों के उच्चारण में *राम* का *अराम* सुनाई देता है, यद्यपि वे यही समझते हैं कि हम *राम* ही कह रहे हैं। इस सुविधा के प्रयोग को अग्रागम कहते हैं।

(७) **उभय सम्मिश्रण**--बोलते समय एक ही विचार के वाचक दो-शब्द कभी-कभी एक साथ मस्तिष्क में उद्बोधित हो जाते हैं और

परिणाम-स्वरूप दोनों के सम्मिश्रण से (जिसमें एक का अग्रांश और दूसरे का अंतिमांश होता है, एक नया ही शब्द बन जाता है। प्राकृत *देक्ख, दिस्सइ* तथा *पेक्खई* के मेल से, अव० *फिन, फिर* और *पुनि* के मेल से, पा० *दुवे* और *उभयं* से *दुभयं* आदि रूप उदाहरण हैं।

जिस प्रकार समानार्थक दो शब्दों के सम्मिश्रण से नया ही शब्द बन जाता है, उसी प्रकार वाक्य में दो वैकल्पिक विन्यासों के कारण नया ही भ्रान्त विन्यास हो जाता है। प्राकृत (बोलचाल की) भाषाओं में बहुधा इसके उदाहरण मिलते हैं। सकर्मक, अकर्मक प्रयोगों तथा कर्त्तृवाच्य, कर्मवाच्य आदि के व्यवहार में यह भूल अधिकांश में देखी जाती है। ग़लत परसर्ग के प्रयोग में भी यही बात मूल में है। उदाहरणार्थ

पा० *तुम्हेहि खादितब्बाहारतो दव्वा खादेय्याथ* (ससजातक)।

हि० *हमने गये (हम गये), (हमने देखा), हम लकड़ी तोरी (हमने लकड़ियाँ तोड़ीं)*।

(८) **स्थान-विपर्यय**—कभी-कभी बोलने में ध्वनियों के स्थान में उलट-फेर हो जाता है जो प्रयत्न-लाघव का ही उदाहरण है, जैसे, सं० *आश्चर्य*>प्रा० *अच्छेरं*, सं० *कार्य* > केर। यहाँ *अर्य* और *आर्य* में बीच में र था और इधर उधर *अ...य* तथा *आ...य*। प्राकृत के नियम से *अय*>ए और *आय* > *अय*>ए बदल गए और र् उनके बाद जा पड़ा।

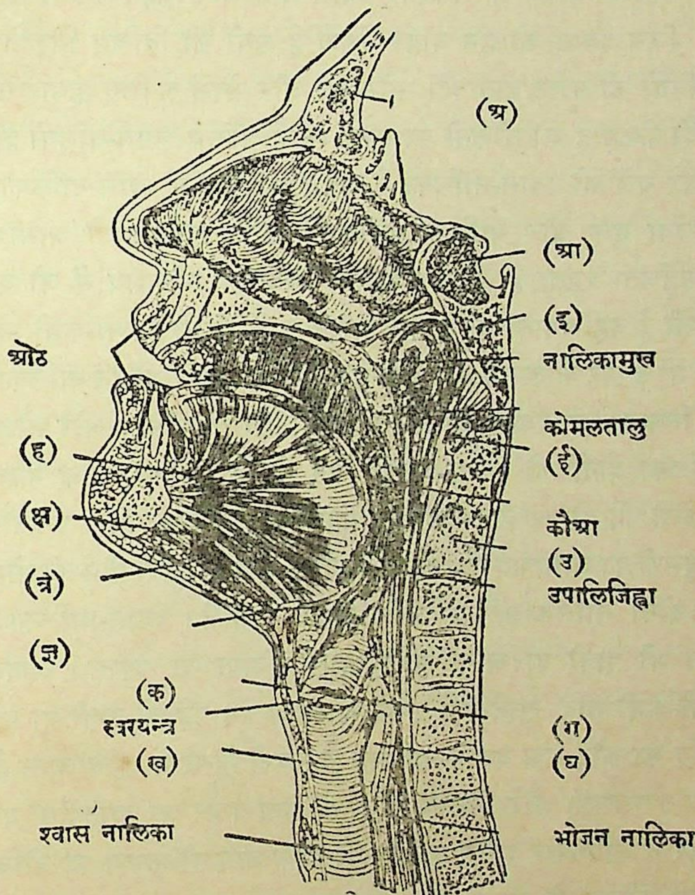
विदेशी शब्दों के अंगीकार करने में जो परिवर्तन स्वाभाविक रीति से हो जाते हैं वे भी प्रयत्न-लाघव के कारण ही होते हैं। *ग़रीब> गरीब, सिग्नल > सिगल, प्वाइंट्ज़मैन>पैटमन, वक्त>बखत, टाइम > टेम, गार्ड>गारद, हॉस्पिटल>अस्पताल*, फ़ा० *रास्ता > रस्ता*, अव० *रस्ता*, फ़ा० *बस्ती*>अव० *बहत्ती* आदि इसी के उदाहरण हैं। हिन्दू-विश्वविद्यालय का *आर्टस कालेज* इक्के-ताँगे वालों के मुख से *आठ कालेज* हो गया और बाद को जो *सायंस् कालेज* बना उसका नाम उच्चारण की शुद्धता स्वरूप *आठ कालेज* के वज़न पर *नौ कालेज* बन गया। प्रयाग में *यूनिवर्सिटी* को प्रायः ताँगे वाले *अनवरसीटी* कहते हैं। पूर्व काल के

स्वदेशी शब्द भी परकाल में तत्कालीन शब्दों के मेल-जोल में बदल से जाते हैं, अवध की अपढ़ गाने वालियों के मुख से मंगलाचार की जगह मंगलाचारि सुना गया है क्योंकि चारि (संख्यावाचक) शब्द पूर्व-परिचित था। प्रयाग में कोई-कोई समझदार भिखमंगे आशीर्वाद देते समय '*बाबू लाट कमंडल होइ जा*' कहते हैं। *कमंडल* शब्द स्पष्ट ही विदेशी कमाण्डर का स्वदेशी रूप है जिससे भिखारी पहले से ही परिचित है। हर भाषा के कोष में थोड़े-बहुत विदेशी शब्द पूर्ण रूप से घुली-मिली अवस्था में रहते हैं।

संस्कृत भाषा की संधियों के प्रायः सभी नियम सुविधा अर्थात् प्रयत्न-लाघव के द्वारा ही भाषा में आए होंगे।

दसवाँ अध्याय

ध्वनि-यंत्र



(शरीर के जो अवयव बोलने के काम में लाए जाते हैं उनके समूह को ध्वनि-यंत्र कहते हैं।) पर अवयवों के इस समूह का यह नाम विद्वानों

ने केवल सुविधा की दृष्टि से ही रख छोड़ा है, वस्तुतः यह नाम उचित नहीं, क्योंकि पशुओं के भी ये अवयव होते हैं और उन्हीं की भाँति हम भी इन अंगों से, मुख्य रूप से, दूसरा ही काम लेते हैं। ध्वनियों का उच्चारण इनका गौण काम है। जैसे मुख्य रूप से अन्य काम के लिए बनी हुई उँगलियों से हम हारमोनियम, सितार आदि बजा लेते हैं उसी प्रकार इन अवयवों से ध्वनियों का भी उच्चारण कर लेते हैं।

मनुष्य जीवन भर निरंतर श्वास लेता और बाहर फेंकता रहता है; जिस श्वास को हम बाहर फेंकते हैं उसी की विचित्र विकृति से ध्वनियों की सृष्टि होती है। साँस लेने और फेंकने के लिए हमारे सीने में दो फेफड़े हैं जो धौंकनी का काम देते हैं और ये श्वास-नलियों द्वारा हमारे गले की श्वास-नालिका से संबद्ध हैं। गले में श्वास-नालिका के अलावा एक और नालिका है जिसके द्वारा खाना-पानी आमाशय में पहुँचता रहता है और आमाशय, पक्वाशय, मलाशय में जो वायु बनती है वह अपान वायु होकर निकल जाती है और कभी-कभी ऊपर को भी डकार के रूप में आ जाती है। पर यह डकार भोजन नालिका से ही निकलती है, श्वास-नालिका से नहीं। श्वास-नालिका और भोजन-नालिका दोनों को अलग-अलग रखने के लिए बीच में एक मज़बूत झिल्ली की दीवार है, पहली का संबंध श्वास-नलियों द्वारा फेफड़ों से है, दूसरी का आमाशय से; पहली आगे की ओर है, दूसरी पीछे की ओर। इन दोनों नालिकाओं का अलग-अलग काम है। श्वास-नालिका से ज़रा भी पानी या खाना अंदर नहीं पहुँचाया जा सकता। आदमी कभी-कभी यदि खाते-पीते समय बोल या हँस पड़े तो पानी या पान आदि का कोई अंश श्वास-नालिका के ऊपरी हिस्से में पहुँच जाता है। और तुरन्त उछू और निरंतर खाँसी के द्वारा बाहर आ जाता है। यदि बाहर न आए और श्वास-नालिका में टिक जाय तो मनुष्य का जीवित रहना संदिग्ध हो जाता है। सुपारी का टुकड़ा एकाध बार श्वास-नालिका में पहुँचा नहीं कि कुछ ही क्षण में मौत आ गई।

श्वास-नालिका के ऊपरी हिस्से में स्वर-यंत्र है। स्वर-यंत्र स्वर-

तंत्रियों का समूह है। इसमें बहुत महीन-महीन तंत्रियाँ होती हैं, मनुष्य-निर्मित बढ़िया से बढ़िया और सूक्ष्म से सूक्ष्म बाजे के भी तारों से कई गुना महीन। ये तंत्रियाँ श्वास-नालिका के ऊपरी हिस्से के दो कोनों में आमने-सामने दो हिस्सों में बँटी हुई रहती हैं। आपेक्षिक दृष्टि से ये तार बच्चों के छोटे होते हैं और मनुष्य की शारीरिक वृद्धि के अनुपात से बढ़ते रहते हैं। तब भी पुरुष के स्वर-यंत्र के तार स्त्री के तारों से बड़े होते हैं। स्वर-तंत्रियाँ चार विभिन्न प्रकारों से स्थित रहती हैं—(१) दोनों समूह अलग-अलग निस्पंद पड़े रहते हैं और बीच से साँस आती-जाती रहती है, (२) दोनों समूह आकर वीणा के तारों की भाँति आपस में टक्कर मारते हैं और गाने के स्वरों, ध्वनि के गुण सुर, अथवा ध्वनि के घोष की सृष्टि करते हैं, (३) दोनों समूह आपस में जुट कर खड़े हो जाते हैं और श्वास के निकलने में पूरी तरह एक क्षण के लिए बाधा उपस्थित कर देते हैं और (४) दोनों समूह आकर जुट जाते हैं पर नीचे की ओर थोड़ा-सा भाग श्वास के आने-जाने के लिए छोड़ देते हैं। प्रथम अवस्था, जब हम साधारण रीति से साँस लेते हैं या अघोष ध्वनियों का उच्चारण करते हैं तब की है, दूसरी जब सघोष ध्वनियों का उच्चारण करते हैं, तीसरी जब हम स्वर-यंत्रोद्भूत व्यंजन (हमज़ा) बोलना चाहते हैं, और चौथी फुसफुसाहट के समय की है। इस प्रकार श्वास में ध्वन्यात्मक विकृति पैदा करने वाला प्रथम अवयव स्वर-यंत्र है। इस विकृति की स्थिति के काल के अनुसार घोष की मात्रा, प्रकार के अनुसार उदात्त आदि अथवा षड्ज आदि स्वर तथा तारों के खिंचाव अथवा ढीलेपन के अनुसार तीव्रता उत्पन्न होती है।

श्वास-नालिका में विकृत हुई या अविकृत इस प्रकार की साँस मुख-विवर या नासिका-विवर में आती है। इन विवरों की दीवारों में, यदि स्वर-यंत्र द्वारा विकृत होकर आई है तो उसकी प्रतिध्वनि करने की सामर्थ्य होती है। मुख-विवर और नासिका-विवर दोनों को अलग-अलग रखने के लिए एक दीवार है जो अंदर की ओर कौवे

(अलिजिह्व) से आरंभ होकर ऊपर के दाँतों में समाप्त होती है—उधर से ही गिनने में इसके, कौवा, सुकुमार तालु, कठोर तालु, वर्त्स-भाग (मसूड़े) तथा दाँत हैं और दाँतों के बाहरी भाग में मसूड़ों के पास जुड़ा हुआ ऊपर का ओठ है। मुख-विवर की नीचे की दीवार जीभ है जिसको विवरण की सुविधा के लिए चार भागों (जिह्वामूल, पश्चभाग, अग्रभाग और नोक) में विभाजित करते हैं। जिह्वा के नीचे एक विवर है जिसके नीचे की दीवार का अंतिम भाग मसूड़े और नीचे के दाँत हैं और नीचे की दंतपंक्ति के बाहरी भाग में जुड़ा हुआ नीचे का ओठ (अधर) है।

अलिजिह्व (कौवा) तीन अवस्थाएँ ग्रहण करता है :—

(१) तन कर खड़ा हो जाता है (पट पड़ जाता है) और श्वास-नालिका और नासिका-विवर के परस्पर संबंध को बिल्कुल रोक देता है। परिणाम-स्वरूप सारी साँस मुख-विवर में ही आती है, नासिका-विवर में नहीं जाने पाती।

(२) बिल्कुल ढीला, शिथिल, गिरा हुआ रहता है और इस प्रकार श्वास-नालिका और मुख-विवर के संबंध को रोक रखता है। परिणाम-स्वरूप सारी साँस नासिका-विवर से ही आती जाती है।

(३) मध्यम अवस्था में रहता है जिसमें कुछ साँस मुख-विवर में आती है और कुछ नासिका-विवर में।

साधारण रीति से जब हम साँस लेते रहते हैं तब द्वितीय अवस्था होती है पर जब ज़ुकाम के कारण नासिका-विवर बिल्कुल आच्छन्न रहता है और हम मुँह से साँस लेते हैं तब पहली अवस्था होती है।

ध्वनियों की दृष्टि से, अनुस्वार के उच्चारण में द्वितीय अवस्था, अनुनासिक व्यंजनों और सानुनासिक स्वरों के उच्चारण में तृतीय अवस्था और शेष में प्रथम अवस्था होती है।

जीभ भी विविध अवस्थाएँ ग्रहण करती है। साधारण रीति से साँस लेते समय वह ढीली पड़ी रहती है, बिल्कुल निष्पंद, निष्क्रिय। कभी-कभी मुख-विवर में आई हुई साँस को वह बाहर निकलने से

रोकती तो नहीं, पर अपना कोई भाग थोड़ा बहुत उठा कर ऊपर (तालु) की दीवार और अपने बीच का रास्ता आपेक्षिक दृष्टि से संकुचित कर देती है (इस अवस्था में अकारादि स्वरों का उच्चारण होता है)। ऊपर की दीवार के किसी भाग का स्पर्श करके क्षण भर श्वास को रोक कर (क आदि) स्पर्श व्यंजनों की सृष्टि करती है, अथवा ऊपर के किसी भाग के काफ़ी समीप पहुँचकर (जिस अवस्था में पूर्ण रूप से श्वास के निकलने का मार्ग बंद भी नहीं रहता और बिल्कुल खुला भी नहीं रहता) (स् आदि) संघर्षी वर्णों की सृष्टि करती है। अथवा ऊपर काल की थोड़ी-सी मात्रा के लिए स्पर्श द्वारा श्वास का निर्गम रोक कर फिर संघर्ष करा के (च् ज् आदि) स्पर्शसंघर्षी ध्वनियाँ बनाती है। कभी-कभी एक या दोनों पार्श्वों को ऊपर उठाकर और बीच में ख़ाली रहकर प्रोक्षणीपात्र की शकल ग्रहण कर (ल) पार्श्विक ध्वनि का सृजन करती है। अन्यत्र प्रोक्षणी के आकार के पत्ते की तरह ऊपर उठ कर (*र आदि*) लोड़ित ध्वनि तथा इस प्रकार ऊपर उठकर और क्षणांतर में वह गिर कर (*ड़*) उत्क्षिप्त ध्वनि बनाती है। जीभ की नोक नीचे के दाँतों पर, ऊपर चिकने हिस्से पर, और ऊपर खुरखुरे हिस्से पर अपने ऊपरी तल से या इसके भी ऊपर मूर्द्धाभाग (सुकुमार तालु और कठोर तालु के संधिस्थान) पर अपने निचले तल से स्पर्श, संघर्ष आदि कर सकती है। जीभ का पिछला भाग सुकुमार तालु से अथवा अलिजिह्व से संयोग में आ सकता है। इस प्रकार यह चंचल जिह्वा विविध अवस्थाएँ ग्रहण करके श्वास-नालिका से बाहर आती हुई साँस को तरह-तरह से विकृत कर भाँति-भाँति की ध्वनियों की सृष्टि करने में सहायक होती है।

ओठ भी कई अवस्थाएँ ग्रहण करते हैं। दोनों आपस में सटकर अन्दर से आती हुई साँस को क्षण भर रोक कर ओष्ठ्य और दाँतों के स्पर्श से दंतोष्ठ्य स्पर्श व्यंजनों की सृष्टि कर देते हैं। दोनों आपस में अथवा दाँतों के बहुत निकट आकर ओष्ठ्य अथवा दंतोष्ठ्य संघर्षी ध्वनियाँ बनाते हैं। स्वरों के उच्चारण में दोनों मिलकर थोड़ी या

बहुत गोलाकार शकल या कोनों की ओर फैलकर चौड़ाई ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार हमारे ध्वनियंत्र में स्थानभेद और प्रयत्नभेद से अनंत ध्वनियों के उत्पादन की शक्ति है और प्रत्येक भाषा इन ध्वनियों की एक बहुत परिमित संख्या से ही अपना काम आसानी से चलाती है।

ध्वनि का लक्षण क्या है? आकाश में उत्पन्न विशेष लहरियों को जिन्हें मन श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करता है उन्हें शास्त्रज्ञ शब्द कहते हैं और भाषा-विज्ञान की दृष्टि से मनुष्य के ध्वनियंत्र से निःसृत शब्द को ध्वनि कहते हैं। ध्वनियंत्र से निकला यह शब्द ग्रामोफ़ोन आदि यंत्रों में सुरक्षित रक्खा जा सकता है और आवश्यकता के अनुसार श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा बार-बार ग्रहण किया जा सकता है। पर उसके ध्वनि होने के लिए मनुष्य के ध्वनियंत्र से प्रथम निःसरण आवश्यक है।

ध्वनि की इस प्रकार तीन अवस्थाएँ हैं--उत्पत्ति, प्राप्ति और वहन। प्रथम और द्वितीय अवस्थाओं का अध्ययन ध्वनि-विज्ञानी करता है और तृतीय का भूत-विज्ञानी।

ध्वनियंत्र से निकली हुई ध्वनियों को, उच्चारण करने वाला आदमी अपने लिए नहीं बोलता बल्कि दूसरे के लिए। और सुनने वाले मनुष्य में उन ध्वनियों को ग्रहण कर तुरंत विचारधारा की सृष्टि हो जाती है और आवश्यकता के अनुसार वह प्रत्युत्तर देता है। इस प्रकार आदान-प्रदान ही उच्चारण का मुख्य ध्येय है और यह उच्चारण प्रेषक और प्रापक दोनों के बस में होता है।

ध्वनि का साधारण लक्षण ऊपर दिया गया है। मगर यदि और बारीकी से किसी विशेष ध्वनि का लक्षण करें तो प्रो० डेनियल जोंस के अनुसार "ध्वनि मनुष्य के विकल्प-परिहीन नियत स्थान और निश्चित प्रयत्न द्वारा उत्पादित और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा अविकल्प रूप से गृहीत शब्द-लहरी है।" मनुष्य कोई भी ध्वनि नियत रूप से एक ही स्थान और प्रयत्न की नहीं बोलता। *का, को, कू* इन तीनों क् के उच्चारण में स्थान-भेद संभव है। *काका* के प्रथम और द्वितीय आ में मात्राभेद

संभव है। इस प्रकार हम लोग वाक्य की अन्य ध्वनियों के बीच में आपेक्षिक दृष्टि से स्थान के अनुसार तरह तरह की क्, ख्, ग् अथवा अ, आ, इ आदि ध्वनियों का उच्चारण करते हैं। व्यवहार की दृष्टि से हम इनको अलग-अलग ध्वनियाँ नहीं मानते। का, की कू इन सब के क् को हम क् ध्वनि समझते हैं। विज्ञान की दृष्टि से इन्हें ध्वनि न कह कर ध्वनि-ग्राम (Phoneme) कहना चाहिए।

ध्वनि-ग्राम में स्थान और प्रयत्न की दृष्टि से प्रायः एकरूप कई ध्वनियाँ (यथा का, की, कू, के आदि के क, मकर, वल्कल, पक्का आदि के मध्य के क, वाक, धिक् आदि के अन्त के क्) समूहरूप से होती हैं और इनमें कोई ध्वनि जो उस भाषा में अधिक व्यवहार में आती है मुख्य सत्ता रखती है। प्रत्येक भाषा में इन ध्वनि-ग्रामों की संख्या परिमित होती है। जहाँ ध्वनियों के विषय में सूक्ष्म विवेचन नहीं किया जाता, वहाँ ध्वनि शब्द से तत्संबंधी ध्वनि-ग्राम का ही अभिप्राय समझना चाहिए।

नोट—ध्वनि-यन्त्र का ऊपर दिया चित्र पिल्ज़बरी व मीडर की पुस्तक (दी साइकोलाजी आव् लैंग्वेज (The Psychology of Language) से लिया गया है। उसमें (क), (ख), (ग), (घ) स्वर-यंत्रपिटक को सहारा देने की चार कोमल अस्थियाँ हैं। (क्ष), (त्र), (ज्ञ) ठुड्डी और जिह्वा के पास की हड्डियाँ हैं। (ह) जीभ के नीचे और ठुड्डी के ऊपर का विवर है। (अ), (आ) नाड़ियों के स्थान हैं। (इ) खोपड़ी के नीचे भाग की हड्डी है। (ई) खोपड़ी को सहारा देने वाली, गर्दन की रीढ़ का सबसे ऊपर का भाग है। (उ) गर्दन का केन्द्र भाग है। स्वरयन्त्र-पिटक से लेकर ऊपर नासिका-विवर के पास तक के श्वास-नालिका के भाग को उपरिनालिका कहते हैं। इसी नालिका के आगे निकले हुए भाग, कमरे से, मुख-विवर और नासिका-विवर हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय

ध्वनियों का वर्गीकरण

पिछले अध्याय में ध्वनियों के उच्चारण के उपयोग में आने वाले अवयवों का उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि भीतर से जो साँस बाहर की ओर श्वास-नालिका से होकर आती है, उसी में स्वरयन्त्र या मुख-विवर या नासिका-विवर आदि में कुछ रोक-थाम, विकार आदि उत्पन्न किए जाने से, ध्वनियाँ पैदा होती हैं। यह भी बताया गया है कि इन ध्वनियों की गिनती नहीं की जा सकती। हर एक भाषा अपनी ज़रूरत के अनुसार इनकी परिमित संख्या का इस्तेमाल करती है। ध्वनियों का वर्गीकरण दो बातों पर निर्भर है—स्थान और प्रयत्न। अन्दर से आती **साँस** को जिस जगह विकृत करते हैं उसी को उस ध्वनि का **स्थान** कहते हैं। यथा अन्दर से आती हुई साँस को यदि दाँतों के पास विकृत करें तो ध्वनि दन्त्य कहलाएगी। त् और स् दन्त्य ध्वनियाँ हैं क्योंकि भीतर से आनेवाली साँस को जीभ की नोक ने उठकर और दाँतों के पास पहुँचकर रोक दिया, अबाध गति से बाहर नहीं निकल जाने दिया। इस रोक-थाम, विकार के लाने में हमें जो काम करना पड़ता है उसको **प्रयत्न** कहते हैं। त् और स् दोनों दन्त्य हैं, पर त् स्पर्श ध्वनि है क्योंकि जीभ ने केवल थोड़ी देर के लिए दाँतों को छुआ, लेकिन स् संघर्षी ध्वनि है क्योंकि इसके बोलने में जीभ ने उठकर हवा निकलने के मार्ग को इतना संकुचित कर दिया कि हवा थोड़ी देर तक दाँतों पर संघर्षण करती रही। नीचे लिखे विवरण में स्थान और प्रयत्न का यह महत्त्व विशेष ध्यान से समझ लेना चाहिए।

प्राचीन काल से ही ध्वनियों के प्रायः दो वर्ग किए जाते हैं—**स्वर और व्यंजन**। और स्वर से तात्पर्य समझा जाता है उस ध्वनि

से जो स्वतः बिना किसी अन्य ध्वनि की सहायता के बोली जा सके और अक्षर बनाने की सामर्थ्य रखती हो, तथा व्यंजन वह ध्वनि है जिसका स्वतः उच्चारण न हो सके और जो स्वयं स्वर की मदद के विना अक्षर न बना सके। स्वर और व्यंजन के ये लक्षण भी प्राचीन काल से व्याकरणों में चले आए हैं।

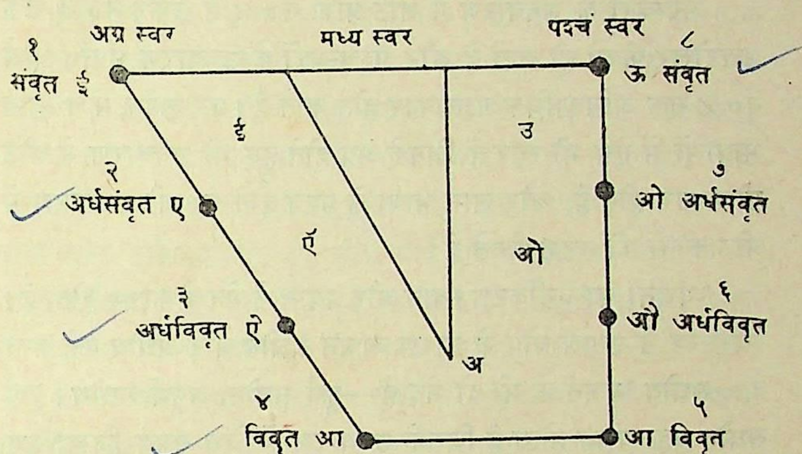
ध्वनि-विज्ञान के आधुनिक अनुसंधान से पता चलता है कि स्वर और व्यंजन के ये लक्षण सर्वांश में ठीक नहीं। व्यंजन का भी स्वतः, विना किसी स्वर की सहायता के, उच्चारण संभव है, यह प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है। *स्*, *ल्* आदि अकेली ध्वनियों को यदि हम सावधानी से बोलें तो बिना स्वर की किंचित् भी मात्रा लाए इन्हें बोल सकते हैं। यह और बात है कि इन अकेली ध्वनियों का कोई अभिप्राय न हो। और संयुक्त व्यंजन अक्षर भी बना सकते हैं, यथा अँगरेज़ी के *गॉड्न* (garden) और *बॉ-ट्ल्* (bottle) शब्दों के द्वितीय अक्षर (*ड्न्* और *ट्ल्*) में कोई स्वर नहीं है तब भी वे अक्षर बन गए हैं। इनमें *न्* और *ल्* वर्णों ने अक्षर बनाने में सहायता दी है।

पिछले अध्याय में स्वर-यन्त्र के व्यापार का व्योरा देते समय वताया गया है कि जब इसके तार, वीणा के तारों की तरह आपस में टक्कर मारकर भीतर से आती हुई साँस को विकृत करते हैं तब घोष उत्पन्न होता है। सभी स्वरों में यह घोष मौजूद रहता है। ध्वनि-विज्ञान के अनुसार **स्वर** वह सघोष ध्वनि है जिसके उच्चारण में श्वास-नालिका से आती हुई श्वास धारा-प्रवाह से अबाध गति से मुख से निकलती जाती है और मुख-विवर में ऐसा कोई संकोच नहीं होता कि किंचिन्मात्र भी संघर्ष या स्पर्श हो। *आँ, ईं, एँ* आदि सानुनासिक स्वरों में साँस की कुछ मात्रा नासिका-विवर से भी अबाध गति से निकलती रहती है। स्वर के अतिरिक्त शेष सभी ध्वनियाँ व्यंजन हैं। व्यंजन वह सघोष या अघोष ध्वनि है जिसके मुख-विवर से निकलने में पूर्णरूप से अथवा कुछ मात्रा में बाधा उत्पन्न होती है। इस प्रकार स्वर और व्यंजन के बीच का स्थूल भेदक लक्षण श्वास की गति का अबाध या सबाध होना

है। किन्हीं-किन्हीं व्यंजनों में और उनके तद्रूप स्वरों में भेद की भित्ति बहुत अल्प है। वैदिक पूर्व प्राथमिक आर्य भाषा में छः अंतस्थ (बीच की) ध्वनियाँ थीं जो शब्द में अपने स्थान के अनुसार ही स्वर या व्यंजन की संज्ञा पाती थीं। उस समय व्यंजन रूप में ये *य् र् ल् व् म् न्* थीं और स्वर रूप में इ, *ऋ*, *लृ*, उ तथा स्वर *न̥* और *म̥* थीं। यह प्राथमिक आर्य भाषा, आर्य प्राचीनतम भाषाओं, वैदिक, ईरानी, लैटिन, ग्रीक आदि की जननी है, इसका विवरण आगे दिया जायगा। वैदिक तथा उत्तर कालीन संस्कृत में अंतिम दो स्वर (*म̥* और *न̥*) विलुप्त हो गए और इनके स्थान पर *अ* का आदेश हो गया, उदाहरणार्थ *गम्* और *मन्* धातुओं के क्त-प्रत्ययांत रूप *गत* (*ग* + *अ* + *त्* + *अ*) और *मत* (*म* + *अ* + *त्* + *अ*) बनते हैं पर होने चाहिए थे (*ग्* + *म̥* + *त्* + *अ*) और (*म्* + *न̥* + *त्* + *अ*) इन *म̥* और *न̥* स्वरों की ध्वनि संभवतः उन *म̥* और *न̥* स्वरों की-सी रही होगी जो अँगरेज़ी आदि भाषाओं में *गॉडन̥* आदि शब्दों में आजकल भी स्वर का काम देते हैं। संस्कृत के बाक़ी चार अन्तस्थ स्वरों में से भी **लृ** और कुछ समय बाद **ऋ** का भी लोप हो गया। **लृ** और **ऋ** का क्या स्वरूप था, इसका ठीक-ठीक ज्ञान आज नहीं है। संभव है **लृ** अँगरेज़ी के *बॉट्ल̥* आदि शब्दों में प्रयुक्त *ल̥* के ढंग की कोई ध्वनि रही हो। *य्* और *व्* व्यंजन रूप में बहुत कमज़ोर पड़ गई। साराँश यह कि वाक्य की ध्वनियों में कुछ का स्वरत्व या व्यंजनत्व वाक्य की ध्वनियों में उनके विशेष स्थान पर ही निर्भर है।

स्वरों के उच्चारण में जीभ का कोई न कोई भाग थोड़ा या बहुत ऊपर को उठता है और इस भाग के नाम के अनुसार स्वरों में **अग्र**, **मध्य**, और **पश्च** का भेद किया जाता है। फिर श्वास के निकलने के लिए मुख आपेक्षिक दृष्टि से बहुत या कम खुलता है, इस दृष्टि से स्वरों की संज्ञा **विवृत** (पूरा खुला हुआ), **अर्धविवृत** (अधखुला), **अर्धसंवृत** (आधा

बन्द) तथा **संवृत** (पूरा बन्द) होती है। ध्वनि-विज्ञान में चार अग्र स्वर और चार पश्च स्वर मूलरूप माने गए हैं—



संवृत (१ और ८) उच्चारण की वह आदर्श अवस्था है जिसमें जिह्वा का अग्र या पश्च भाग ऊँचे से ऊँचा उठ सकता है और स्वरत्व क़ायम रहता है, इससे ज़रा भी ऊँचा उठा कि स्पर्श या संघर्ष उत्पन्न होकर व्यंजन प्राप्त हो जायगा। **विवृत** (४ और ५) उच्चारण की वह अवस्था है जिसमें मुख-विवर अधिक से अधिक खुल सकता है, इससे अधिक की संभावना नहीं। **अर्धसंवृत** (२ और ७) और **अर्धविवृत** (३ और ६) संवृति और विवृति के क्रम से इनके बीच की अवस्थाएँ हैं। विभिन्न भाषाओं के स्वरों का विवरण देने के लिए ये आठ स्वर आदर्श माने गए हैं और जिस प्रकार किसी गाँव में सरकारी (सर्वे) नाप विभाग द्वारा कुछ खूँटे गाड़ दिए जायँ तो उनकी दूरता और निकटता का उल्लेख करके प्रत्येक गृहस्थ अपने-अपने घर का निश्चित स्थान बता सकता है कि अमुक खूँटे से इतने गज़ पूरब, पच्छिम, उत्तर, दक्खिन में मेरा घर स्थित है, इसी प्रकार इन मूल स्वरों के उल्लेख से विशिष्ट भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले विद्वान् उन भाषाओं

के स्वरों का विवरण दे सकते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी का ई स्वर संवृति में मूल स्वर नं० १ से कुछ कम है और उसका आ स्वर मूल स्वर नं० ५ के निकट है और पश्च स्वर है न कि अग्र स्वर।

अग्रस्वरों के उच्चारण में ओठ प्राय: नं० ४ से लेकर नं० १ तक उत्तरोत्तर फैलते ही जाते हैं और पश्चस्वरों के उच्चारण में नं० ५ से नं० ८ तक अधिकाधिक गोलाकार होते जाते हैं। पर जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं में ऐसे भी स्वर हैं जिनके अग्र होते हुए भी उच्चारण में ओठ गोलाकार होते हैं, और शान भाषा से पश्च होने पर भी उच्चारण में ओठ कोनों की तरफ़ फैलते हैं।

व्यंजनों का वर्गीकरण स्थान और प्रयत्न के भेद के कारण होता है। स्वरयन्त्र में उत्पन्न घोष के कारण व्यंजन **सघोष** और **अघोष** कहे जाते हैं। **सघोष** व्यंजन के भी दो भेद हैं---**पूर्ण सघोष, अपूर्ण सघोष**। *पूर्ण* **सघोष** वह व्यंजन होता है जिसके उच्चारण में जिस समय जिह्वा उस स्थान पर पहुँच जाती है जहाँ से उस व्यंजन का उच्चारण होता है उस समय से जब तक उस व्यंजन का उच्चारण समाप्त नहीं होता तब तक बराबर घोष जारी रहता है, और अपूर्ण सघोष व्यंजन में बराबर जारी नहीं रहता, उच्चारण के आदि भाग, मध्य भाग या अन्त भाग में होता है। उदाहरण के लिए अँगरेज़ों की ब् अपूर्ण सघोष है (क्योंकि इसके उच्चारण के अन्तिम भाग में ही घोष रहता है) और हिन्दी की पूर्ण **सघोष**।

जब भीतर से आती हुई साँस में दोनों ओठों के द्वारा विकार लाया जाता है, तब उन ध्वनियों को *द्वयोष्ठ्य* कहते हैं। जब विकार नीचे के ओठ और ऊपर के दाँतों से उत्पन्न होता है तब ध्वनियाँ *दन्तोष्ठ्य* कहलाती हैं और जब केवल दाँतों से तब *दन्त्य*। ऊपर की दन्तपंक्ति से आगे जब तालु की ओर बढ़ें तो मसूड़े मिलते हैं। इस जगह को वर्त्स भाग कहते हैं और यहाँ उत्पन्न हुई ध्वनियों को *वर्त्स्य*। इस भाग से और ऊपर जो तालु का भाग है और जो उंगली से छूने पर कड़ा (लुचलुचा नहीं) मालूम पड़ता है उसको *तालु* का नाम दिया गया है और उस

जगह पैदा हुई ध्वनियों को **तालव्य** का। इसके और आगे एक ऐसा सन्धि-स्थान है जहाँ पर आगे का भाग (कठोर तालु) और पीछे का भाग (कोमल तालु) मिलते हैं। इस सन्धि-स्थान का नाम **मूर्धा** है, और यहाँ पर पैदा हुई ध्वनियों का **मूर्धन्य**। कोमल (लुचलुचे) तालु पर उत्पन्न हुई ध्वनियों को आज भी *कंठ्य* कहते हैं, यद्यपि यह नाम बहुत उपयुक्त नहीं क्योंकि यह स्थान कंठ से भिन्न है। **अलिजिह्व** (कौवा) का उल्लेख विस्तार से पिछले अध्याय में हो चुका है। यहाँ उत्पन्न हुई ध्वनियों को **अलिजिह्वीय** कहते हैं। स्वरयन्त्र के भाग से ऊपर और नासिकाविवर से नीचे वाले श्वासनालिका के हिस्से को **उपरिनालिका** और वहाँ पैदा हुई ध्वनियों को **उपालिजिह्वीय** कहते हैं। स्वरयन्त्र पर भी श्वास को एक साथ रोककर, या वहाँ विशेष घर्षण करा के जब विकार उत्पन्न किया जाता है तो उस ध्वनियों को **स्वर-यन्त्र-स्थानीय** कहते हैं। इस तरह स्थान के अनुसार व्यंजन *द्वयोष्ठ्य* (प् आदि), **दन्तोष्ठ्य** *(व्)*, **दन्त्य** (*त* आदि), **वर्त्स्य** (*श*), तालव्य (कठोर तालु वाले ट् आदि हिन्दी के), **मूर्धन्य** (संस्कृत के ट आदि), *कंठ्य* (कोमल तालु वाले हिन्दी के क् आदि), **अलिजिह्वीय** *(क़् ग़्)* **उपालिजिह्वीय** (अरबी बड़ी हे और ऐन ह् ऋ्) तथा स्वरयन्त्र स्थानीय *(हमज़ा, ह्)* होते हैं। इनके भी सूक्ष्म भेद किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए दाँतों के अग्र, मध्य और पश्च भाग के स्पर्श के अनुसार **अग्रदन्त्य, मध्यदन्त्य** और **पश्चदन्त्य** होते हैं।

ध्वनियों के उच्चारण में तरह-तरह के प्रयत्न किए जाते हैं। यदि केवल दो अवयवों का स्पर्श करके भीतर से आती हुई साँस को रोक रक्खा जाय तो इस प्रयत्न से बनी ध्वनि को **स्पर्श** कहते हैं। यदि दो अवयव परस्पर इतने पास आ जायँ कि उनके बीच से हवा संघर्षित होकर निकले, तो इस तरह पैदा हुई ध्वनि को **संघर्षी** कहा जाता है। यदि जीभ के एक या दोनों पार्श्वों को उठा कर आती हुई साँस के बाहर निकलने में बाधा डाली जाय तो इस प्रयत्न से उत्पन्न हुई ध्वनि **पार्श्विक** कहलाती है। अगर जीभ को यथासंभव लपेट कर ध्वनि निकाली जाय

तो वह ध्वनि **लोड़ित** की संज्ञा पाती है। यदि इस तरह लिपटी हुई जीभ को एक क्षण उस अवस्था में रखकर, उसे झटके से फिर सीधा कर लिया जाय तो इस प्रकार श्वास में उत्पन्न हुए विकार से बनी हुई ध्वनि को **उत्क्षिप्त** कहते हैं। **स्पर्शसंघर्षी** ध्वनि के उच्चारण में किंचिन्मात्र स्पर्श और फिर संघर्ष होता है। इस तरह प्रयत्न के अनुसार व्यंजनों के स्पर्श (क् आदि), संघर्षी (स् आदि), (स्पर्श-संघर्षी च् आदि), पार्श्विक (ल्), लोड़ित (र्), उत्क्षिप्त (ड़्) आदि भेद होते हैं। इनमें से भी बहुतों के सूक्ष्म प्रभेद हो सकते हैं। उदाहरणार्थ स्पर्श व्यंजनों के **बहिः स्फोटात्मक** (जैसे हिन्दी के) **अंतः स्फोटात्मक** (सिंधी की ज़् ब़्) तथा **उत्क्षेपात्मक** प्रभेद होते हैं। प्रथम में साँस स्पर्श हटते ही फट् से बाहर निकल जाती है, द्वितीय में बाहर निकलने के पूर्व साँस को अंदर की ओर चूसने का-सा भाव होता है और तृतीय में एकत्रित की हुई साँस को ढकेल फेंकने का-सा भाव होता है। **क्लिक** ध्वनियों का भी विशेष प्रयत्न से दंत, वर्त्स, तालु आदि स्थानों पर उच्चारण किया जाता है। हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में इनका प्रयोग करुणा (च च् च्...) प्रेरणा (ट ट् ट्...) आदि भावातिरेक को व्यक्त करने के लिए होता है पर अफ्रीका आदि कुछ विदेशों में भाषा में उनका उसी प्रकार प्रयोग होता है जैसे अपनी भाषाओं में स्पर्श आदि ध्वनियों का।

स्थानभेद का विचार करते समय नासिका का भी उल्लेख अभीष्ट है। स्पर्श व्यंजनों में दन्त्य आदि के उच्चारण में जब साँस नाक से निकलती है तब न्, म्, ण् आदि **अनुनासिक** व्यंजनों का उच्चारण होता है। इस प्रकार ब् और म् के उच्चारण में केवल इतना भेद है कि ब् के उच्चारण में सम्पूर्ण साँस मुख से निकलती है और म् के में वह नाक से निकलती है। प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञानियों के अनुसार, अनुस्वार का स्थान केवल नासिका बताया गया है। यह ध्वनि आधुनिक भारतीय भाषाओं में नहीं मिलती, जहाँ हम इसका संकेत लिखते हैं वहाँ उच्चारण में कोई न कोई, वर्गों का पंचमाक्षर (ङ, ञ्, ण्, न्, म्) उपस्थित रहता है। प्राचीन भाषा के विषय में ऐसा अनुमान होता है कि

शब्द की ध्वनियों के मौखिक उच्चारण के उपरांत नासिकाविवर से शेष श्वास स्वतंत्र (और आपेक्षिक दृष्टि से पूर्वापर ध्वनियों से असंबद्ध) रूप से निकलती थी और यही अनुस्वार था।

य् और व् के दो रूप भाषाओं में मिलते हैं, एक तो पूर्ण व्यंजनरूप जो शब्द के आदि में या किसी अन्य व्यंजन के उपरांत आता है और दूसरा श्रुतिरूप जो दो स्वरों के बीच में *(यथा लिया, हुवा)*, विशेष कर क्रमशः *इकार* और *उकार* के उपरांत आता है। इनका श्रुतिरूप बहुत थोड़ी मात्रा का होता है। यदि ये ध्वनियाँ कहीं दो व्यंजनों या व्यंजन और स्वर के बीच में आवें तब तो बहुधा तद्रूप स्वर (इ और उ) का रूप ग्रहण कर लेती हैं। *साहित्यिक* का वर्तमान हिन्दी में वास्तविक उच्चारण *साहित्तिक* ही है अन्य कुछ नहीं, और इसी प्रकार यदि कोई शब्द *धात्वुक* बनता तो उसका उच्चारण हिन्दी में धात्तुक ही होता और कुछ नहीं।

प्राचीन भाषाविज्ञानियों ने स्पर्श व्यंजनों के दो भेद और माने हैं--*अल्पप्राण* और *महाप्राण*। प्राण अन्दर से आती हुई श्वास के बल का ही दूसरा नाम है। आपेक्षिक दृष्टि से ही अल्पता और महत्ता का प्रश्न है। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय क् ग् आदि का एक साधारण प्राण के साथ उच्चारण था और एक अधिक प्राणशक्ति के साथ। आज भी अँगरेज़ी आदि भाषाओं में जहाँ महाप्राणत्व बलाघात के रूप में प्रकट होता है बलाघातयुक्त क् ध्वनि ख् सी सुनाई देती है, जैसे *खात्र (कॉर)* और *खाट (कार्ट)* में। प्राचीन संस्कृत की ख् घ् ठ्, ढ् आदि ध्वनियाँ इसी प्रकार की महाप्राणत्व-प्राप्त ध्वनियाँ रही होंगी। उत्तर काल में तो भारतीय भाषाओं में ख् घ् आदि ध्वनियाँ केवल संयुक्त ध्वनियाँ *(क्+ह्, ग्+ह्)* हो गईं और म्ह्, न्ह्, ल्ह, र्ह्, ढ़् *(ड़्+ह्)* आदि संयुक्त ध्वनियों की श्रेणी में आ गईं।

इस स्थान पर एक बात का और विचार कर लेना चाहिए। ध्वनियों के उच्चारण में कभी-कभी एक मुख्य स्थान होता है और साथ ही साथ युगपत् एक गौण स्थान भी हो सकता है। स्वरों के विवरण में

हम देख चुके हैं कि अग्र स्वरों के उच्चारण में प्रायः ओठों का फैलना गौण रूप से मौजूद रहता है। इसी प्रकार व्यंजनों के उच्चारण में भी संभव है कि मुख्य स्थान कोई एक हो और गौण रूप से अन्य स्थान भी सहायता करता रहे। ऐसी अवस्था में ध्वनि का व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहेगा, वह संयुक्तत्व को प्राप्त हुई नहीं कही जा सकती। उदाहरण के लिए वैदिक-पूर्व आर्य भाषा में ओष्ठ्य-गौणत्व-प्राप्त कवर्ग और तालव्य-गौणत्व-प्राप्त कवर्ग के पृथक्-पृथक् अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। इनका विशेष विवरण आगे चल कर आर्य परिवार की आदिम भाषा के ब्योरे में मिलेगा। संस्कृत के वैयाकरण चवर्ग को स्पर्श वर्ण मानते आए हैं और पद-रचना में क् और च् का व्यत्यय (*पाक-पचति; जलमुक-जलमुचौ*) बराबर देखा जाता है। आधुनिक हिन्दी के उच्चारण में चवर्ग की ध्वनियाँ स्पर्श-संघर्षी हैं, केवल स्पर्श नहीं। इस विषमता की उपस्थिति में ऐसा अनुमान होता है कि वैदिक भाषा का चवर्ग, कवर्ग का ही तालव्य-गौणत्व-प्राप्त रूप था जिसमें च् आदि का स्पष्ट उच्चारण क् आदि के साथ य् की अल्पाति-अल्प श्रुति से मिश्रित होता होगा।

बारहवाँ अध्याय

ध्वनियों के गुण

मात्रा, सुर और **बलाघात**—ये तीन, ध्वनियों के **गुण** कहलाते हैं। **मात्रा** काल की उस मात्रा का नाम है जो किसी विशेष ध्वनि के उच्चारण में लगती है। व्यवहार की दृष्टि से मात्रा **ह्रस्व** और **दीर्घ** होती है। स्वरतन्त्रियों के तनाव के कारण **सुर** उत्पन्न होता है और साधारण रीति से सुर **उच्च, नीच** और **सम** कहा जाता है। किसी विशेष ध्वनि पर, वाक्य अथवा पद की अन्य ध्वनियों की अपेक्षा, उच्चारण में अधिक प्राण-शक्ति लगाना बलाघात कहलाता है।

भाषा की प्रत्येक ध्वनि के बोलने में कुछ न कुछ समय लगता है। प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञों ने केवल स्वरों की ही मात्रा का उल्लेख किया है और उनकी **ह्रस्व दीर्घ** और **प्लुत** संज्ञाएँ की हैं। एक-मात्रिक ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ और त्रिमात्रिक प्लुत कहलाते थे। सामान्यरूप से प्लुत स्वरों का भाषा में प्रयोग नहीं होता था, पुकारने आदि में वे काम में आते थे। अन्य दोनों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में प्राप्त है। आधुनिक अनुसन्धानों से इतना और मालूम हुआ है कि व्यंजनों के उच्चारण में भी काल की मात्रा से नाप हो सकती है और यहाँ भी ह्रस्व दीर्घ आदि संज्ञाओं का व्यवहार किया जा सकता है, उदाहरणार्थ *पका* में क् ह्रस्व और *पक्का* में क् दीर्घ, *कसक* में स् ह्रस्व और *कस्स* में स् दीर्घ है। व्यंजन का दीर्घत्व लिखाई में द्वित्व से व्यक्त किया जाता है। वस्तुतः देखा जाय तो हिन्दी में स्वरों की अपेक्षा व्यंजनों को ह्रस्व दीर्घ कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि उल्लिखित ह्रस्व और दीर्घ स्वरों (*अ आ* अथवा *इ ई* आदि) में स्थानभेद पर्याप्त है किन्तु ह्रस्व और दीर्घ (क् क्क् आदि व्यंजनों में स्थान-भेद बिल्कुल ही नहीं है, केवल उच्चारण में लगने

वाले समय की मात्रा में ही भेद है। ह्रस्व ध्वनि में दीर्घ ध्वनि की अपेक्षा ठीक-ठीक आधा ही समय लगता है, यह समझ बैठना भूल होगी। एक ही शब्द में एक ही ध्वनि दो विभिन्न स्थानों पर आने से ही मात्रा में भिन्न होगी। शब्द के अन्त में आने वाला स्वर बहुधा उसी शब्द में प्रयुक्त अन्य-स्थानीय उसी स्वर से मात्रा में कम होता है। *काला* शब्द का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। *पटवर्धन* शब्द में *प ट व* तीनों के स्वर ह्रस्व कहे जाते हैं पर ट के अ की अपेक्षा *प* का अ और उसकी भी अपेक्षा *व* का अ मात्रा में अधिक है। संयुक्त व्यंजनों अथवा दीर्घ व्यंजनों के पूर्व आने वाला स्वर मात्रा में दीर्घ होता है चाहे लिखाई में ह्रस्व ही अंकित किया जाय। स्पर्श ध्वनियों की अपेक्षा संघर्षी ध्वनियाँ मात्रा में दीर्घ होती हैं। बलाघात प्राप्त करके भी ध्वनि मात्रा में दीर्घ हो जाती है।

जब ह्रस्वत्व दीर्घत्व का ठीक-ठीक आधा नहीं होता और ह्रस्व ध्वनि लिखाई में ह्रस्व होती हुई भी उच्चारण में दीर्घ हो सकती है तब ह्रस्व और दीर्घ संज्ञाओं का व्यवहार किस प्रकार साध्य है? इसका उत्तर यही है कि हर भाषा का व्यवहार करने वाला जहाँ भाषा की अन्य बातें सीखता है वहाँ अपनी भाषा के ह्रस्व-दीर्घ के भेद को भी हृदयंगम करता रहता है और यदि किसी विशेष शब्द में अकार की मात्रा ३० इकाई और आकार की ४० इकाई हुई तो भी एक ही वाक्य में ३० इकाई के आकार के प्रयोग को ऊपर लिखे हुए ३० इकाई के अकार से भिन्न समझ लेगा। ऐसा भेद करना वह अपनी भाषा के प्रवाह से जानता है।

वर्तमान लिपियों में मात्रा को अंकित करने का कोई विशिष्ट साधन नहीं है, वर्णों की आकृति में (अ, आ; इ, ई; उ, ऊ) ही दीर्घत्व दिखाने के लिए अंतर कर दिया जाता है—दीर्घत्व का कोई विशेष संकेत या चिह्न नहीं। ध्वनि विज्ञानियों ने, रोमन लिपि में वर्णों के आगे विसर्ग का सा संकेत (:) लगा कर दीर्घत्व का और केवल एक विंदु (.) लगा कर अर्धदीर्घत्व का निर्देश किया है। अन्य विद्वानों ने वर्णों के ऊपर बेड़ी पाई (—) लगाकर दीर्घत्व को व्यक्त किया है। देव-

नागरी आदि भारतीय लिपियों में ये दोनों उपाय उपयुक्त साबित न होंगे यह स्पष्ट है। यहाँ छन्द में ऽ (दीर्घ) और। (ह्रस्व) चिह्न वर्ण के ऊपर लगाये जाते हैं।

वीणा सितार आदि संगीत के साधनों में हम देखते हैं कि तारों के तानने और ढीला करने से संगीत के स्वरों में विभिन्नता पैदा होती है। यही हाल स्वरतन्त्रियों का है। उनके तनने और ढीला होने से सुर उत्पन्न होता है। सुर केवल (स्वर आदि) ऐसी ध्वनियों में संभव है जिनमें घोष हो क्योंकि जब स्वरतन्त्रियाँ निष्क्रिय पड़ी होंगी तब उनमें तनाव या ढीलेपन का सवाल ही नहीं उठता। साधारण रीति से सुर के तीन भेद किए जाते हैं, उच्च, नीच और सम। तनाव को अधिकता देना **उच्च**, उसे कम करना **नीच** और उसे बराबर एक ही अवस्था में रखना **सम** सुर का लक्षण है और क्रमशः इन --तीन संकेतों से आधुनिक ध्वनिविज्ञानियों द्वारा व्यक्त किया जाता है। वैदिक ग्रन्थों के **उदात्त, अनुदात्त** और **स्वरित** भी सुर के ही भेद थे। इसी प्रकार ग्रीक भाषा के **ग्रेव, अक्यूट** आदि भेद भी सुर से संबंध रखते थे।

आर्य भाषाओं के प्राचीनकाल में वैदिक संस्कृत और ग्रीक में सुर के अस्तित्व के यथेष्ट प्रमाण हैं। परन्तु शब्दों के अर्थभेद के लिए इसका विशेष प्रयोग नहीं होता था। साथही उच्चारण की शुद्धता पर ज़ोर था ही। **इन्द्रशत्रु** शब्द में अस्थान सुर के प्रयोग से दैत्यों का नाश हो गया। यद्यपि वे देवों का नाश करने चले थे, यह कथा पुराण में प्रसिद्ध ही है। वर्तमान काल में आर्य भाषाओं में सुर का प्रयोग केवल मनोराग अथवा भावातिरेक, विधि, निषेध, प्रश्न, स्वीकृति, सन्तोष, विस्मय आदि को व्यक्त करने के लिए होता है, अर्थ में विभिन्नता नहीं आती। हिन्दी की भोजपुरी बोली में वाक्य के अन्तिम भाग में सुर का प्रयोग होता है, अन्य बोलियों में प्रयोग स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता। चीन और अफ्रीका की भाषाओं में सुर का अधिक मात्रा में प्रयोग होता है और सुरभेद से अर्थभेद हो जाता है। उदाहरण के लिए चीनी भाषा में **'ब'** शब्द में धीर सुर होने से उसका अर्थ होता है *महिला* उच्च होने से उसी **'ब'** का

उमेठना और तीक्ष्ण होने से अर्थ होता है **राजा का कृपापात्र**। अफ्रीका की फ़ुल नाम की भाषा में *'मिवरत'* का अर्थ होगा **मैं मार डालूँगा**, यदि अन्तिम *अ* का वही सुर हो जो वाक्य की शेष ध्वनियों का है किन्तु यदि उसी *अ* का सुर अन्य ध्वनियों की अपेक्षा उच्च हो तो उसी वाक्य का निषेधात्मक *(मैं नहीं मारूँगा)* अर्थ होगा। चीनी भाषा में आठ प्रकार का सुर वर्तमान है, ऐसा माना जाता है। फेरी लगा कर कपड़ा बेचने वाला चीन देश का निवासी जब हिन्दी बोलने का प्रयत्न करता है तब उसके उच्चारण में सुर के उदाहरण अनायास ही सुनाई पडते हैं।

बलाघात का प्रयोग आर्य भाषाओं (विशेषकर यूरोप की अँगरेज़ी आदि) में प्रचुर मात्रा में मिलता है। हिन्दी विद्वानों ने कभी-कभी इसको **स्वराघात** की संज्ञा दी है किन्तु सुर से इसकी विभिन्नता रखने तथा इसका स्वरूप ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिए बलाघात शब्द ही अधिक उपयुक्त है। **बलाघात** पद अथवा वाक्य में किसी विशेष ध्वनि अथवा ध्वनि-समूह पर अपेक्षाकृत अधिक प्राणशक्ति के व्यय करने से पैदा होता है। देवनागरी लिपि में इसे अंकित करने का कोई विशेष संकेत नहीं है, पर रोमन में जिस अक्षर या ध्वनि पर बलाघात हो उसके उपरान्त ऊपर की ओर, चिह्न लगा कर व्यक्त किया जाता है, अन्तर-राष्ट्रीय ध्वनि-विज्ञान-परिषद् (International Phonetics Association) की प्रथा के अनुसार बलाघात-प्राप्त ध्वनि या अक्षर के पूर्व ज़रा ऊपर की ओर खड़ी पाई (।) लिखकर बताया जाता है।

बलाघात किस ध्वनि या अक्षर पर हो और कितना, यह अलग-अलग भाषाओं के अलग-अलग प्रवाह के अनुसार प्रचलित है। पर सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि अघोष ध्वनियों पर सघोष ध्वनियों की अपेक्षा कुछ अधिक बलाघात होता है।

ध्वनियों के गुणों का महत्त्व प्रत्येक भाषा का अलग-अलग होता है, साधारण रीति से कोई भी भाषा तीनों का बराबर मात्रा में प्रयोग नहीं करती। हिन्दी में मात्रा (काल) का, अँगरेज़ी में बलाघात का और चीनी में सुर का महत्त्व है और इन भाषाओं में इन गुणों का व्यतिक्रम अर्थ का

अनर्थ कर सकता है। उदाहरण के लिए *मरना, मारना; पिटना, पीटना; सुर, सूर; पता, पत्ता; रसा, रस्सा* में अर्थभेद मात्राभेद के ही कारण है।

ये गुण भाषाओं के महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं। यदि कोई ध्वनियों का ठीक उच्चारण करता हुआ भी गुणों के उच्चारण में ग़लतियाँ करे तो उस भाषा के समझने में बड़ी कठिनाई हो जाती है। विदेशियों द्वारा निज भाषा के उच्चारण की असफलता का अनुभव प्रायः सभी करते हैं।

प्रत्येक भाषा में (काल की) मात्रा छन्द-शास्त्र के लिए, सुर संगीत-शास्त्र के लिए तथा बलाघात (विशेषकर रंगमंच पर की) वाग्मिता के लिए उपयोगी होता है।

तेरहवाँ अध्याय

संयुक्त ध्वनियाँ

वाक्यों में ध्वनियों के समूह का ही प्रयोग होता है। किसी विदेशी भाषा को सुनकर हम केवल इतना बता सकते हैं कि वाक्य यहाँ से आरम्भ हुआ और यहाँ अन्त हुआ। यह भी इसलिए कि प्रत्येक वाक्य के उपरान्त हर आदमी थोड़ी देर के लिए रुकता है। पर वाक्य के भीतर शब्दों और अक्षरों को अलग-अलग जमाकर रखना, विदेशी भाषा क्या, निज भाषा में भी तब तक संभव नहीं जब तक मनुष्य ने उस भाषा का अध्ययन न किया हो। किसी अपढ़ आदमी से कहा जाय कि तुम इतने धीरे-धीरे बोलो कि सब शब्द और अक्षर अलग-अलग ही रहें तो निश्चय है कि वह इस आदेश का पालन न कर सकेगा।

ऊपर हम देख चुके हैं कि प्रत्येक भाषा में इस सृष्टि के अनन्त ध्वनि-भंडार में से कुछ परिमित संख्या की ध्वनियों का प्रयोग होता है। और ये वाक्य में भिन्न-भिन्न संयोगों में उपस्थित होती हैं। व्यंजन और स्वर परस्पर आते रहते हैं। पर कौन-कौन व्यंजन एक साथ आ सकते हैं और कौन-कौन स्वर, यह हर एक भाषा अपने आप निश्चित करती है। उदाहरण के लिए, संस्कृत में कई व्यंजन तो पास-पास रह सकते थे (जैसे *कात्स्न्र्य धाष्ट्र्य* में) पर दो स्वर एक साथ नहीं रहने पाते थे, सन्धि के नियमों के अनुसार या तो बीच में कोई व्यंजन आ जाय (जैसे (*गो + एषणा = गवेषणा, पौ + अकः = पावकः*) या दोनों मिलकर एक हो जायँ (*कुसुम + अवलिः = कुसुमावलिः, गज + इन्द्रः = गजेन्द्रः*)। पर प्राकृत काल में प्रायः इसकी उलटी ही स्थिति आ गई। दो से अधिक व्यंजन एक साथ आने ही न पाते थे (*दंष्ट्रा > दाढा*) और दो भी आते तो शब्द के मध्य में, आदि और अन्त में नहीं; नहीं तो बहुधा एक ही

व्यंजन (ह्रस्व या दीर्घ) एक साथ रहता था। पर संस्कृत की प्रथा के विपरीत एक से अधिक स्वर एक साथ पास-पास रह सकते थे (*णेउरं, (अन्तेउरं, वप्पइराओ)*। इस प्रकार भाषा यही केवल निश्चय नहीं करती कि कौन-कौन सी ध्वनियों के संयोग वह ग्रहण करेगी बल्कि यह भी कि उनको कहाँ स्थान देगी।

सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि भाषा में सघोष और अघोष स्पर्श ध्वनियाँ साथ नहीं आने पातीं। यदि ऐसे संयोग की संभावना होती है तो वे दोनों समीकरण को प्राप्त होती हैं *भुज्+त=भुक्त, वाक्+जाल=वाग्जाल)*। महाप्राण ध्वनियाँ एक साथ उच्चारण में नहीं आतीं, एक अल्पप्राण कर दी जाती है (*भूक्*)। सघोष अल्पप्राण स्पर्श सघोष ही महाप्राण के साथ आ सकता है और अघोष अघोष के साथ। पंचमाक्षर सघोष अघोष दोनों के साथ आ सकते हैं और इसी प्रकार अंतःस्थ वर्ण भी। *श् स्* ऊष्म वर्णों के साथ अघोष स्पर्श ध्वनि ही आ सकती है, सघोष नहीं। सघोष *ह्* के साथ सघोष स्पर्श और अघोष के साथ अघोष स्पर्श आते हैं। संस्कृत में म् न् हकार के उपरान्त आते थे, प्राकृत और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में पूर्व (*ब्रह्म > ब्रम्हा, बरम्हा; चिह्न > चिन्ह, चीन्ह*)

जब दो स्वर पास-पास आते हैं तो उनके स्पष्ट उच्चारण के लिए बीच में ज़रा रुकना होता है, यथा *वप्पइराआ* के उच्चारण में और *अ इ* तथा *आ* और *आ* के बीच में यदि रुका न जाय तो *अ + इ* का उच्चारण ए हो जाय और *आ + आ* का *आ*। कभी-कभी न रुकने से बीच में *य्* या *व्* श्रुति आ जाती है (*राआ > राया*)। किन्हीं दो स्वरों का यदि अलग-अलग स्पष्ट उच्चारण न करके एक साथ उच्चारण किया जाय तो दोनों के इस संयोग को **मिश्रस्वर** कहते हैं। ऐसी अवस्था में जिह्वा एक स्वर के उच्चारण-स्थान से एक साथ दूसरे स्वर के उच्चारण-स्थान को पहुँच जाती है और ऐसे समय में संभावना यही होती है कि दोनों स्वरों के व्यक्तित्व में कमी होकर एक **संमिश्रित** स्वर का उच्चारण हो। उदाहरण के लिए **पइसा** शब्द के अ इ स्वरों में अ का उच्चारण **प्रथम**

आता है। इ सका स्थान मध्य (पश्च की ओर थोड़ा हटा हुआ) और प्रयत्न प्रायः अर्धविवृत है, तथा इ का स्थान अग्र और प्रयत्न संवृत और अर्धसंवृत के बीच का है। अब इन दोनों को एक साथ बोलने में जिह्वा अ के स्थान से तुरंत हट कर जाना चाहती है, और इ तक पहुँचना चाहती है पर बीच में अग्र और मध्य स्थान ग्रहण करके प्रायः अर्ध-विवृत प्रयत्न से ही उच्चारण कर देती है। परिणामस्वरूप मिश्र स्वर ऐ (मूल स्वर ऐ से भिन्न) दोनों के स्थान पर सुनाई पड़ता है। मिश्र स्वर में जिन दो मूल स्वरों से वह बना है उन दोनों का व्यक्तित्व कुछ न कुछ रहता है; यदि प्रथम का व्यक्तित्व प्रबल हुआ तो उसे, दूसरे स्वर के व्यक्तित्व की हीनता के कारण अवनायक मिश्र स्वर कहते हैं और दूसरा प्रबल व्यक्तित्व वाला है तो उसे उन्नायक मिश्र स्वर कहते हैं। *पैसा कैसा, पौना, ढेओंचा* आदि उन्नायक मिश्र स्वर के उदाहरण हैं तथा *देउता, नेइया* आदि अवनायक मिश्र स्वर के।

इस जगह हमें मूल स्वर और मिश्र स्वर के परस्पर अंतर का विचार कर लेना चाहिए। मूल स्वर में जिह्वा एक स्थिति में आरंभ से अंत तक रहती है और इसलिए स्वर का एकरस उच्चारण होता है, मिश्र स्वर में जिह्वा दो स्थितियाँ ग्रहण करती है, एक स्थिति में उच्चारण आरंभ होता है और दूसरी में उसका अंत होता है, इस कारण वह एकरस नहीं रहता। उदाहरण के लिए वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं में ए और ओ संकेतों द्वारा व्यक्त की हुई ध्वनियाँ मूल स्वर हैं, इनका उच्चारण एकरस होता है। संस्कृत में ये मिश्र कही जाती हैं, इससे प्रायः निश्चय ही समझना चाहिए कि उस समय का उच्चारण वर्तमान उच्चारण से भिन्न (संभवतः मिश्र ऐ और औ) रहा होगा।

संयुक्त ध्वनियों के छोटे से छोटे समूह को अक्षर कहते हैं और अक्षर की ध्वनियों का एक साथ (अति सन्निकटता) में उच्चारण होता है। प्राचीन-भाषा-विज्ञों का विचार था कि स्वर ही अक्षर बनाने में समर्थ होता है और जितने व्यंजन उसके साथ लिपटे हों उनको साथ लेकर वह

अक्षर कहलाता है। पर ऊपर हम देख चुके हैं कि म, न भी अक्षर बनाने में समर्थ हैं।

बोलते समय हमारे ध्वनियंत्र से ध्वनियों का प्रवाह-सा निकलता है। उस प्रवाह को अक्षरों में विभक्त करना भाषाविज्ञानी का कर्त्तव्य है। बहुधा लिखाई के ढंग से हम लोगों को भ्रम हो जाता है, विशेष कर देवनागरी आदि अक्षरात्मक लिपियों में *पापा, माशा, क्षिप्र, रस्सा* में *प्रायः पा। पा, मा। शा, क्षि। प्र* और *र। स्सा* इस प्रकार अक्षर-विभाग किया जायगा। पर उच्चारण पर थोड़ा भी ध्यान देने वाला *क्षिप्र* और *रस्सा* का अक्षर-विभाग *क्षिप्। र* और *रस्। सा* करेगा; *पा। पा* और *मा। शा* श को वह वैसा ही छोड़ देगा। परन्तु भाषाविज्ञानी और गहराई में जाता है। रस्सा के उच्चारण में स्पष्ट मालूम होता है कि दीर्घ स् का कुछ भाग प्रथम अक्षर में और और कुछ द्वितीय अक्षर में जाता है। इसी प्रकार *कुत्ता* के *त्* का कुछ भाग प्रथम अक्षर में और कुछ द्वितीय में। स् में तो यह विभाजन समझ में आ सकता है क्योंकि स् संघर्षी वर्ण है और उसका उच्चारण धारारूप में होता है, पर *त्* के विषय में कठिनाई है। उसका उच्चारण तो स्फोटात्मक है। उसमें श्रोत्रेन्द्रिय को स्फोट ही सुनाई पड़ता है, एक अविभक्त रूप में। धारा का आप विभाजन कर सकते हैं, मानसिक ही सही, पर स्फोट का विभाजन कैसे किया जाय? *त् प्* आदि स्फोटात्मक (स्पर्श) ध्वनियों के उच्चारण में तीन अवयव होते हैं—जिह्वा द्वारा उच्चारण स्थान की प्राप्ति (अर्थात् उस तक पहुँचने का प्रयत्न), उस स्थान पर कुछ काल तक स्थिति और फिर उस स्थान से झटके के साथ हटना। इसमें से अंतिम अवस्था ही हमें सुनाई देती है। **कुत्ता, कुप्पा, छक्का, बट्टा** आदि के *त्, प्, क्, ट्* का अन्तिम अवयव (स्फोट) दूसरे अक्षर के साथ जाता है और प्रथम अवयव (प्राप्ति) प्रथम अक्षर के साथ, द्वितीय अवयव क्षणिक अवस्थिति (मौन) इन दोनों को अलग-अलग कर देती है। इसी प्रकार *क्षिप्र* की पूरी प् न *क्षि* के साथ है न र के साथ। उसका

प्रथम भाग प्रथम अक्षर के साथ और तृतीय, द्वितीय अक्षर के साथ जायगा। इन्हीं उदाहरणों के अनुसार *पापा* और *माशा* में भी अक्षर-विभाजन करना चाहिए। *माशा* की *श्* का कुछ भाग प्रथम अक्षर में और कुछ द्वितीय में जायगा। *पापा* की दूसरी *प्* का प्रथम अवयव प्रथम अक्षर में शामिल होगा और तृतीय द्वितीय में। *प्* का द्वितीय अवयव विभाजक रहेगा। यह भाषा के प्रवाह के अनुकूल ही विभाजन हुआ। वाक्यों का परस्पर पृथक्करण हम दो वाक्यों के बीच के मौन से ही तो करते हैं। इसी आदर्श पर वाक्यांशों का भी विभाजन होना चाहिए। वाक्य के भीतर भी थोड़ा बहुत रुकना होता है यद्यपि वह वाक्यान्त के रुकने से, आपेक्षिक दृष्टि से, कम होता है और इसी प्रकार दो अक्षरों के बीच में भी अल्पाति-अल्प रुकना पड़ता है। इस रुकने का स्थान उन दो अक्षरों के बीच की मौन स्थिति (स्पर्श वर्णों का द्वितीय अवयव) या **श्रव्यता** की अल्पता होती है। स्वरत्व की अधिक मात्रा स्वरों में, उससे कम अंतस्थों में, फिर संघर्षी वर्णों में और क्रम से कम स्पर्श वर्णों में होती है। इस प्रकार प्रवाह में आई हुई ध्वनियों का विभाजन किया जा सकता है। भाषण में हमें निरंतर स्वरत्व का उत्थान और पतन सुनाई पड़ता है, इसमें स्वरत्व की अल्पता उसी प्रकार दिखाई देती है जैसे दो पहाड़ियों के बीच की बगड़ (तराई)। जैसे बगड़ दो पहाड़ियों के अलग-अलग अस्तित्व को जताती है उसी प्रकार स्वरत्व की अल्पता दो अक्षरों की सीमा निर्धारित करती है। जैसे दो बगड़ों के बीच के भाग को हम पहाड़ी कहते हैं, उसी प्रकार दो अल्प-स्वरत्व वाली ध्वनियों के बीच के ध्वनि-समूह को हम अक्षर कहते हैं।

यदि हम किसी ध्वनि-समूह की दो ध्वनियों के, बीच में उन दोनों से कम स्वरत्व रखने वाली ध्वनि के होने के कारण, पृथक्त्व का अनुभव करते हैं तब हम निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि वे दो ध्वनियाँ अलग-अलग दो अक्षरों की हैं।

इतना ध्यान रखना चाहिए कि स्वरत्व की मात्रा का ज्ञान अन्य ध्वनियों की तुलना की अपेक्षा पर निर्भर रहता है।

२१५

चौदहवाँ अध्याय

ध्वनिग्राम-विज्ञान—१

[PHONEMICS]

(भाषाओं को लिपिबद्ध करने की एक प्रणाली)

आधुनिक समय में भाषाविज्ञान की प्रगति जिन दिशाओं में हुई है, उनमें ध्वनिग्राम-विज्ञान का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। किसी भाषा के ध्वनिग्रामों के आधार पर वैज्ञानिक पद्धति से उस भाषा के लिए एक सुव्यवस्थित लिपि के निर्माण में जो सिद्धांत सहायता देते हैं, उनका सम्यक् विवेचन ध्वनिग्राम-विज्ञान के अंतर्गत होता है। भाषाविज्ञान की यह नवीन शाखा अमरीका में प्रायः अमरीकी विद्वानों की गवेषणा से विकसित हुई है। ध्वनिग्राम का विश्लेषण तो पिछली पीढ़ी के अमरीकी भाषाविज्ञानी ब्लूमफील्ड तथा एडवर्ड सैपीर कर ही चुके थे। उसके आगे की दिशाएँ खोजने में अमरीका के नवयुवक भाषाशास्त्रियों ने सराहनीय कार्य किया है। इन उत्साही विद्वानों में प्रमुख हैं—केनेथ एल० पाइक, बर्नर्ड ब्लॉख, ट्रैगर तथा ग्लीसन। आजकल अमरीका के विश्वविद्यालयों में जीवित भाषाओं के अध्ययन के लिए ध्वनिग्राम-विज्ञान के सिद्धांतों का प्रयोग बड़े मनोयोग से किया जा रहा है। वैसे तो इस क्षेत्र में अनेक विद्वानों ने महत्वपूर्ण कार्य किया है, परंतु इस विज्ञान के सबसे बड़े उन्नायक रहे हैं केनेथ एल० पाइक। उनकी पुस्तक 'फ़ोनीमिक्स' एक प्रकार से इस विज्ञान के लिए इंजील सदृश है।

जैसा ऊपर कहा गया है, ध्वनिग्राम की खोज तथा परिचय आधुनिक नहीं है। इस क्षेत्र में काफ़ी महत्वपूर्ण विवेचन पुराने विद्वान् कर चुके हैं। उनके सिद्धांतों के अनुसार ध्वनिग्राम ऐसी मिलती-जुलती ध्वनियों के समूह को कहते हैं जो एक-दूसरी से 'शब्दार्थ-भेदकारी विरोध'

प्रदर्शित न करें। यहाँ विरोध का अर्थ है कि यदि एक ध्वनि के स्थान पर दूसरी को रख दिया जाय, तो अर्थ-भेद पड़ जाय, जैसे हिन्दी **'कट'** और **'खट'** में 'क्' और 'ख्' का परस्पर शब्दार्थ-भेदकारी (Distinctive) या ध्वनिग्रामीय विरोध (Phonemic contrast) है। इसके विपरीत, अंग्रेज़ी में 'क्' और 'ख्' परस्पर विरोध नहीं प्रदर्शित करतीं। ये दोनों मिलती-जुलती ध्वनियाँ अंग्रेज़ी में एक ही ध्वनिग्राम के अंतर्गत हैं, क्योंकि यदि हम उदाहरणार्थ **'खट'** (Cut) को **'कट'** कह दें, तो अर्थों में कोई भेद नहीं पड़ता। हिन्दी भाषा में क् एक ध्वनिग्राम है, ख् दूसरा। क् ध्वनिग्राम के अंतर्गत हम इससे मिलती-जुलती अनेक ऐसी ध्वनियों को मानते हैं, जिन्हें व्यक्त करने के लिए हम स्वतन्त्र लिपि-चिह्नों की व्यवस्था सुविधापूर्वक नहीं कर सकते। यदि हम प्रत्येक उच्चरित ध्वनि के लिए एक अलग लिपि-चिह्न रखना चाहें तो यह एक प्रकार से असंभव होगा क्योंकि कोई भी दो व्यक्ति एक ही ध्वनि का उच्चारण एक प्रकार से नहीं करते और न एक ही व्यक्ति एक ध्वनि को सदैव एक ढंग से उच्चारित करता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि कोई भी ध्वनि किसी भी व्यक्ति द्वारा केवल एक बार ही उच्चारित हो सकती है, एक ही ध्वनि के एक ही व्यक्ति द्वारा किए गए दो उच्चारण एक से नहीं हो सकते। अतः संपूर्ण मानवीय ध्वनियों को अंकित करने के लिए हमें कितने लिपिचिह्न चाहिए इसकी कोई गणना ही नहीं हो सकती।

ध्वनिग्राम-विज्ञान के सिद्धांत इस भाषावैज्ञानिक अव्यवस्था को दूर करने के लिए बनाए गए हैं। वैसे तो सभी लिपियों को व्यावहारिक दृष्टि से एक वर्णमाला का चुनाव करना पड़ता है, परंतु यह चुनाव प्रायः वैज्ञानिक तथा व्यवस्थित नहीं होता। ध्वनिग्राम-विज्ञान के सहारे हम किसी भाषा-विशेष की अनेकानेक ध्वनियों में से कुछ निश्चित नियमों के आधार पर एक प्रतिनिधि ध्वनिसमूह को छाँट लेते हैं, और केवल इन्हीं ध्वनियों को अंकित करने के लिए लिपि-चिह्नों का निर्माण करते हैं। दूसरे शब्दों में, उस वैज्ञानिक-लिपि में हम ध्वनिग्रामों को तो चिह्नित करते हैं परन्तु ध्वनियों को नहीं। इन ध्वनिग्रामों को छाँटने की प्रक्रिया

का विवेचन ध्वनि-ग्राम विज्ञान में होता है। इस प्रकार ध्वनिग्राम-विज्ञान किसी भाषा की ध्वनियों का स्वतन्त्र रूप से परीक्षण करने के साथ-साथ उस भाषा की प्रतिनिधि तथा आवश्यक ध्वनियों के समूचे ढाँचे का भी एक स्पष्ट रूप हमारे सम्मुख उपस्थित करता है।

जर्मन देश के नव्य-वैयाकरणों ने जिन चार सिद्धांतों पर विशेष रूप से बल दिया था, उनमें से एक था जीवित बोलियों का सम्यक् तथा विस्तृत अध्ययन। ध्वनिग्राम-विज्ञान इन जीवित बोलियों को लिपिबद्ध करने की व्यवस्थित प्रणाली देने के साथ-साथ प्राचीन लिखित भाषाओं को लिपिबद्ध करने के लिए भी कुछ सुझाव हमें देता है। इस दृष्टि से भाषाविज्ञान में ध्वनिग्राम-विज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता बहुत अधिक है। इतने पर भी इस विज्ञान में अभी विद्वानों की बहुत आस्था नहीं है। इसके दो प्रधान कारण माने जा सकते हैं। एक तो यह कि यह अभी बहुत कुछ विकास की अवस्था में है, इसके सिद्धांत अभी तक अंतिम रूप से निश्चित नहीं हो सके हैं। इस विज्ञान के प्रमुख व्याख्याता भी अपने सिद्धांतों को कुछ शर्तों के साथ ही प्रस्तुत करते हैं। ध्वनिग्रामीय दृष्टिकोण से बहुत सीमित ढंग से अंग्रेज़ी की कुछ उप-भाषाओं को छोड़कर अन्य किसी जीवित या प्राचीन भाषा की अभी तक परीक्षा न हो सकने के कारण इसके सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिए एक काल्पनिक भाषा का सहारा लेना पड़ता है। इस भाषा को 'कलबा' की बोली कहते हैं। दूसरी बात इस संबंध में यह है कि इस विज्ञान के साथ अभी तक भाषाविज्ञान के किसी महान् पंडित का नाम नहीं जुड़ सका है। इन्हीं कारणों से इसके सिद्धांत अभी तक कुछ सन्देह की निगाह से देखे जाते हैं।

ध्वनिग्राम-विज्ञान बहुत कुछ अविकसित तथा अनिश्चित दशा में होने पर भी, अपनी प्रकृति में गणित से सादृश्य रखता है। इस विज्ञान के अध्येता को प्रायः ही गणित जैसे अभ्यास करने के लिए दिए जाते हैं। निष्कर्ष को क्रमबद्ध किया जाता है, अपवादों को अलग कर उनके कारणों को समझा जाता है। इसके सिद्धांतों को इतना स्थिर तथा

निश्चित बनाने का यत्न हो रहा है कि ध्वनिग्रामों को छाँटने की प्रक्रिया में ध्वनि के भाषागत वितरण पर उसके उच्चारण की अपेक्षा अधिक बल दिया जाता है। किसी भाषा में किसी ध्वनि-विशेष के वितरण को प्राय: गणित जैसे नियमों की सहायता से समझा जाता है, और इस वितरण के आधार पर ही यह निश्चित होता है कि वह ध्वनि वस्तुत: ध्वनि है अथवा ध्वनिग्राम। इस सम्बन्ध में उच्चारण के परम्परागत महत्व को भ्रामक कहकर ध्वनिग्राम-विज्ञान अस्वीकार करता है। इस विज्ञान की संपूर्ण प्रक्रिया कुछ मौलिक सिद्धांतों को मान कर चलती है। इन मौलिक तथा आधारभूत सिद्धांतों की संख्या वैसे तो अधिक है, परन्तु इनमें से भी चार सिद्धांत बहुत प्रमुख हैं--

१. ध्वनियों की प्रवृत्ति है कि वे अपने समीपवर्ती वातावरण-- से प्रभावित होती है। जीवित भाषा में ध्वनियों का उच्चारण हम स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग कभी नहीं करते। ध्वनियाँ क्रम से उच्चारित होती हैं। ऐसी दशा में ध्वनियाँ समीपवर्ती ध्वनियों से बराबर प्रभावित होती रहती हैं 'हनुमान' में 'ह' का उच्चारण 'हँ' के रूप में होता है। यह अनुनासिकता 'ह' का समीपवर्त्ती अनुनासिक ध्वनियों के कारण हुई है। इसी प्रकार बहुत-सी ध्वनियाँ एक-दूसरे में अंतर्लीन हो जाया करती हैं। ऐसी स्थिति में अन्तर्लीन हुई ध्वनि को लिपिबद्ध नहीं किया जाना चाहिए।

२. ध्वनि-समूह की प्रवृत्ति ध्वन्यात्मक साम्य की ओर होती है। किसी भाषा-विशेष की ध्वनियों की व्याख्या में उस भाषा का सामान्य ध्वनि-समूह सहायक होता है। उदाहरणार्थ किसी भाषा-विशेष में ध्वनिग्राम क्, ग्, च्, ज्, ट्, ड्, त्, द् तथा प् पाए जाते हैं। इन पर दृष्टि-पात करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस भाषा-विशेष के स्पर्श-व्यंजनों की माला में प्रत्येक अघोष स्पर्श के साथ उसके साथ वाला सघोष स्पर्श भी है। यह नियम अघोष स्पर्श प् के बारे में नहीं लागू होता अर्थात् इसके साथ के सघोष स्पर्श ब् का अभाव है। ऐसी स्थिति में ध्वनिग्राम-विज्ञान के द्वितीय आधारभूत सिद्धांत के अनुसार यह अभाव

सुननेवाले के किसी भ्रम के कारण भी हो सकता है चूँकि भाषा के ध्वनि-समूह की प्रवृत्ति साम्य की ओर होती है, अतः इस भाषा में प् के अतिरिक्त अन्य सभी स्पर्श व्यंजनों का अघोष तथा सघोष के युग्म में होना इस बात की ओर संकेत करता है कि अघोष स्पर्श प् के साथ का सघोष स्पर्श ब् भी इस भाषा में होना चाहिए। संभवतः सुननेवाले की गलती के कारण ब् भी प् ही समझ लिया गया हो।

३. ध्वनियों की प्रवृत्ति परिवर्तन (Fluctuation) की होती है। मनुष्य का ध्वनि-यन्त्र अपरिवर्तित रूप से ध्वनियों के एक रूप उच्चारण के लिए अयोग्य है। एक ही शब्द का दो बार उच्चारण वस्तुतः भिन्न-भिन्न रूपों में होता है। इस सिद्धांत के अनुसार किसी भाषा-विशेष की एक ध्वनि, बोलने वालों के बीच में किसी मिलती-जुलती ध्वनि का रूप धारण कर लेती है। किसी भाषा-विशेष के बोलने वालों के लिए त् तथा द् ध्वनियाँ परस्पर परिवर्तनीय हो सकती हैं। बोलनेवाले स्वतः इस अभेद के प्रति प्रायः सजग नहीं रहते, परन्तु किसी विदेशी श्रोता के लिए ध्वनियों का अन्तर सुनते ही स्पष्ट हो जाएगा।

४. किसी भाषा-विशेष के अपने ध्वनि-क्रम उस भाषा की संदिग्ध ध्वनियों की व्याख्या में सहायक होते हैं। इस नियम के अनुसार प्रत्येक भाषा के अपने विशेष ध्वनि-क्रम (Sound-sequence) होते हैं। दूसरे शब्दों में भाषाओं में ध्वनियों का क्रम, बहुत कुछ एक योजना के अन्तर्गत निश्चित होता है। उदाहरणार्थ किसी भाषा-विशेष में स्वर और व्यंजनों का वितरण साधारणतः इस प्रकार है—स्वर व्यंजन, व्यंजन स्वर। अब यदि इस भाषा के किसी शब्द में चार वर्ण हैं—स्वर व्यंजन. . .स्वर, और तीसरा वर्ण संदिग्ध है तो भाषा के सामान्य ध्वनि-क्रम के आधार पर हम यह निश्चित कर सकते हैं कि तीसरी ध्वनि व्यंजन है।

ध्वनिग्राम-विज्ञान के इन चार प्रमुख तथा अन्य गौण आधारभूत सिद्धांतों के अनुसार किसी भाषा-विशेष के ध्वनिग्राम छाँटे जाते हैं। ध्वनिग्रामों को छाँटने की प्रक्रिया ही इस विज्ञान की, भाषा-विज्ञान के

क्षेत्र में मौलिक देन मानी जा सकती है। जैसा कहा जा चुका है, इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसके अन्तर्गत ध्वनियों के उच्चारण को कोई महत्व नहीं दिया जाता। मतलब यह है कि उदाहरणार्थ 'प्' और 'फ्' उच्चारण की दृष्टि से तो दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं, पर इस बात का पता हमें इन दो ध्वनियों के अमुक भाषा में वितरण को देख कर ही चल सकता है कि ये दो ध्वनियाँ एक ही ध्वनिग्राम के दो परिस्थितिजन्य उपरूप (allophones) हैं (जैसे अँग्रेज़ी में) या दो अलग-अलग ध्वनिग्राम हैं (जैसे हिन्दी में)।

दो या अधिक ध्वनियों को एक ध्वनिग्राम के उपरूप होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—

(१) उनमें परस्पर ध्वन्यात्मक साम्य (phonetic similarity) होना चाहिए—स्थान का, या प्रयत्न का, या दोनों का। उदाहरणार्थ 'क्' और 'म्' में परस्पर ध्वन्यात्मक साम्य नहीं है, इसलिए ये दो ध्वनियाँ एक ध्वनिग्राम के अंतर्गत नहीं हो सकतीं। इसके विपरीत, 'क्' और 'ख्' (या 'क्' और 'ग्', या 'ङ्' और 'न्' आदि) में परस्पर उच्चारण में सादृश्य है, इसलिए ये दोनों ध्वनियाँ एक ध्वनिग्राम की सदस्य हो सकती हैं।

(२) एक ध्वनिग्राम की दो सदस्य-ध्वनियाँ इस प्रकार बँटी होती हैं कि उनमें से एक जहाँ आती है, वहाँ दूसरी नहीं आती। उदाहरणार्थ अँग्रेज़ी में 'फ्' बलाघातयुक्त स्वर के पूर्व आता है जब कि उसके पहले 'स्' न हो, जैसे 'फिन' (pin) में, और 'प्' तब आता है जब उसके पहले 'स्' हो, जैसे 'स्पिन' (Spin) में। pin को 'पिन' और Spin को 'स्फिन' कभी नहीं बोला जाता।

उक्त दूसरी विशेषता का एक अपवाद भी है। यदि किसी भी शब्द में जहाँ एक ध्वनि आती है वहाँ उसके बदले दूसरी भी प्रयुक्त की जा सके और शब्दार्थ बिल्कुल न बदले, तब भी उन दो ध्वनियों को एक ही ध्वनिग्राम के अंतर्गत माना जाता है, और वे ध्वनियाँ स्वच्छन्द परिवर्तन (free variation) में कही जाती हैं, जैसे अँग्रेज़ी के एक प्रकार में

अंतिम 'प्' को चाहे 'प्' बोल दें, चाहें 'फ्' (up) 'अप' या 'अफ' कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। ध्वनि में पड़ने वाले अनियंत्रित अवश्यम्भावी भेद भी इसी के अन्तर्गत हैं।

हिन्दी में एक दंतोष्ठ्य संघर्षहीन सप्रवाह 'व्' ध्वनि है (v), और दूसरी द्वयोष्ठ्य 'व्' (w) जिसका उच्चारण 'उ अ' जैसा होता है। इन दोनों में ध्वन्यात्मक साम्य इस प्रकार है कि दोनों ओष्ठ्य ध्वनियाँ हैं, दोनों सघोष हैं और दोनों स्पर्श या संघर्षी ध्वनियाँ नहीं हैं। इनका वितरण इस प्रकार है कि दोनों एक-सी ध्वन्यात्मक स्थितियों में कभी नहीं आतीं—

दंतोष्ठ्य 'व्'—शब्दारंभ में आती है, जैसे 'वहाँ' में। व्यंजन के पूर्व आती है, जैसे 'अवकाश' में। दीर्घ या द्वित्व होकर आती है, जैसे 'कव्वाली' में इत्यादि। इत्यादि।

द्वयोष्ठ्य 'व्'—आरंभिक व्यंजन के बाद आती है, जैसे 'स्वाद' में। 'उ' के बाद स्वर के पहले आती है, जैसे 'कनकउवा' में। इत्यादि।

निष्कर्षतः ये दो ध्वनियाँ एक ही ध्वनिग्राम के अंतर्गत हैं।

यदि भाषा में एक भी ऐसा उदाहरण मिल जाता है कि जहाँ दो ध्वनियाँ अलग-अलग अर्थों से युक्त शब्दों में एक सी ध्वन्यात्मक परिस्थितियों में आएँ, तो वे दो पृथक् ध्वनिग्राम होंगी, जैसे हिंदी 'ड़' और 'ड्', क्योंकि 'ड्' की भाँति ''ड़'' भी दो स्वरों के बीच में आती हैं, जैसे 'रेडियो' और 'सोडा' में, और शब्दान्त में भी, जैसे 'रोड' में। (जो लोग ऐसे शब्दों को 'रेड़ियो', 'सोड़ा' और 'रोड़' की भाँति बोलते हैं उनकी बोली में 'ड़' और 'ड्' ध्वनियाँ एक ही ध्वनिग्राम के अंतर्गत होंगी।) अब यह प्रश्न उठता है कि उदाहरणार्थ हिंदी 'व्' और 'व्' से ध्वनि किसे माना जाय और ध्वनिग्राम किसे माना जाय? इस सम्बन्ध में ध्वनिग्राम-विज्ञानियों का निर्णय है कि सम्बन्धित ध्वनियों में जिसका वितरण अधिक तथा कई स्थानों पर हो उसी को ध्वनिग्राम माना जाना चाहिए। इस दृष्टि से व् और .व् में हम व् को ध्वनिग्राम मानेंगे और

व़् को उसके अंतर्गत ध्वनि। ध्वनिग्राम-विज्ञान द्वारा निर्णीत लिपि में केवल ध्वनिग्रामों को ही अंकित किया जाता है, ध्वनियों को नहीं। फलतः हिंदी की ध्वनिग्रामीय लिपि में व़् को भी हम व् से ही अंकित करेंगे, जैसा कि देवनागरी लिपि में किया जाता है। इसी प्रकार से इस विज्ञान के सिद्धांतों द्वारा किसी भाषा की हम एक वर्णमाला स्थिर करते हैं, और उसे अंकित करने के लिए वैज्ञानिक पद्धति पर लिपि की व्यवस्था करते हैं। ध्वनिग्राम-विज्ञान के ये प्रारंभिक सिद्धांत अपनी प्रकृति में अत्यन्त सरल तथा सामान्य जान पड़ते हैं। परन्तु जीवित भाषाओं में इनके प्रयोग के समय बहुत सी नयी कठिनाइयों तथा जटिलताओं का सामना करना पड़ता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ध्वनिग्राम-विज्ञान के सिद्धांत को परखने की कोई विशिष्ट कसौटी हमारे पास नहीं है। जब तक जीवित भाषाओं पर इनका सफल प्रयोग न किया जाय, हम इसकी प्रामाणिकता के बारे में कुछ नहीं कह सकते। विज्ञान अपनी प्रकृति में शुद्ध होता है, उसका कोई तात्कालिक उद्देश्य नहीं होता। परन्तु इसके विपरीत ध्वनिग्रामों का विज्ञान सोद्देश्य है। वह ध्वनियों तथा ध्वनिग्रामों का सूक्ष्म विश्लेषण तो करता है परन्तु इस सारे विश्लेषण में उसका उद्देश्य रहता है भाषा के लिए एक वैज्ञानिक वर्णमाला तथा लिपि का स्थिरीकरण। यदि ध्वनिग्राम-विज्ञान अपने सिद्धांतों के आधार पर जीवित या प्राचीन भाषाओं के लिए व्यवस्थित वर्णमाला तथा वैज्ञानिक लिपि निश्चित कर सका तो उसकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध होगी।

पन्द्रहवाँ अध्याय

ध्वनिग्राम-विज्ञान–२

ऊपर कह आए हैं कि ध्वनिग्राम वस्तुतः किसी एक ध्वनि का वाचक न होकर एक सदृश ध्वनि-समूह का वाचक है। दूसरे शब्दों में यह उन सदृश ध्वनियों की उस परिधि का वाचक है, जिसके बाहर जाते ही उनमें से कोई ध्वनि उस परिधि की दृष्टि से अपने समूह से पृथक् प्रतिभाषित होने लगती है। इसीलिए ध्वनिग्राम की परिभाषा करना सरल कार्य नहीं है। इसकी परिभाषा में तीन विशेषताओं का सन्निवेश किया गया है।

ध्वनिग्राम ध्वनि से इस अर्थ में अलग है कि ध्वनि भाषा-निरपेक्ष होकर भौतिक घटना-मात्र को निर्दिष्ट करती है, जब कि ध्वनिग्राम एक भाषा-विशेष की संघटना की दृष्टि से सार्थक एक ध्वनिगत भेद मात्र को। ध्वनियों का वर्गीकरण स्थान, प्रयत्न प्रकार और अनुप्रदान (Secondary articulation) के द्वारा लगभग तीन लाख प्रकार से किया जा सकता है, जब कि प्रत्येक भाषा में सार्थक ध्वनि-भेदों की संख्या किसी भी दशा में ६० से अधिक नहीं होगी। वस्तुतः प्रत्येक भाषा-भाषी के मन में केवल यह सार्थक भेद ही बसते हैं और उसके कान इसीलिए अन्य भाषा के लिए अनभ्यस्त रहते हैं। यही कारण है कि अंग्रेज़ी भाषा-भाषी हिन्दी के 'त्' और 'ट्' का भेद नहीं कर पाता, 'तुम' को 'टुम' कहता है, और दूसरी ओर हिन्दी भाषा-भाषी अंग्रेज़ी के स्पर्श और संघर्षी और द् और ट् में अन्तर नहीं कर पाता। इसप्रकार ध्वनिग्राम की परिभाषा का पहला अंग यह है कि वह भाषा की अभिव्यक्ति संघटना के छोटे से छोटे साभिप्राय ध्वनि-समूह के क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरण के लिए संस्कृत में 'क्' का उच्चारण कोमल तालु के आगे

से भी हो सकता है, जब वह अग्र स्वर के साथ बोला जाय और पीछे से भी हो सकता है जब कि वह पश्चस्वर के साथ बोला जाय। पर उसके दोनों प्रकार के उच्चारण एक-दूसरे से विविक्त नहीं माने जाते। इसीलिए संस्कृत भाषा की दृष्टि में हम दो प्रकार के 'क्' केवल 'क्' ध्वनिग्राम के अन्तर्गत रखते हैं, और यह द्योतित करना चाहते हैं कि वस्तुतः 'क्' का भेद 'ख्' से है या 'ग्' से है, न कि 'क' में ही दो भेद हैं।

ध्वनिग्राम की परिभाषा का दूसरा अंग यह है कि वह जिस ध्वनि-समूह का वाचकत्व या प्रतिनिधित्व करता है, उस ध्वनि-समूह में उच्चारण की दृष्टि से परस्पर सादृश्य होता है। यह सादृश्य स्थानगत हो सकता है, यह प्रयत्नगत भी हो सकता है। जैसे 'दंत्य' 'त्' और वर्त्स्य स्पर्शों में स्थान के सामीप्य के, और दोनों के स्पर्श प्रयत्न के कारण तुल्यता है। हिन्दी में वर्त्स्य और मूर्धन्य 'ट' के बीच भेद नहीं है। इसलिए हिन्दी की दृष्टि में वर्त्स्य और मूर्धन्य 'ट्' सदृश ध्वनियाँ हैं। किन्तु इस सादृश्य के साथ एक और विशेषता भी इस परिभाषा में अभीष्ट है, जिसके बिना यह परिभाषा तर्कसंगत नहीं है। परिष्कृत रूप में हम अब ऐसी परिभाषा करते हैं कि ध्वनिग्राम ऐसी सदृश ध्वनियों के समूह का वाचक है 'जिनकी परिस्थितियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं, अंग्रेज़ी में इसको कंप्लीमेंट्री डिस्ट्रिब्यूशन (complementary distribution) कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि हम मान लें कि एक ध्वनिग्राम ५ ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करता है तो १ ध्वनि जिस परिस्थिति में आती है उस परिस्थिति में २, ३, ४, ५ नहीं आतीं, और क्रमशः इसी तरह जिनमें २, ३, ४, ५ आती हैं, उनमें उनके अलावा शेष चार नहीं आतीं। वस्तुतः भाषा की कोई भी ध्वनि अकेले नहीं आती, किसी न किसी दूसरी ध्वनि के परिवेश में ही आती है, इसीलिए उस ध्वनि के प्रभाव से वह मुक्त नहीं हो सकती। जब यह प्रभाव उसमें विभेद उपस्थित करता है, तब उन विभेदों को हम उस भाषा की दृष्टि से नगण्य मानते हैं और यह कहते हैं कि वस्तुतः यह विभेद उसकी परिस्थिति के कारण संलक्ष्य हैं। उस भाषा की दृष्टि से ये विभेद तात्विक

नहीं हैं, परन्तु जिस क्षण परिस्थिति के समान रहने पर भी दूसरी ध्वनियाँ जो जितनी भी सदृश क्यों न हों, उच्चारण होते ही अलग प्रतिमा, शब्द और अर्थ दोनों की उपस्थिति कर देती हैं, उसी क्षण हम उस ध्वनि को पृथक् ध्वनिग्राम के अन्तर्गत रखने के लिए विवश हो जाते हैं। उदाहरण के लिए अँग्रेज़ी में अल्पप्राण और महाप्राण स्पर्श ध्वनियाँ अलग-अलग ध्वनिग्राम न बनाकर एक-एक ध्वनिग्राम के अन्तर्गत ही रखी जाती हैं, क्योंकि, अँग्रेज़ी की, उदाहरणार्थ, महाप्राण 'ख्' ध्वनि केवल किसी भी शब्द के प्रारम्भ में किसी बलाघात युक्तस्वर के पूर्व आ सकती है जब कि अल्पप्राण 'क्' 'स्' के बाद आती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि अँग्रेजी के 'क्' और 'ख्' का वितरण परस्पर पूरक है। यह परस्पर पूरकता वस्तुतः भाषा की परिस्थितियों पर ही निर्भर है। भाषा में ध्वनि-भेद भाषातिरिक्त कारणों से भी हो सकते हैं, जैसे किसी के वाग्यन्त्र में कोई त्रुटि हो, कोई भावनातिरेक से बोल रहा हो, बोझ उठाने के बाद बोल रहा हो, मुँह में कुछ रखकर बोल रहा हो। ऐसे जो ध्वनि-भेद होंगे उनका सम्बन्ध भाषागत परिस्थिति से न होकर भाषा से बाहर की परिस्थितियों से है। और ऐसे भेदों को हम इसीलिए अनियंत्रित भेद (free variation) कहते हैं। इन अनियंत्रित भेदों का विश्लेषण भाषा-विज्ञान का विषय नहीं है। ध्वनि-विज्ञान का अध्येता इन भेदों का आकलन करके छोड़ देता है। इनके कारणों की मीमांसा में वह नहीं पड़ता। इसके विपरीत जो भेद भाषागत परिस्थितियों के कारण होते हैं और जिनके वितरण का क्षेत्र भाषा के अवयवों के द्वारा किया जा सकता है, उनका हम न केवल आकलन करते हैं बल्कि उनके कारणों का निर्देश भी। इस तरह अब हम परिभाषा में इस प्रकार संस्कार करते हैं—"ध्वनिग्राम ऐसी सदृश ध्वनियों का समूह ज्ञापित करता है जो एक-दूसरे के परिवेश में नहीं आतीं या जो नियंत्रित प्रकार से एक-दूसरे से भिन्न हो जाती हैं।" ध्वनिग्राम की परिभाषा की अन्तिम विशेषता यह है कि वह एक संघटना की इकाई होता है, इसलिए उस संघटना में जो प्रतिरूपता का

समनुहार (Pattern congruence) होता है, उसके वह विपरीत नहीं जाता। इसका अर्थ यह है कि मान लीजिए किसी भाषा में 'ड्' और 'ढ्' के वितरण के क्षेत्र एक-दूसरे के पूरक हैं और इस प्रकार किसी न किसी अंश तक उच्चारण-सादृश्य होने के कारण तथा 'ड्' और 'ढ्' में परिस्थिति-विरोध भी नहीं है तो इस कारण भी हम 'ड्' और 'ढ्' को एक ध्वनिग्राम के अन्तर्गत मान लेंगे। परन्तु यदि हम दूसरी स्पर्श श्रेणियों के घोष अल्पप्राण और घोष महाप्राण में विरोध (contrast) देखते हैं तो हमारी इस तीसरी कसौटी के कारण 'ड्' और 'ढ्' को एक ध्वनिग्राम में रखना उचित नहीं होगा। उस भाषा के प्रतिरूप का जो परस्पर समनुहार है वह 'ड्' और 'ढ्' में भी भेद की अपेक्षा रखता है 'ड्' और 'ढ्' को एक ध्वनिग्राम बना देने से यह समनुहार बिगड़ जाता है।

इस प्रकार अन्तिम रूप से ध्वनिग्राम की परिभाषा संक्षिप्तरूप में यह हुई :—

(१) ध्वनिग्राम ऐसा ध्वनि-समूह है, जो किसी भाषा में दूसरे ध्वनि-समूह से पृथक् प्रतीत होता है, और उसके पार्थक्य के अलावा दूसरे पार्थक्य का महत्व उस भाषा में ध्वनि के स्तर पर नहीं होता।

(२) ध्वनिग्राम जिस सदृश ध्वनियों के समूह को ज्ञापित करता है, वे ध्वनियाँ या तो एक-दूसरे के वितरण के क्षेत्र की पूरक होती हैं या उनका भेद अनियंत्रित कारणों से होता है।

(३) ध्वनिग्राम-राशि भाषा-विशेष की संघटनों के प्रतिरूप समनुहार का पालन करती है।

ध्वनिग्राम की यह परिभाषा शुद्ध धारणात्मक आकलन है और इस अंश तक इसकी कोई भी परिभाषा पूर्ण नहीं कही जा सकती। वस्तुतः हम ध्वनिग्राम का उच्चारण करते भी नहीं हैं और कानों में भी जो लहरें आती हैं वे लहरें ध्वनि की होती हैं, ध्वनिग्राम की नहीं। परन्तु हम किसी भी भाषा की किसी भी ध्वनि के उच्चारण के पूर्व और उसके श्रवण के पश्चात् उस ध्वनि के दूसरी ध्वनि के साथ जिस सम्बन्ध को मन में तात्त्विक और सार्थक समझते हैं, उसी के अनुसार प्रेरित होकर हम वैसा

प्रयत्न करते हैं और वैसे ही ग्रहण करते हैं। इसलिए हमारी मानसिक प्रक्रिया में ध्वनिग्राम ही रहता है, ध्वनि नहीं। ध्वनि तो ध्वनिग्राम के प्रतिव्यंजक मात्र है और ध्वनिग्राम शब्दार्थ की सम्पृक्त प्रतिमा के प्रतिव्यंजक है। दूसरे शब्दों में प्रयत्न के प्रारम्भ और ग्रहण दोनों ही ध्वनिग्राम प्रेरित होते हैं।

ध्वनिग्राम के मुख्यतः दो भेद किए जाते हैं—खंड-रूप (Segmental) और अखंड-रूप (Supra Segmental)। खंड-रूप से हमारा तात्पर्य ऐसे ध्वनिग्रामों से है, जो दूसरे ध्वनिग्रामों से समय एवं प्रयत्न में खंड-खंड कर के विश्लेषित किए जा सकते हैं, और अखंड-रूप से हमारा तात्पर्य उन ध्वनिग्रामों से है, जो खंड-रूप ध्वनिग्रामों से पृथक् होते हुए भी उनके बिना नहीं आ सकते, अर्थात् जो उनके साथ समकालिक और सहप्रयत्नकृतरूप से ही उपस्थित हो सकते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी में 'इ' और 'ई' को हम लें। 'इ' और 'ई' में भेद मात्रा का है। यह मात्रा वस्तुतः ध्वनिग्राम के उच्चारण-काल की ही मापदंड है। अपेक्षाकृत उसी अवस्था में उसी स्थान में जीभ को अधिक समय तक रखने से दीर्घ उच्चारण होता है और कम समय तक रखने से ह्रस्व उच्चारण होता है। अब इस मात्रा के लिए अलग से प्रयत्न या खंड-रूप ध्वनिग्राम के अलावा कोई समय नहीं लगता। इसलिए हम 'इ' और 'ई' को प्राचीन संस्कृत वैयाकरण पाणिनि के अनुसार एक ध्वनिग्राम रखेंगे, पर उनके परस्पर भेद को ज्ञापित करने के लिए मात्रा को एक अलग विवेचक गुण मान लेंगे। इस प्रकार अखंड-रूप ध्वनिग्राम खंड-रूप ध्वनिग्राम का गुण होता है। अधिक मोटे तौर से समझना चाहें तो खंड-रूप ध्वनिग्राम व्यक्त है और उसकी अपेक्षा अखंड-रूप अव्यक्त। कुछ विद्वानों ने अखंड-रूप ध्वनिग्राम को ध्वनिग्राम-गुण ही माना है, ध्वनिग्राम नहीं, और उसे ध्वनिग्राम का छन्द (अन्तर्निहित गुण) (Prosodic feature) माना है।

खंड-रूप ध्वनिग्राम-राशि प्रायः दो भागों में विभक्त की जाती है, स्वर एवं व्यंजन। यह विभाजन वस्तुतः ध्वनि-भेद पर न आधारित होकर

अक्षर-रचना (Syllabic Structure) पर आधारित है। अन्तःस्थ (Semi Vowel) वस्तुतः भिन्न-भिन्न प्रकार के आचरण के कारण कभी स्वर के अन्तर्गत कभी व्यंजन के अन्तर्गत रखे जाते हैं, पर उस दशा में वे दोनों प्रकार की ध्वनिग्राम-राशियों में अलग-अलग ध्वनिग्राम के रूप में रखे जाते हैं। जैसे संस्कृत में ऋ, ऌ तथा र्, ल् क्रमशः स्वर-संघटन और व्यंजन-संघटन में रखे गये हैं। इनका अन्तर केवल इनकी संवहन क्षमता का ही है। अपने साथ दूसरे व्यंजनों का संवहन करने में सक्षम हैं अन्यथा ऋ र्, ऌ और ल् ये दोनों युग्म एक ही प्रकार के एक ही स्थान से निर्गत होने वाले घोष, विवृत ध्वनि-समूह के ज्ञापक हैं।

स्वर-संघटना में प्रायः दो प्रकार के स्वर आते हैं, शुद्ध (monophthong) और मिश्र (diphthong)। मिश्र-स्वर, शुद्ध स्वर और श्रुति के योग से बना हुआ एकाक्षर स्वर होता है, जैसे संस्कृत में ऐ, औ। अंग्रेज़ी में संधि-स्वरों की संख्या संस्कृत की अपेक्षा अधिक है और इसलिए लाघव की दृष्टि से अंग्रेज़ी में ९ मूल स्वरों के अलावा हम य्, व् और ह् श्रुतियों की कल्पना कर लेते हैं।

i इ	ɪ ई	u उ
e ए	ə अ	o ओ
æ ऐ	a आ	ɔ औ

और इसप्रकार स्वर-ध्वनिग्रामों की संख्या १२ में ही सीमित हो जाती है। संस्कृत में चूँकि केवल ऐ और औ ये ही दो संधि अक्षर हैं इसलिए श्रुतियों (Glide) की कल्पना न करके इन्हीं को हम दो ध्वनिग्राम मान लेते हैं। स्वर-संघटना तथा श्रुति के अलावा मात्रा (length), सुर (संगीतात्मकता), (pitch) और बल (Stress) जैसे अतिरिक्त

गुण जिन्हें हम अखंड रूप ध्वनिग्राम कहते हैं, भी हैं। अंग्रेज़ी में श्रुति की सार्थकता है, मात्रा की नहीं। इसलिए अंग्रेज़ी में हम श्रुति-ध्वनिग्राम की कल्पना करते हैं मात्रा को विवेचक नहीं मानते, और मात्रा को ध्वनिग्राम नहीं मानते। संस्कृत में ऐ और औ को पृथक् ध्वनिग्राम मान लेने के बाद हमें श्रुति को अलग ध्वनिग्राम मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

अ – आ – अ ३
इ – ई – ई ३
उ – ऊ – ऊ ३
ऋ – ॠ

इन भेदों को मात्रा पर आवृत मानकर और अ इ उ ऋ को तीन मात्रा-भेदों में ३ मात्रा रूप खंड ध्वनिग्राम मानते हैं।

इसी प्रकार वैदिक संस्कृत में स्वराघात के तीन स्तर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित जब एक-दूसरे से विविक्त दीखते हैं और भाषा की संघटना में हम इस विविक्तता का प्रमाण भी पाते हैं तो उन्हें भी हम ३ सुर-रूप अखंड ध्वनिग्राम परिकल्पित कर लेते हैं। लौकिक संस्कृत में यह सुर-भेद अपनी सार्थकता खो बैठा और इसलिए वहाँ पर हम कह देते हैं कि लौकिक संस्कृत में सुर ध्वनिग्राम नहीं है। अंग्रेज़ी भाषा के बलाघात के ४ स्तर, प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ—चारों की कल्पना इसलिए करते हैं कि ये चारों स्तर एक-दूसरे से विविक्त हैं। इन अखंड-रूप ध्वनिग्रामों को कुछ लोग विशेषाधायक गुण (attributes) भी कहते हैं। कुछ ऐसे भी अखंड-ध्वनिग्राम होते हैं, जो एक स्वर या एक अक्षर तक सीमित न रहकर स्वर-समूह या अक्षर-समूह को व्याप्त करके आते हैं। ऐसे अखंड-रूप ध्वनिग्रामों के दो प्रकार हैं—

(१) काकु (Intonation)
(२) विवृति (Juncture)

काकु और विवृति की मीमांसा अभी हाल ही में शुरू हुई है और इन्हें ध्वनिग्राम-राशि के अन्तर्गत ग्रहण करने में पुराने विचारों के लोग

अभी संकोच करते हैं, पर इनसे ध्वनिग्राम-राशि को ग्रहण करन स भाषा की वाक्य-संघटना को समझने में अधिक सहायता मिलती है। हम यहाँ विस्तार में न जाकर केवल इतना ही संकेत कर देना चाहते हैं कि काकु-भेद और विवृति-भेद से शब्दार्थ में बहुत अधिक भेद आ जाता है। एक ही ध्वनिग्राम-विन्यास भिन्न-भिन्न काकु में यदि उच्चरित हो तो वही सामान्य कथन भी हो सकता है, वही आक्षेपमय कथन भी हो सकता है और वही प्रश्न भी बन सकता है। उदाहरण के लिए--"आप बड़े बहादुर हैं" को तीन काकुओं से तीन अर्थ-प्रदान किये जा सकते हैं--

(१) आप बड़े बहादुर हैं। सामान्य कथन

(२) क्या आप बड़े बहादुर हैं?—प्रश्न

(३) आप बड़े बहादुर अपने को झूठमूठ कहते हैं—आक्षेप वचन

इसलिए एक ही वाक्य में तीन काकुओं की परिकल्पना करनी पड़ेगी विवृति के चार अभिधान हो सकते हैं, अल्प (Open transition or plus juncture), निलम्बित (Sustained), आरोही (Rising) तथा अवरोही (Falling)। दो शब्दों के बीच में अल्प विवृति होती है। जैसे संस्कृत के ये दो वाक्य लें--

न तेन लिखितो लेखः=उसने लेख नहीं लिखा।

नतेन लिखितो लेखः=उसने झुक कर लेख लिखा।

इनमें सिवाय इसके कि पहले वाक्य में '*न*' और '*तेन*' के बीच में एक अत्यल्प विवृति अर्थात् अवकाश की कल्पना करें, दूसरा कोई भेद दूसरे वाक्य से ध्वनिग्राम के स्तर पर नहीं सोच सकते, क्योंकि दोनों वाक्यों में प्रयुक्त ध्वनिग्राम राशि बिल्कुल एक है। निलंबित विवृति को हम लिखने में प्रायः अल्प विराम से घोषित करते हैं। साधारणतः आरोही विवृति को प्रश्नवाचक चिह्न से और अवरोही को पूर्ण विराम से दिखाया जाता है।

व्यंजन-ध्वनिग्रामों की संघटना में हम ध्वनिग्रामों का वर्गीकरण मुख्यतः स्पर्श, संघर्षी और विवृत इन तीन श्रेणियों में करते हैं व्यंजनों के वैरूप्य का चरम उत्कर्ष चिपेव्यन भाषा में मिलता है, जिसमें स्पर्श एवं

संघर्षी व्यंजन ध्वनिग्रामों की संख्या ४० है और सबसे अधिक अपकर्ष हवाई द्वीप की भाषा में मिलता है, जिसमें संघर्षी व्यंजन नहीं हैं और केवल दो स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम है। इस प्रकार व्यंजन ध्वनिग्रामों की संघटना के स्तरों में अन्तर की गुंजाइश बहुत ज्यादा है। अँग्रेज़ी में

p t k b d g č ǰ f θ v δ
प्‌ त्‌ क्‌ ब्‌ द्‌ ग्‌ च्‌ ज्‌ फ़्‌ थ़्‌ व्‌ द़्‌
s š z ž h y w r l m n ŋ
स्‌ श्‌ ज़्‌ फ़्‌ ह्‌ य्‌ व्‌ र्‌ ल्‌ म्‌ न्‌ ङ्‌

कुल २४ व्यंजन ध्वनिग्राम हैं और संस्कृत में

क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ त थ द ध
प फ ब भ ङ ण न्‌ म्‌ श ष स ह य र ल व।

३२ व्यंजन ध्वनिग्राम हैं। इन दोनों भाषाओं की व्यंजनराशि की तुलना करने से तीन चीजें स्पष्ट प्रतीत होती हैं—(१) संस्कृत में अल्पप्राण और महाप्राण में विरोध या वैरूप्य है जो अंग्रेज़ी में नहीं है (२) संस्कृत में दन्त्य और मूर्धन्य में वैरूप्य है, जो अंग्रेजी में नहीं है। (३) अंग्रेज़ी में प्‌ त्‌ द्‌ का वैरूप्य क्रमशः संघर्षी फ़्‌ थ़्‌ द़्‌ से है, जो संस्कृत में नहीं है। (४) संस्कृत में ऊष्म स्‌ श्‌ ष्‌ ध्वनिग्रामों में घोष-अघोष का भेद नहीं है, जब कि अंग्रेज़ी श्‌ स्‌ में है। इसप्रकार प्रत्येक भाषा में, हम यह कह सकते हैं कि वैरूप्य और सारूप्य के स्तर भिन्न-भिन्न होते हैं और इसी कारण हम एक भाषा के ध्वनिग्राम को दूसरी भाषा के ध्वनिग्रामों के द्वारा ज्ञापित नहीं कर सकते।

ध्वनिग्राम की परिभाषा और भेदों को समझ लेने के बाद उसका विश्लेषण आसान हो जाता है। ध्वनिग्राम-विश्लेषण करते समय तीन प्रकार के खतरों से बचने की ज़रूरत है—(१) अतिभेद न किया जाय अर्थात् जो भेद उस भाषा-विशेष में सार्थकता नहीं भी रखते हों, उनको हम अपने ग्रहण के सूक्ष्म संकेत के कारण पृथक् ही ध्वनिग्राम रख दें। ऐसा प्रायः तब होता है, जब हम ऐसी भाषा के अभ्यस्त रहते हैं, जिसमें वे भेद सार्थक हों और जिस दूसरी भाषा का विवेचन करना हो,

उसमें वे भेद सार्थकता न रखते हों। (२) अत्यधिक अभेद से बचना। हम ऐसी भाषा के अभ्यस्त होते हैं, जिसमें कुछ ध्वनि-समूह भिन्न नहीं जान पड़ते, तो उस भाषा का विवेचन करते समय जिसमें उन ध्वनि-समूहों में भेद सार्थकता रखते हैं, प्रायः अभेद भी करने लगते हैं। (३) हम मिश्र और संधि ध्वनिग्रामों को गलत ढंग से विकलित करें। उदाहरण के लिए जहाँ जर्मन में ट् श् एक ध्वनिग्राम न होकर दो ध्वनिग्रामों का योग है, वहाँ अमरीकी अंग्रेज़ी बोलने वाले इनसे केवल एक ध्वनिग्राम च् ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि उनकी भाषा में च् दो ध्वनिग्रामों का संध्यक्षर नहीं है। या जैसे पूर्वी हिन्दी भाषा-भाषी cat में आने वाले स्वर को संध्यक्षर मान सकते हैं जब कि अंग्रेज़ी में वह शुद्ध स्वर है।

इन खतरों से बचते हुए हम जब ध्वनिग्राम-विश्लेषण करने बैठते हैं तो हम पहले ध्वनियों को जैसा ग्रहण करते हैं, वैसा ही अंकित करते चले जाते हैं। यह अंकन सूक्ष्म होता है और इसको सूक्ष्म लेखन (Narrow transcription) कहते हैं और इनको बड़े कोष्ठ [ ] के भीतर रखते हैं। बाद में हम प्रत्येक ध्वनि के परिवेशों का आकलन करते हैं और यदि हमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि दो सदृश ध्वनियों के परिवेश एक-दूसरे के पूरक हैं तो हम उन दो सदृश ध्वनियों को एक ध्वनिग्राम के अन्तर्गत रखकर आगे बढ़ते हैं। पूरी ध्वनिग्राम-राशि को इस तरह वर्गबद्ध करके पुनः उनकी संघटना की तुलना करते हैं और अन्त में ध्वनिग्राम-राशि का निश्चय करते हैं। अंतिम रूप से निर्धारित ध्वनिग्रामों को हम दो तिर्छी / / रेखाओं के बीच में रखते हैं और पूरक वितरण को इस प्रकार द्योतित करते हैं—

अँग्रेज़ी में /क/ [क^ह] आद्य स्थिति में

तथा [क] स् के बाद

और क ध्वनिग्राम के अंतर्गत दो परिस्थितिजन्य उपरूपों या ध्वनिग्राम-

व्यष्टियों Allophones को रखते हैं। हम विश्लेषण करते समय अनियंत्रित भेदों की सूचना-मात्र देकर छोड़ देते हैं, क्योंकि उनके कारण भाषागत नहीं हुआ करते। ध्वनिग्राम भेद पर विशेष बल देने के कारण ही देवनागरी लिपि संस्कृत भाषा के लिए वैज्ञानिक लिपि कही जाती है।

सोलहवाँ अध्याय

ध्वनि-विकास

गत पृष्ठों में भाषा के विकास पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि भाषा के प्रत्येक अवयव, ध्वनि, अर्थ, वाक्यविन्यास आदि का विकास परिवर्तन के रूप में बराबर होता रहता है और इसका मूल कारण प्रयत्न-लाघव या सुविधा है। ध्वनियों के परिवर्तन में यह कारण विभिन्न प्रकार से काम करता रहता है। यह प्रयत्न-लाघव तरह तरह से व्यक्त होता है। पीछे बताया गया *मंगलाचार* के *चार* के स्थान पर *चारि* और *कमांडर* की जगह *कमंडल* का उच्चारण भी मस्तिष्क की शिथिलता और इसलिए प्रयत्न-लाघव का ही उदाहरण है। सादृश्य से भी विकास होता है। जब *ग़रीब* की जगह *गरीब* और *सिग्नल* की जगह *सिंगल* बोला जाता है, तब विदेशी अपरिचित ध्वनियों के स्थान पर वैसी ही निकट-तम परिचित ध्वनियों या ध्वनि-समूहों के प्रयोग में भी प्रयत्न-लाघव ही छिपे रूप से काम कर रहा है। विदेशी अपरिचित ध्वनि का उच्चारण कष्ट-साध्य था, उसके सदृश चिरपरिचित स्वदेशी ध्वनि का सरल। प्रयत्न-लाघव केवल बोली हुई ध्वनियों के परिमाण को कम ही करे, ऐसी भी बात नहीं है। *छोटा लोटा* की जगह जब *छोटा वाला लोटा* कहा जाता है, तब साफ़ ही अधिक ध्वनियाँ बोली गईं। या जब *बेटा* की जगह *बेटवा* कहा गया तब भी कुछ अधिक ध्वनि निकली। पर इन विस्तृत ध्वनि-समूहों के बोलने ही में मस्तिष्क को कुछ अधिक आराम मिला, इसलिए यहाँ भी मूल कारण प्रयत्न-लाघव ही है।

सहसा यह कह देना कि अमुक ध्वनि अथवा अमुक ध्वनि-गुण का उच्चारण सहल है और अमुक का कठिन, ज़रा मुश्किल बात है। ध्वनियों की सरलता और कठिनाई भाषा के प्रवाह पर निर्भर है।

हिन्दी वालों के लिए फ़्, .थ्, .द्, ज़्, आदि संघर्षी सघोष अथवा अघोष ध्वनियाँ जितनी ही कठिन हैं, उतनी ही अंगरेज़ी वालों के लिए हमारी दन्त्य *त्, थ्, द्, ध्*, अथवा फ़ारसी वालों को हमारी *ख्, घ्, थ्, ध्*, आदि महाप्राण। हिन्दी में ही बोलियों के अनुसार, किसी को *चन्दन* की जगह *चन्नन* और *अँधारी (अँधेरी)* की जगह अन्हारी सहल मालूम पड़ता है तो दूसरे को इसके विपरीत *जोन्हय्या* की जगह *जोंधय्या* और *कन्हय्या* की जगह *कँधय्या* अधिक सहल है। वैदिक भाषा-भाषी जिस ऋ को अनायास स्वाभाविक रूप से बोल सकते थे, उन्हीं के उत्तराधिकारी वर्त्तमान भारतीयों में इस ध्वनि का शुद्ध उच्चारण करने वाला तलाश करने पर भी नहीं मिलता। हिन्दी की कुछ पच्छिमी बोलियों में दो स्वरों के बीच में आनेवाला हकार ग़ायब होता दिखाई देता है *(रहता>रैता)* तो कुछ अन्य बोलियों में हकार आता हुआ नज़र आता है *(तैरता>तहेरता)*। इसप्रकार कवि के शब्दों में शब्द-ब्रह्म हम लोगों से खिलवाड़-सा करता दिखाई देता है। नीचे ध्वनि-विकास का स्वभाव दिया जाता है।

(१) ध्वनि-विकास बहुत धीरे-धीरे मन्दातिमन्द गति से चलता रहता है। संस्कृत का *अग्निः* आज *आग* के रूप में दीखता है। इसके बीच के रूप *अग्गी, अग्गि, आगि*; आदि मिलते ही हैं। परन्तु *अग्निः* और *अग्गी* के बीच में न जाने कितनी सदियाँ लगी होंगी। और फिर अन्तिम ई का ह्रस्व इ और उससे फिर लोप हो जाना यह भी कम समय का द्योतक नहीं। यदि ई की कालमात्रा ४० इकाई रही होगी तो उसको शून्य तक पहुँचने में कई सौ वर्ष लगे होंगे। इसप्रकार का ध्वनि-विकास अपने आप मनुष्य-समुदाय के अनजान में ही हुआ करता है। यदि जान-बूझ कर होता तो भाषा के समझने में दिक्क़त होती और लोग इसको रोकते। यह अनायास अपने आप होता रहता है और बहुत धीरे-धीरे होने के कारण ही मालूम नहीं पड़ता। मालूम तो तब होता है, जब भाषाविज्ञानी बैठकर उस भाषा के विकास का अध्ययन करता है, तब वह इस परिवर्तन पर दृष्टि डालता है।

(२) ध्वनि-विकास शनैः-शनैः और अनजान में तो होता ही है वह एक सुसंगठित मनुष्य-समुदाय में सर्वत्र व्यापक होता है। यह नहीं कि वह समुदाय के दस व्यक्तियों या परिवारों में तो हो रहा हो और शेष अछूते छूट गए हों। ध्वनि-विकास की विभिन्नता मनुष्य-समुदाय की सुश्लिष्टता की कमी की द्योतक होती है। यदि दो स्वरों के बीच में आने वाली त् ध्वनि का महाराष्ट्री प्राकृत में लोप और शौरसेनी में द् आदेश मिलता है तो इतना निश्चय समझना चाहिए कि इन दोनों प्राकृतों के बोलने वाले भिन्न-भिन्न प्रदेशों में रहते थे और एक में उपर्युक्त परिवर्तन की गति तीव्र थी और दूसरे समुदाय में मन्द। संस्कृत *गतः* का स्थानापन्न ब्रज में *गओ* और खड़ी बोली (हिन्दुस्तानी) में *गया* भी प्रदेश और मनुष्य-समुदाय की विभिन्नता ही बताता है। यह ध्वनि-विकास किसी की *नक़ल* करने का परिणाम नहीं होता क्योंकि वैसी अवस्था में कुछ लोग ही तो नक़ल करते, सभी न करते, न कर पाते और परिवर्तन में विभिन्नता दिखाई पड़ती। और फिर नक़ल अनजान में तो होती नहीं।

(३) ध्वनि की, वाक्य अथवा शब्द में जो परिस्थिति होती है उसके अनुसार ही उसका विकास होता है। ध्वनि शब्द के आदि में है, मध्य में है या अन्त में, आगे पीछे समान ध्वनियाँ हैं या असमान, स्वयं स्वर है या व्यंजन, अनुनासिक है या केवल मौखिक इत्यादि बातों पर ध्यान देना पड़ता है। संस्कृत के *स्नान, सप्त, वत्स,* सब में स् है पर प्राकृत में इन शब्दों के उत्तराधिकारी *ण्हाण, सत्त, वच्छ* मिलते हैं और एक ही ध्वनि स् के तीन रूप (ह्, स्, छ्) अलग-अलग स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। संस्कृत के *ततः, कति, भवन्ति* के प्राकृत रूप *तओ, कइ, होन्ति* हैं और यहाँ भी त् के बारे में परिणाम की विभिन्नता नज़र आती है। इससे यह स्पष्ट है कि एक ही ध्वनि की विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न विकास होता है। पर बिल्कुल ही एक ही परिस्थिति में केवल एक ही विकास होना चाहिए। यदि शब्द के आदि का अन्य व्यंजनों से असंयुक्त स् शौरसेनी प्राकृत में ज्यों का त्यों वर्तमान

रहता है तो सभी शब्दों में उस परिस्थिति में वर्तमान रहना चाहिए; (*सप्त* > *सत्त*, *सर्प* > *सप्प*, *सूत* > *सूद*, *सेवते* > *सेवदि*, आदि)। दो स्वरों के मध्य का त्स्-यदि *वत्स* में -च्छ् के रूप में परिणित होता है तो *मत्स्य* > *मच्छ*, *उत्सव* > *उच्छव* में भी। *उत्सव* का रूप यदि *उस्सव* भी मिलता हो तो *उस्सव* को किसी अन्य बोली से आया हुआ समझना चाहिए या परिस्थिति की विभिन्नता खोजनी चाहिए। इसी प्रकार अवधी में शब्द की मध्यवर्ती क्ष *माछी (मक्षिका)* में छ के रूप में और *आँखी (अक्षि)* और *ममाखी (मधु-मक्षिका)* में ख् के रूप में मिलती है तो या तो परिस्थिति की विभिन्नता होनी चाहिए या इनमें से एक (छ् अथवा ख्) रूप किसी दूसरी बोली से आया होगा। परिस्थिति की अभिन्नता में एक सुश्लिष्ट भाषा में किसी ध्वनि का केवल एक ही विकास समान रूप से जहाँ-जहाँ उस बोली का क्षेत्र है सर्वत्र होता है।

(४) यह ध्वनि-विकास पूर्व पीढ़ियों के बोलने वालों के उच्चारण से नियत किया हुआ एक निश्चित दिशा की ओर बढ़ता रहता है। टवर्ग का उच्चारण उत्तर भारत में पाणिनि के समय में मूर्धा स्थान से होता था और आज हिन्दी टवर्ग का उच्चारण वर्त्स स्थान के ठीक ऊपर से होता है। जिह्वा जो यह सम्पूर्ण कठोर तालु का क्षेत्र पार कर लाई यह सतत उसके आगे बढ़ने से ही हुआ है। ऐसा संभव नहीं कि जिह्वा ने एक-दो पीढ़ियों तक तो आगे पग धरा हो और तब पीछे चली गई हो और फिर दो-चार पीढ़ियों तक पीछे जाकर बाद को फिर आगे बढ़ना शुरू किया हो। एक ओर इन स्पर्श व्यंजनों को आगे बढ़कर उच्चारण करने का जो सिलसिला जारी हुआ वह आज तक जारी है। टवर्ग में ही नहीं कवर्ग और तवर्ग में भी जिह्वा के इस आगे बढ़ने के झुकाव की गवाही मिलती है। अस्तु, ध्वनि-विकास पूर्व उच्चारण से निश्चित किए हुए मार्ग से मूक गति से वशंवद भृत्य की तरह चलता रहता है।

ध्वनि-नियम—ध्वनि-विकास की इस निश्चित तथा नियत गति के कारण ही ध्वनि-परिवर्तन के नियम निर्धारित किए जाते हैं और हम यह कह सकते हैं कि अमुक भाषा से अमुक भाषा में ध्वनि-विकास

निश्चित नियमों के अनुसार हुआ है। अथवा उस विकास की परिस्थितियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण कर उनको निश्चित शब्दों में व्यक्त कर देना ही नियम बना देना है। शब्द के आदि का परन्तु व्यंजन से असंयुक्त संस्कृत का प सब प्राकृतों में प ही रहता है, यह एक ध्वनि-नियम है। यह सब प्राकृतों में व्यापक है। शब्द के आदि का संस्कृत '*य्*' प्राकृतों में ज हो जाता है यह भी एक ध्वनि-नियम है पर यह सब प्राकृतों पर लागू नहीं, मागधी में य् ही रहता है। और लट्ठी (*यष्टि में ल्*) हो जाना जो अपवाद दिखाई पड़ता है (शायद समानार्थक लगुड का प्रभाव आदि) उसकी परिस्थिति की विभिन्नता ढूँढ़नी चाहिए। इस प्रकार ध्वनि-विकास के नियम कोई अधिक व्यापक और कोई कम व्यापक होते हैं। संस्कृत के शब्दों के आदि का स शौरसेनी प्राकृत में स ही रहता है पर आदि का होते हुए भी न या म के परवर्ती होने पर ह हो जाता है और स्थानविपर्यय भी कर लेता है (*स्नान ∠ ण्हाण, स्मः ∠ म्हो*)। इसप्रकार एक नियम जो भाषा भर में व्यापक मालूम होता था वह परिस्थितियों के अनुकूल संकुचित हो गया। संस्कृत के एक ही शब्द *मध्ये के माँझ, मँह माँ, में* आदि कई रूप हिन्दी बोलियों में मिलते हैं और यह अनेक-रूपता काल अथवा देश की भिन्नता के कारण ही हो सकती है। फिर पग-पग पर भाषा अपनी पूर्वकालीन अथवा समकालीन भाषाओं से नए-नए शब्द ग्रहण करती रहती है और इसप्रकार एक ही पुराने शब्द के अनेक विकास एक ही बोली में नज़र आते हैं।

ध्वनि-विकास के ये नियम भूतकाल ही के बारे में हमें जानकारी प्राप्त कराते हैं, और इसप्रकार किसी भाषा का पूर्ववर्ती भाषा से विकास निर्धारित करते हैं, पर इस वर्तमान भाषा के भविष्य के बारे में कुछ नहीं बताते। संस्कृत के दो स्वरों के मध्यवर्ती *क्, ग्, त्, ब्* स्पर्श वर्ण, ह्रस्व मात्रा वाले, वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं में लुप्त हैं, पर संस्कृत के कुछ संयुक्त व्यंजन, प्रथम दीर्घ व्यंजन, *क्क्, ग्ग, त्त्, द्द्* आदि में परिवर्तित होकर आज ह्रस्व स्वरूप में (*पका मांग पाती* सूद आदि में) वर्तमान हैं। क्या इनकी भी भविष्य में संस्कृत के क्

ग्, त्, द् की-सी गति होगी? इस प्रश्न का उत्तर साहसी भाषा-विज्ञानी भी नहीं दे सकता। जो विकास होता आया है उसकी प्रवृत्ति उसी मार्ग पर होगी, बस इतना भर बतलाया जा सकता है। टवर्ग के उच्चारण में अथवा कवर्ग और तवर्ग के उच्चारण में जिह्वा जो आगे को बढ़ती आई है वह बढ़ती रहेगी, बस ऐसी प्रवृत्ति का निर्देशमात्र भाषाविज्ञान कर सकता है। इसके आगे क्या होगा नहीं कहा जा सकता। और कौन जाने यदि परिस्थिति भिन्न हो गई और उत्तर-भारत में ऐसी जाति ने यहाँ के निवासियों को ऐसा छाप लिया जिसकी प्रवृत्ति उच्चारण में जिह्वा को पीछे ले जाने वाली हो तो क्या जाने उस प्रभाव से सदियों से आई हुई यह प्रवृत्ति कुंठित हो जाय।

इस प्रकार ध्वनि-विकास के नियम को अटल कहना और भूतविज्ञान आदि के नियमों से उसकी तुलना करना उचित नहीं। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का जो सिद्धांत खोज निकाला वह सब कालों और देशों में व्यापक है। भाषा-विज्ञानी द्वारा ढूँढ़ा हुआ ध्वनि-विकास का नियम नियत देश और नियत काल के विषय में ही लागू होता है। भूतकाल के एक निश्चित जनसमुदाय की निश्चित भाषा की निश्चित परिस्थिति में ही ध्वनि-विकास के नियम की अटलता है, इतना ध्यान रखना चाहिए।

ध्वनि-विकास के इन नियमों की जानकारी से हमें भाषा का विकास समझ पड़ता है और उस भाषा से सम्बद्ध पूर्ववर्ती अथवा वर्तमान भाषाओं के अध्ययन में सुगमता होती है, यही इन नियमों की उपयोगिता है।

ध्वनि-विकास से कभी-कभी परिस्थिति के अनुसार बिल्कुल नई ध्वनि भाषा में आ जाती है, जैसे मसूरी आदि स्थानों पर गोर्खा कुलियों (दाइयों) के उच्चारण में ज़ (*आज*>*आज़*)।

ध्वनि-विकास के परिणाम-स्वरूप कभी ऐसे शब्द जो विभिन्न ध्वनियों के और विभिन्न अर्थ के थे, समान-ध्वन्यात्मक हो जाते हैं पर अर्थ विभिन्न ही रहता है, उदाहरणार्थ—*काज, काज; काम, काम; हार, हार; पैना, पैना; गाड़ी, गाड़ी; खोया, खोया; गया, गया (तीर्थ विशेष);*

जुआँ (यूका) *जुआं* (युग) *जुआं* (द्यूत) *खाना*, *खाना* (ख़ाना) *जाना*, *जाना* (मालूम किया); सं० *भक्त*, *भक्त*; *सैन्धव*, *सैन्धव*; *गौः*, *गौः*; पा० *अस्स* (अस्य) *अस्स* (स्यात्), *अस्स* (अश्व); प्रा० *कइ* (कवि), *कइ* (कति), *कइ* (कपि)।

इसप्रकार के समान ध्वनिवाले किन्तु विभिन्न अर्थ का बोध कराने वाले शब्द प्राय: प्रत्येक भाषा में होते हैं और जब तक प्रकरण के अनुसार उनके द्वारा भ्रम की कोई संभावना नहीं होती, उनको कोई छेड़ता नहीं और वे ज्यों के त्यों भाषा में वर्तमान रहते हैं। पर यदि उनके प्रयोग से भ्रम होने लगता है तो फिर उस भ्रम को दूर करने के लिए उपाय किए जाते हैं। भ्रम की संभावना तभी होती है जब एक ही प्रकरण में दोनों का प्रयोग हो सकता हो। उदाहरण के लिए हिन्दी का *बड़ा* शब्द है। इसका प्रयोग क़द में बड़ा या आयु में बड़ा दोनों अर्थों में होता है। यदि छोटे बच्चे देवदत्त के दो भाई उससे बड़े हैं एक रामदत्त और दूसरा यज्ञदत्त और रामदत्त यज्ञदत्त से अवस्था में तो बड़ा है पर क़द में छोटा है तब देवदत्त को रामदत्त को *बड़े दादा* और यज्ञदत्त को *छोटे दादा* कहने में उलझन होती है। वह साक्षात् देखता है कि यज्ञदत्त रामदत्त से है तो (क़द में) बड़ा पर कहलाता है छोटा। उम्र की बात उस समय उसकी समझ में नहीं आती। इसप्रकार की विषम परिस्थिति को सरल करने का उपाय यही है कि क़द की या अवस्था की बड़ाई छोटाई के लिए अलग-अलग शब्द रक्खे जाँय। या तो *जेठा* शब्द से अवस्था की बड़ाई सूचित की जाय या *लम्बा* शब्द से क़द की। संस्कृत का *सन्ध्या* शब्द जो सबेरे शाम (प्रात:-सन्ध्या, सायं-सन्ध्या) दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता था, भ्रम के कारण ही केवल अब शाम (*सन्ध्या*, *संझा*, *सांझ*) के अर्थ में प्रयोग में आता है। अंग्रेज़ी में *सन्* शब्द दो अर्थों में आता है *बेटा* और *सूरज*। भ्रम की संभावना है क्योंकि सबेरे दोनों उठते (उगते) हैं। इसीलिए अब बेटा का बोध कराने वाले *सन्* शब्द के लिए *ब्वाय* या *लैड्* शब्द का बोलचाल की भाषा में प्रयोग होने लगा है। बार-बार की व्याख्या के श्रम की अपेक्षा दो में से एक अर्थ का बोध कराने वाले शब्द के लिए किसी भिन्न ध्वन्यात्मक शब्द का प्रयोग आ जाना अधिक

स्वाभाविक है। सुरप्रधान चीनी आदि भाषाओं में समानध्वन्यात्मक, पर भिन्नार्थ-बोधक बहुत से शब्द होते हैं और उनका विभेद सुर की विभिन्नता से ही किया जाता है। इसीप्रकार बलाघात-प्रधान भाषाओं में बलाघात द्वारा।

सन्धि आदि के कारण भाषा में आया हुआ ध्वनि-विकार कभी-कभी अस्थान भी आ जाता है। उदाहरणार्थ—प्राकृत भाषाओं में संस्कृत के अंतिम व्यंजन का लोप पाया जाता है (*सम्यक* > *सम्मा*, *यावत* > *जाव*) किन्तु *एव* के पूर्व यदि वही शब्द आए तो उसे व्यंजन का पुनर्जीवन (आदेश के रूप में) हो जाता है (*यावदेव* > *जावदेव*) पर *सम्यदेव* (< *सम्यक एव*=*सम्यगेव*) में द का अस्तित्व है जो अस्थान है क्योंकि *ग* होना चाहिए था। प्रत्यक्ष ही यह *जावदेव* के दृष्टान्त पर हुआ है। इसी प्रकार पा० *उसभोरिव* (*वृषभः इव*=*उसभो इव*) *अरिरिव* आदि के साथ अस्थान सादृश्य के कारण प्रयोग में आया है। संस्कृत भाषा में ही *ब-व*, *स-श* के विकल्प की नींव भी कुछ ऐसे ही कारणों पर निर्भर रही होगी।

सादृश्य का प्रभाव जोड़ी के शब्दों में बहुधा दिखाई पड़ता है। सं० *स्वर्ग नरक* हिन्दी में *स्वर्ग-नर्क* हो गए और बहुधा *नरक* के स्थान पर *नर्क* पढ़े-लिखे के मुख से निकलता है। इसीप्रकार *सुख* के सादृश्य पर हिं० *दुख* (सं० *दुःख*) अवधी *अँधेर* (हिं० *अँधेरा*) के वज़न पर अव *उजेरु* (हिं० *उजाला*) आदि उदाहरण हैं। बच्चों की लोरी के गीत *सोने चाँदी का है पलका। बिस्तर तकिया है मख़मल का* में *सोने* के स्थान पर छोटी बच्ची *सोंदे* बोलती है जो स्पष्ट ही *चाँदी* का प्रभाव है।

सादृश्य के अस्थान में प्रयोग करने के उदाहरण पंडितमन्य व्यक्तियों के मुख से बहुधा सुनाई पड़ते हैं। संस्कृत जानने वाले 'विद्वान्' *इच्छा* को *इक्षा*, *शाप* को *श्राप* और *बन्धन* को *वन्धन* बोल कर अपनी पंडिताई का परिचय देते हैं। *शाप* का *श्राप* तो कई सदियों से प्रचलित पुराना रूप है। इसी का विकसित *सराप*, *सरापब* रूप

अवधी में चलता है, *शाप* तो कभी का ग़ायब हो गया। बहुतेरे *प्रण, गल्प* और संगठन को संस्कृत के शब्द समझते हैं। इससे यह मालूम होता है कि यह अस्थान सादृश्य वाले शब्द कुछ व्यक्तियों की भूल की सनक तक ही सीमित नहीं रहते, भाषा में वस्तुतः व्यापक रूप में आ जाते हैं।

पूर्वकालवर्ती स्वदेशी भाषा के विषय में इसप्रकार के प्रयोगों के बहुतेरे उदाहरण पालि भाषा में मिलते हैं। संस्कृत के अघोष स्पर्श वर्णों का पालि के समय में सघोष वर्ण द्वारा आदेश प्रायः हो गया था पर ऐसा अनुमान है कि पालि ग्रंथ-संपादकों ने अपनी पुस्तकों को प्राचीनता का आकार देने के लिए संस्कृत के अघोष वर्णों का ही प्रयोग किया। इस काम में वह बहुत से अस्थान प्रयोग कर गए। धम्मपद से ही कुछ उदाहरण ये हैं—*कुसीत* (<*कुसीद*) *अलापू* (<*अलाबून्*), *पाचेति* (<*प्राजयति*), *पिथियति* (<*पिधीयते*)।

विदेशी-भाषा के शब्दों के, इसप्रकार के अनर्थ प्रयोग के, भी प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। नवाबी शहर *लखनऊ* को *लख़नऊ* कह कर लोग समझते हैं कि हम ठीक नाम ले रहे हैं। *जबाब* को *ज़बाब, रवाज* को *रवाज़, जिगर* को *ज़िगर* आदि कहने वालों की भी कमी नहीं है।

जिसप्रकार पूर्ववर्ती भाषाओं अथवा विदेशी भाषाओं के अज्ञानवश अस्थान गलत प्रयोग होते हैं उसीप्रकार वर्तमान भाषाओं और बोलियों के भी। अक्सर देखा गया है कि किसी चुनाव के लिए खड़ा हुआ नगर-वासी जब देहात में सभाओं में बोलता है तब निजत्व स्थापित करने के लिए वह ग्रामवासियों की बोली बोलने का उद्योग करता है। उसके इस प्रकार के उद्योग से उसे वोट भले ही मिल जायँ पर वह गाँव में हँसी-दिल्लगी के लिए अपनी भाषा के रूप में काफ़ी सामग्री छोड़ जाता है।

ऊपर लिखे सारे प्रयोग वक्ता के अज्ञान से होते हैं। पर कभी-कभी मनुष्य अपनी भाषा से खिलवाड़ करता है और शब्दों को बिगाड़ कर बोलता है। यह प्रयोग जानकर, विनोद आदि के लिए होते हैं और कोई-कोई कभी-कभी भाषा में टिक जाते हैं।

कवि भी भाषा को अपनी कल्पना का अपर्याप्त माध्यम पाकर शब्दों के नए रूपों का प्रयोग करता है। इनमें से भी कुछ भाषा में स्थिर स्थान पा जाते हैं।

सत्तरहवाँ अध्याय

पद-रचना

पीछे हम देख चुके हैं कि भाषा का अवयव वाक्य है, अथवा भाषा वाक्यों का समूह है। वाक्य में ध्वनियों का समूह रहता है। इस ध्वनि-समूह के भी छोटे-छोटे समूह बनते हैं, एक तो उच्चारण की सुविधा के अनुसार और दूसरे अर्थ-व्यंजकता की सुविधा के अनुसार। पहली श्रेणी के समूहों की जानकारी ध्वनिविज्ञान से प्राप्त होती है और दूसरी की पद-रचना-विज्ञान के द्वारा। दूसरी श्रेणी के समूहों को शब्द या पद कहते हैं। दूसरे वाक्य की **प्रतिमा** मस्तिष्क में रहती है और यही ध्वनि-समूह द्वारा मुख से निकलती है और इन ध्वनियों के द्वारा ही अन्य मनुष्य हमारे मस्तिष्क में स्थित विचारों को समझ सकते हैं। ध्वनियों का प्रतिबिम्ब भी मस्तिष्क में रहता है। पर शब्दों का अस्तित्व इतने निश्चित रूप से वहाँ नहीं रहता, तब भी अन्तःकरण में कहीं न कहीं इनका रूप भी रहता है जहाँ से ये बनते-बिगड़ते रहते हैं।

कभी-कभी वाक्यात्मक प्रतिमा मस्तिष्क में कुछ रहती है और उच्चारण कुछ हो जाता है। *पम्प में हवा भर दो* आदि वाक्य इसी के उदाहरण हैं। अथवा सामने खड़ी हुई *सावित्री* को पुकारना चाहें और उसे पुकारें *सरोजनी* (इसी को साहित्यशास्त्री गोत्रस्खलन कहते हैं)। लिखी हुई चीज़ पढ़ने में इसप्रकार की भूल अनायास ही हो जाती है। उसका कारण यह होता है कि प्रयत्न-लाघव के लिए बहुधा हम पूरे शब्द न पढ़कर उसके अंशमात्र से शब्द का अस्तित्व प्राप्त कर आगे बढ़ जाते हैं। इस जल्दी में भूल हो जाना कोई अचरज की बात नहीं। यही जल्दी अथवा मस्तिष्क की शिथिलता कभी-कभी उच्चारण की भूलों के मूल में रहती है।

वाक्य में कभी-कभी एक ही पद रहता है और बहुधा कई। पर वाक्य में चाहे जितने पद रहें, उसका ग्रहण समष्टि-रूप से होता है। वाक्यार्थ ग्रहण करते समय हमारा मन प्रत्येक ध्वनि या प्रत्येक शब्द (पद) पर नहीं रुकता। परन्तु वाक्य का विश्लेषण करने पर हमें पता चलता है कि उसमें दो तत्व मिले रहते हैं—कुछ ध्वनियाँ अर्थ-तत्व का बोध कराती हैं और अन्य उन अर्थ तत्वों के परस्पर सम्बन्ध का। *यह सुन्दर रचना तुलसीदास की है* इस वाक्य में *सुन्दर रचना तुलसीदास* ये विशिष्ट अर्थोद्बोधक ध्वनि-समूह हैं। इनसे हमारे दिमाग में उपस्थित निश्चित विचारों का बोध होता है। बाकी के *यह, की और है* शब्द कोई विशिष्ट अर्थ नहीं बताते, केवल *रचना* और *तुलसीदास* का परस्पर सम्बन्ध जतलाते हैं। यह शब्द किसी विशेष रचना का निर्देश करके उससे वक्ता के निकटस्थ होने की सूचना देता है, *की तुलसीदास* और रचना का परस्पर कर्तृत्व-कृति सम्बन्ध स्थापित करता है और है उस *रचना* के वर्तमान अस्तित्व और उस सम्बन्ध के वर्तमानत्व की सूचना देता है।

अर्थ-तत्त्व से अभिप्राय भाषा के उन अंशों से है जो अर्थ अथवा विचार का उद्बोध कराते हैं। **सम्बन्ध-तत्त्व** से तात्पर्य उन अंशों से है जो अर्थ-तत्त्व द्वारा व्यक्त किए हुए विचारों के परस्पर सम्बन्ध की सूचना देते हैं।

किसी भी भाषा का अध्ययन करने से पता चलता है कि मनुष्य-समुदाय में विचारों को व्यक्त करने की कुछ धाराएं बन जाती हैं, जो प्रवाह रूप से चलती रहती हैं, और जिनमें सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार हेर-फेर होता रहता है। संस्कृत बोलने वालों की विचारधारा एक प्रवाह से चल रही थी जिसका ज्ञान हमें संस्कृत के वाक्यों के विश्लेषण से होता है, पालि आदि उत्तरकालीन भाषाओं की धीरे-धीरे बदलती गई पर प्रवाह अक्षुण्णरूप से आधुनिक आर्य-भाषाओं तक मिलता है। यह प्रवाह चीनी-भाषा द्वारा व्यक्त हुए प्रवाह से अथवा अरबी-भाषा द्वारा व्यक्त किए गए प्रवाह से बहुत भिन्न है। अंगरेज़ी

के प्रवाह से भी काफ़ी भिन्न है, पर भेद की वह मात्रा नहीं जो चीनी या अरबी से है।

विचारधारा का यह प्रवाह सम्बन्धतत्त्वों को प्रकट करने के ढंगों से मालूम होता है। हर भाषा का यह ढंग जुदा-जुदा होता है। विविध भाषाओं का अध्ययन करके भाषा-विज्ञानियों ने सम्बन्धतत्त्व को व्यक्त करने के नीचे लिखे प्रकार बताए हैं।

(१) सम्बन्धतत्त्व अलग शब्द ही हो सकता है। उदाहरणार्थ— संस्कृत के *इति, एव, अपि, च, परं* आदि, हिन्दी के *से, का, के, में, पर* और *तब, जब, जहाँ, तहाँ* आदि। सभी सर्वनाम-शब्द सम्बन्धतत्त्व ही प्रदर्शित करते हैं। कभी-कभी दो शब्द वाक्य में सम्बन्धतत्त्व जतलाते हैं और इनका स्थान भिन्न रहता है, जैसे हि० *यदि...तो, न...न, यद्यपि...तथापि*।

(२) सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व में ही जोड़ दिया जाता है, इसप्रकार वह उसी शब्द का अंग बन जाता है। यह शब्द के आदि, मध्य, अन्त में कहीं भी हो सकता है, उदाहरणार्थ सं० में लङ में और लुङ में आदि में **अ** (*अगच्छत्, अगमत्, अचोरयत्, अचूचुरत्*) जो भूतकाल की क्रिया का द्योतक हो गया अथवा **अ** (*अकुर्वन्, अगच्छन्, अपाणिपादः*) जो क्रियाओं और संज्ञाओं में निषेध का सूचक हो गया; मध्य में **य**—(*गम्यते, हस्यते, चोर्यते*) भाववाच्य अथवा कर्मवाच्य का द्योतक, अथवा *अय पय* (*करति-कारयति, स्नाति-स्नापयति*) जो प्रेरणा की सूचना देने लगा; अन्त में *स्य,-स्मिन्* (*रामस्य, सर्वस्मिन्*) आदि विभक्त्यर्थक, **शतृ क्त** (*गच्छत्, गत*) आदि क्रिया के *काल* भाव आदि के द्योतक। इसीप्रकार हिन्दी का निषेधात्मक *अ*, प्रेरणार्थक वा (*करना करवाना*) स्त्रीप्रत्यय-*आनी*,-*आइन* (*पंडितानी, पंडिताइन*) आदि, विभक्त्यर्थक-*हि*-*ए* (*घरहि, दुआरे*) आदि इसी के उदाहरण हैं। सामी भाषाओं में इस उपाय का अवलम्बन प्रचुर मात्रा में किया जाता है। वहाँ अर्थतत्त्व तीन व्यंजनों द्वारा उद्बोधित होता है और प्रायः सभी शब्द आगे, पीछे, बीच में कुछ ध्वनियों (विशेष कर स्वरों)

को जोड़ कर बनते हैं, जैसे व् ल् द् इन तीन की इसी क्रम की समष्टि का अर्थ पैदा *करना* होता है, इसी से *वालिद, वल्द, तवल्लुद* आदि शब्द बनते हैं; इसीप्रकार क़् त् ल् की समष्टि से *क़ातिल, क़त्ल, मक़तूल, क़तल, क़ुतिल, यक़तुलु, क़िस्ल, क़िताल, क़ातल*; *क, त् ब्* से *किताब, कुतुब, कातिब, मकतूब, तकतुब, कतबत* आदि।

(३) अर्थतत्त्व की ध्वनियों में कुछ परिवर्तन कर देने (एकाध का लोप करके उसके स्थान पर दूसरी बिठा देने) से भी सम्बन्धतत्त्व का बोध कराया जाता है, उदाहरणार्थ संस्कृत में *शृङ्ग (सींग), शार्ङ्ग* (सींग का बना हुआ), *पुत्र पौत्र*, हिन्दी में *पिटना-पीटना, कटना-काटना, मरना-मारना, बकरा-बकरी, पोथा-पोथी, फूला-फूली* आदि।

(४) अर्थतत्त्व की ध्वनियों में ध्वनिगुण (मात्रा, सुर या बलाघात) का भेद उपस्थित कर देने से भी सम्बन्धतत्त्व का बोध हो जाता है, जैसे अँगरेज़ी में बलाघात के ही द्वारा, शब्द क्रिया है या संज्ञा इसका बोध होता है; यथा, 'कन्डक्ट (संज्ञा) कन्'डक्ट (क्रिया) ('Conduct-Con'duct), 'रेकर्ड (संज्ञा) रे'कर्ड क्रिया ('Record-Re'cord)। चीनी और अफरीकी भाषाओं में सुर के द्वारा निषेध आदि का बोध होता है। अफरीकी भाषा फ़ुल के एक वाक्य का उदाहरण ध्वनिगुण के अध्याय में ऊपर पृ० ६७ पर दिया गया है।

(५) जैसे गाने में क्षणिक विराम, अथवा वाक्यों के बीच का विराम पर्याप्त भाव का बोधक होता है, वैसे ही किसी अर्थतत्त्व में ध्वनियों को जोड़कर या उनमें परिवर्तन करके जब रूपों की श्रेणी बनती है तब अर्थत्त्व में कोई विकार न उत्पन्न करना और उसको ज्यों का त्यों छोड़ देना भी सम्बन्धतत्त्व का द्योतक हो सकता है। वैदिक-पूर्व और उत्तरकालीन संस्कृत भाषा में किसी-किसी संज्ञा का अविकृत रूप ही (*पात्, सरित्, जलमुक्, वणिक्, यशः*) प्रथमा एकवचन का द्योतक होता था। हिन्दी में धातु का अविकृत रूप (*कर, चल, जा, खा*) क्रिया के आज्ञार्थ का बोधक होता है।

(६) अर्थतत्त्व का वाक्य में अथवा वाक्यांश में स्थानमात्र ही

कभी-कभी सम्बन्धतत्त्व का बोधक होता है। उदाहरणार्थ हिन्दी में *राम गीत गाता है, गीत अच्छा लगता है,* इन दो वाक्यों में *गीत* शब्द का वाक्य में स्थान ही उसके कारक का बोधक है। समास में तो शब्द के स्थान पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। *मल्लग्राम* (पहलवानों का गाँव) और *ग्राममल्ल* (गाँव का पहलवान), *राजपुत्र* (राजा का लड़का) और *पुत्रराज* (लड़कों में राजा, श्रेष्ठ) आदि प्रयोगों में अपेक्षाकृत प्रथम या द्वितीय स्थान ही सम्बन्धतत्त्व को जतलाता है।

इस तरह सम्बन्धतत्त्व को प्रकट करने के विभिन्न उपायों के होने के कारण भाषाओं की रचना की भिन्न-भिन्न शैलियाँ मालूम पड़ती हैं। किसी-किसी भाषा में अर्थतत्व और सम्बन्धतत्त्व इस ढंग से मिला हुआ रहता है कि एक ही शब्द दोनों तत्त्वों का पूर्णरूप से बोधक होता है। प्राचीन आर्य और सामी भाषाएं अधिकांश में इसी ढंग की हैं। इनमें सम्बन्धतत्त्व को बताने के लिए *स्वरक्रम* (*गुण, वृद्धि* आदि *अवश्रुति*) आदि, मध्य या अन्त में प्रत्यय लगाना, ध्वनियों में कुछ लोप, आदेश आदि कर देना—इत्यादि उपाय काम में लाए गए हैं। कुछ अन्य भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व के अंश अलग ही शब्द रहते हैं, जैसे चीनी भाषा में सम्बन्धतत्त्व वाले शब्दों को रिक्त और अर्थतत्त्व वालों को पूर्ण कहते हैं। दोनों का अस्तित्व अलग-अलग रहता है। अफ्रीका की कुछ (बांटू आदि) भाषाओं में एक ही सम्बन्धतत्त्व को व्यक्त करने के लिए एक से अधिक शब्द रहते हैं। कुछ भाषा-परिवारों (फ़ीनो-उग्री या तुर्की-तातारी) में सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व के साथ जुड़ा रहता है परन्तु उसका अस्तित्व इतना प्रत्यक्ष होता है कि बिना अर्थतत्त्व को ज़रा भी छेड़े हुए उसको अलग कर सकते हैं। कोई भी भाषा ऊपर लिखे उपायों में से केवल एक ही का अवलम्बन नहीं करती। इनमें से एक उपाय की प्रचुरता देखकर ही हम कह देते हैं कि अमुक भाषा अमुक उपाय का अवलम्बन करती है। हिन्दी ही को ले लीजिए। आर्य भाषा होने के कारण बहुत से शब्दों में सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व से जुड़ा हुआ अभिन्न रूप से दिखाई देता है, किन्तु इस अभिन्नता की मात्रा

संस्कृत से कम है। चीनी भाषा की तरह इसमें सम्बन्धतत्त्व को बतलाने के लिए विभक्त्यर्थक आदि अलग ही अस्तित्व रखने वाले शब्दों की संख्या है और सो भी कम नहीं। बांटू भाषा की तरह कुछ प्रयोगों (*यदि तो आदि*) में एक से अधिक शब्द सम्बन्धतत्त्व का बोध कराते हैं। बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनमें फ़ीनी या तुर्की भाषा की तरह सम्बन्धतत्त्व का अंश बिना अर्थतत्त्व को छेड़े अलग ही झलकता है।

अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का परस्पर भेद समझ लेने पर भी, शब्द क्या है यह सवाल हल नहीं होता। संस्कृत के वैयाकरणों ने शब्द के प्रयोग को पद की संज्ञा दी है। ध्वनियों का समूह ही शब्द माना गया है। यदि उसमें प्रत्यय जोड़कर उसे वाक्य में व्यवहार के योग्य कर लिया जाय (जिस प्रक्रिया से उसमें अर्थ को उद्बोधित करने की सामर्थ्य आ जाय) तो उसे पद कहते हैं। यही पाणिनि द्वारा दिए गए पद के लक्षण (सुप्तिङन्तं पदम्) का अभिप्राय है। वैयाकरण की दृष्टि में जब तक प्रकृति में प्रत्यय नहीं जुड़ता तब तक उसके अर्थ का कोई बोध नहीं होता है और इसीलिए ऐसे पदों में (यहाँ तक कि नीचैः आदि अव्ययों में) भी जिनमें कुछ भी विकृति नहीं आती, उसे प्रत्ययों की कल्पना करनी पड़ी है और उन प्रत्ययों के तात्कालिक लोप की। तथापि सिद्ध शब्द के लिए **पद** शब्द का प्रयोग और असिद्ध के लिए केवल **शब्द** का प्रयोग करके दोनों का भेद रखना उचित है। किसी-किसी भाषा में पद ही पूरा वाक्य होता है अथवा वाक्य ही पूरा पद होता है। एस्किमो ऐसी ही एक भाषा है। बांटू में हम देख ही चुके हैं कि दो शब्दों को मिलाकर ही सम्बन्धतत्त्व-बोधक पद का बोध होता है। चीनी भाषा में कभी-कभी एक से अधिक शब्द मिला कर ही अर्थतत्त्व का बोध होता है। उदाहरणार्थ इ + फ़ु (वस्त्र) फ़ु + च्श (*पिता*)। इन दो-दो शब्दों के समूह को ही पद कह सकते हैं। कहीं-कहीं ये दो शब्द वाक्य में अलग अलग एक दूसरे से दूरस्थित रह सकते हैं। फ्रेंच भाषा का *न पा* (नहीं) उदाहरण है (*ज न ले पा वू*—मैंने नहीं देखा)। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए पद का नीचे लिखा लक्षण ठीक मालूम होता है—

"पद उस ध्वनि या ध्वनिसमूह को कहते हैं जिसका वाक्य में भाषा की परम्परा के अनुसार सम्बन्धतत्त्व का, अर्थतत्त्व का अथवा उन दोनों के अर्थ का बोध कराने के लिए प्रयोग होता है। यदि ध्वनि समूह है तो एकत्र और कभी-कभी अनेकत्र भी उसके अंशों की स्थिति रहती है।"

हर भाषा में उसकी परम्परा के अनुसार ही पद का विशिष्ट लक्षण करना पड़ेगा। पर साधारण रीति से उपर्युक्त लक्षण सभी भाषाओं के पदों के लिए उपयुक्त होगा।

पद का लक्षण कर देने पर, शब्द के विषय में भी कुछ कहना जरूरी है। ऊपर ही कह चुके हैं कि शब्द पद की उस अवस्था का नाम है जब उसमें अर्थ का उद्बोध नहीं हुआ। परन्तु सामान्य रूप से उसमें अर्थ निहित रहता है। ध्वन्यात्मक शब्द और व्याकरणात्मक शब्द में यह अन्तर है कि ध्वन्यात्मक शब्द एक साथ उच्चारण में आता है। सुविधा के अनुसार उसमें एक ही व्याकरणात्मक शब्द (*जैसे नीचैः, प्रविशति* में) एकाधिक व्याकरण-शब्द (*अग्निश्च*) अथवा एक व्याकरण-शब्द और द्वितीय का कुछ अंश (पुत्रः अस्माकं—*पुत्रोऽस्माकं*) हो सकता है। व्याकरणात्मक शब्द में अर्थ का बोध कराने की, विशिष्ट भाषा की परम्परा से, शक्ति रहती है। जब ध्वनियों के किसी समूह में व्याकरण के प्रयोग के अनुसार अर्थ के बोध कराने की शक्ति होती है तब उसे शब्द की संज्ञा देते हैं।

अठारहवाँ अध्याय

रूप-विज्ञान

यह हम पहले इंगित कर चुके हैं कि ध्वनिग्राम स्वयं अर्थहीन होता है और अर्थ का भान केवल रूप के स्तर से ही प्रारम्भ होता है। ध्वनिग्राम का महत्व रूप की पहचान में मदद देना है, क्योंकि रूप की आकृति ध्वनिग्राममय ही होती है। इसप्रकार ध्वनिग्राम-समुदाय का अर्थ से सम्बन्ध, रूप के माध्यम से ही होता है। रूप, दूसरे शब्दों में, ध्वनिग्राम और अर्थ को जोड़ने वाली कड़ी है। रूप का दुहरा उद्देश्य होता है, एक अर्थवान् ध्वनिग्राम-समुदाय और दूसरे अर्थवान् ध्वनिग्राम समुदाय के बीच सम्बन्ध की स्थापना करना, तथा इन ध्वनिग्राम-समुदायों के योग से पद की रचना करना।

रूप की परिभाषा यदि इसप्रकार की जाय कि "वह किसी भाषा की वह छोटी से छोटी इकाई है जो व्याकरण की दृष्टि से संगत हो" तो हमें फिर व्याकरण की परिभाषा करनी पड़ जायेगी और व्याकरण की परिभाषा भी हमें रूप की प्रक्रिया के अलावा कोई अन्य नहीं मिलेगी। उस दशा में हम अन्योन्याश्रय दोष में पड़ जायेंगे। हाँ, यदि हम रूप की परिभाषा इसप्रकार करें कि "रूप भाषा की वह छोटी से छोटी अर्थवती इकाई है जो अपने आकार, रूप, ध्वनिग्राम-समुदाय को अभिव्यक्ति की संघटना से जोड़ती है" तो इस दोष से मुक्त हो सकते हैं। फिर प्रश्न यह उठता है कि रूप के लिए ध्वनिग्राममय होना क्या आवश्यक है? क्या रूप शून्य ध्वनिग्राम नहीं हो सकता, "जैसे राम घर गया" में 'राम' और 'घर' के बाद कर्तृ सम्बन्ध और कर्म सम्बन्ध को ज्ञापित करने के लिए कोई प्रत्यय नहीं लगे हैं, और वहाँ इस सम्बन्ध में भाषाविदों में गहरा मतभेद है। कुछ लोग शून्य रूप (Zero morph) को रूप की

एक व्यष्टि मात्र मानते हैं और उसकी एक कल्पित आकार-समष्टि सिद्धान्ततः रच लेना आवश्यक समझते हैं। पाणिनि ने संस्कृत भाषा के व्याकरण में इसी पद्धति को अपनाया है, और उन्होंने शून्य रूप प्रत्ययों को भी कोई न कोई काल्पनिक नाम देकर उनके द्वारा रूप-प्रक्रिया समझाने की कोशिश की है। दूसरे लोग इस शून्य रूप को भाषा के वर्णन में कहीं-न-कहीं नितान्त आवश्यक मानते हैं और उसकी स्वतन्त्र सत्ता कायम रखना चाहते हैं। विशेष रूप से विश्लिष्ट भाषाओं के वर्णन में शून्य रूप की आवश्यकता अधिक पड़ती है, क्योंकि उनमें केवल शब्दों के क्रम से ही सम्बन्ध का भेद बोधित हो जाता है। अंग्रेज़ी में जान किल्ड जेम्स, (John killed James) और जेम्स किल्ड जान (James killed John) इन दो वाक्यों में केवल क्रम बदल देने से ही जेम्स और जान के सम्बन्ध (कर्तृत्व कर्मत्व) बदल जाते हैं। चीनी भाषा में तो इसके अनन्त उदाहरण मिलेंगे। मार्फ (morph) और रूप दोनों के व्युत्पत्तिजन्य अर्थ उसके साकार ही रूप की ओर इशारा करते हैं और यद्यपि शून्य को भी एक आकार मान लेने से गणित की दृष्टि में कोई बाधा नहीं आती, पर उससे सब से बड़ी गड़बड़ी यह पड़ती है कि शून्य से अनेक स्थलों पर काम लेने में सम्भ्रम हो जाता है। उदाहरण के लिए हिन्दी में यदि हम 'जा' को एक रूप मानते हैं और 'राम' को भी एक रूप मानते हैं तो 'राम जा' वाक्य में दोनों के आगे क्रमशः सम्बोधन एवं आज्ञा का बोध कराने के लिए शून्य रूप जोड़ने की आवश्यकता पड़ेगी। उस दशा में शून्य के दो भेद करने होंगे। पर हम यदि यह कहते हैं कि "राम के आगे लगने वाला रूप शून्य न होकर "ने" है जिसका शून्य एक व्यष्टि रूप है (Allomorph) तथा "जा" के आगे लगने वाला रूप "ओ" है जिसका भी एक व्यष्टि रूप शून्य है, तो हम इस गड़बड़ी से बच सकते हैं। सारांश यह है कि रूप को ध्वनिग्राममय मानना ही अधिक सुविधाजनक है। अब, ध्वनिग्राम का द्योतन जैसा कि पहले लिखा जा चुका है स्वर, व्यंजन, मात्रा, सुर, विवृत्ति आदि कई प्रकार से किया जा सकता है, हमें किसी भी प्रकार के ध्वनिग्राम-समुदाय

के रूप को बनाने में कठिनाई नहीं हो सकती। पाणिनि ने अपने रूप की इकाइयाँ इसप्रकार अनुबंधित की हैं कि उनसे रूप के योग के कारण होने वाली समस्त संधि-प्रतिक्रिया का विधान सम्भव है। उदाहरण के लिए ञ् अनुबंध वाले प्रत्यय जोड़ने पर प्रकृति के स्वर में वृद्धि होती है; यह कल्पना कर लेने से ही हम एक ही भौतिक आकार वाले दो प्रत्ययों का पृथक्करण आसानी से कर सकते हैं।

(रूप की परिभाषा अभी अधूरी रह गयी है। जैसे ध्वनिग्राम एक ध्वनि को उपस्थित न कर के एक सदृश ध्वनिसमूह को उपस्थित करता है उसीप्रकार रूप भी केवल एक आकार को उपस्थित न कर के एक सम्बन्धार्थ रखने वाले अनेक आकारों का प्रतिनिधित्व करता है जो एक संधि-प्रक्रिया और परिवेश समान रखते हुए भी वितरण की दृष्टि से एक-दूसरे के पूरक होते हैं।) उदाहरण के लिए संस्कृत में निष्ठा प्रत्यय का भाव वर्ग के अन्तर्गत आने वाला भाव कर्मवाची भूतकालिक कृत प्रत्यय {–क्त} के व्यष्टि रूप /–ता/, /–इता/, /–टा/, /–ना/, /–णा/, /–वा/, /–का/ इतने मिलेंगे

नी + क्त = नीत, चल् + क्त = चलित, कृष् + क्त = कृष्ट, छिद्र + क्त = छिन्न, पृ + क्त = पूर्ण, पच् + क्त = पक्व, शुष् + क्त = शुष्क।

अब हम इनको अलग अलग रूप नहीं कह सकते, क्योंकि ये सभी एक ही प्रकार का सम्बन्धार्थ—भूतकालिक कृत्-द्योतित करते हैं, ये सभी प्रकृति के बाद आते हैं, इन सब के पूर्व प्रकृति का ह्रसित रूप ही आ सकता है और ये एक-दूसरे के वितरण-क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करते। संस्कृत से ही हम सुबन्त प्रत्यय-वर्ग का भी एक उदाहरण लें। कर्त्ता-कारक एकवचन के अर्थ को ज्ञापित करने के लिए हमें इतने प्रकार के रूप मिलते हैं—

लता + सु = *लता*, (शून्य)
राम + सु = *रामस्*,
विद्वस् + सु = विद्वान् (प्रातिपदिक में वृद्धि + शून्य)

ये तीन रूप शून्य, स् और प्रातिपदिक के वृद्धिपूर्वक शून्य वस्तुतः एक-

दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करते। जिन प्रातिपदिकों के बाद केवल शून्य आता है, उनके बाद न तो स् आता है और न प्रातिपदिक में वृद्धि ही होती है, जिसके आगे स् आता है उसके आगे किसी भी प्रकार का शून्य नहीं आता, और जिसके शून्य आने के साथ-साथ उसमें वृद्धि भी होती है उसके आगे न तो स् आता है न केवल शून्य आता है। इसप्रकार रूप की इकाई जहाँ सम्बन्ध की एकता की अपेक्षा रखती है, वहाँ वह ध्वनिग्रामीय आकार की एकता या सादृश्य की अपेक्षा नहीं रखती। एक इकाई वस्तुतः एक सम्बन्धार्थ का अन्त्य गुणनखंड है, उसके आगे सम्बन्धार्थ का विखंडन नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार हमें रूप के भी अन्तर्गत अनेक व्यष्टि-रूप (allomorph) मिलते हैं, जिनकी सार्थकता ध्वनिग्राम-संघटना की दृष्टि से तो होती है, पर रूप-रचना की दृष्टि से नहीं होती। व्यष्टि-रूपों का वितरण दो कारणों से नियंत्रित होता है——ध्वनिग्रामीय एवं रूपात्मक। ध्वनिग्रामीय परिवेश-भेद से जो रूप-भेद उपस्थित होते हैं, उनकी प्रक्रिया को हम संधि (morphophonemics) कहते हैं। वस्तुतः एक रूप का दूसरे रूप से ध्वनिग्रामीय संश्लेष ही संधि है। एक रूप के भीतर संधि होने का प्रश्न नहीं उठता। यह प्रश्न तभी उठता है जब वह रूप दूसरे रूप के संन्निकर्ष में आये। उदाहरण के लिए ष् में अन्त होने वाली धातु के बाद जब त् प्रत्यय आयेगा तो उसका रूप ट् हो जायगा। अब यह ट्-रूपता ध्वनिग्रामीय परिवेश के कारण है—ष् के मूर्धन्य होने के कारण त् को मूर्धन्य रूप धारण करना पड़ता है। परन्तु जब रूप का व्यष्टि-भेद ध्वनिग्राम के परिसर पर आधृत न होकर किसी अन्य कारण से रूप के परिसर पर आधृत होता है, तो हम उसे रूपात्मक कारण पर आधृत एक व्यष्टि-भेद कहते हैं। इसप्रकार ये दो कारण रूप के व्यष्टि-भेदों का नियंत्रण करते हैं। शुष् धातु के बाद आने वाले त् का क् रूप शुष् के किसी ध्वनिग्राम के कारण न होकर पूरे शुष् रूप के कारण है और इसलिए इसे रूपात्मक कारणजन्य व्यष्टि-भेद कहते हैं।

रूप का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। वर्गीकरण का

पहला आधार-क्रम (order) है। जिस क्रम से कोई रूप आता है, जिसके अनुसार उसका जो वर्गीकरण किया जायगा, वह क्रमात्मक वर्गीकरण कहा जायगा। उदाहरण के लिए संस्कृत में तिङन्त रूप में उपसर्ग को प्रथम स्थान प्राप्त है। अभ्यास द्वारा अडागम को द्वितीय स्थान, धातु को तृतीय स्थान, विकरण को चतुर्थ स्थान, लकार ज्ञापक प्रत्यय को पंचम स्थान और तिङ को षष्ठ स्थान प्राप्त होता है। ये क्रमशः प्रथम क्रम, द्वितीय क्रम, तृतीय क्रम, चतुर्थ क्रम, पंचम क्रम, षष्ठ क्रम से प्रयोग में आयेंगे। दूसरा वर्गीकरण का आधार विन्यास (sequence) है। कोई रूप किस प्रकार के रूप के बाद विन्यस्त किया जाता है, इसके आधार पर वर्गीकरण करना विन्यासात्मक वर्गीकरण कहलाता है। उदाहरण के लिए सुप वर्ग एक ऐसा वर्ग है जो प्रातिपदिक वर्ग के बाद आता है और तिङ वर्ग एक ऐसा वर्ग है, जो धातु के बाद आता है। अधिकतर दूसरे प्रकार का वर्गीकरण ही विशेष महत्व रखता है।

रूपों के वर्गीकरण का एक अन्य आधार भी है। वह है, उसके बद्ध और मुक्त स्वभाव पर आधृत। कोई-कोई रूप स्वतन्त्र रूप से दूसरे से मुक्त होकर भी पद बना लेते हैं, और कोई-कोई बिना किसी दूसरे से बँधे हुए पद या शब्द बनाने की क्षमता नहीं रखते। हिन्दी में 'राम' मुक्त रूप की कोटि में आता है, और 'न' या 'ओ' जैसे रूप बद्ध रूप की कोटि में आते हैं। अयोगात्मक (analytic) भाषाओं में सभी रूप मुक्त होते हैं, और प्रश्लेषात्मक भाषाओं में सभी रूप बद्ध होते हैं। श्लिष्टात्मक भाषा में दोनों प्रकार के रूप पाये जाते हैं। पर वर्गीकरण के ये भेद विश्लेषण में उतने उपयोगी नहीं होते, जितने कि ऊपर दिये गये दोनों वर्गीकरण।

अन्त में रूप और पद का भाषा में क्या स्थान है, इस पर कुछ विचार करना चाहिए। भाषा के रूप का महत्व पद के भीतरी उपादान-तत्वों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञापन कराना है। पर प्रयोग की दृष्टि से पद ही अधिक संलक्ष्य होने वाली इकाई है। कुछ विचारकों ने पद की दो धारणायें मानी हैं: (१) ध्वनिग्रामीय (Phonological) और

(२) विशुद्ध रूपमय। उनके अनुसार अल्प विवृति (Open transition ही ध्वनिग्रामीय शब्द की विभाजक-रेखा है। उदाहरण के लिए सोयम्, रामश्च, त्वमपि, ये ध्वनिग्रामीय दृष्टि से सोचने पर एक-एक शब्द हैं, किन्तु रूप की रचना की दृष्टि से देखने पर ये दो-दो पदों के युग्म बनते हैं। भाषा की संघटना की दृष्टि से पद का इन दो रूपों में निर्धारित किया जाना इतना ही महत्व रखता है कि अल्प विवृति आते ही संधि-प्रक्रिया बाह्य और वैकल्पित हो जाती है और दो अल्प विवृतियों के बीच आने वाले पद के भीतर संधि की प्रक्रिया आभ्यन्तर और नित्य रहती है, पर वाक्य-विचार की दृष्टि से रूपमय पद ही का महत्व होता है, क्योंकि वाक्य में जिस पद का सम्बन्ध दूसरे पद से होता है, वह ध्वनिग्रामीय कल्पना न होकर रूपात्मक कल्पना पर ही आधृत रह सकता है।

हम संक्षेप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि रूपराशि और रूप-व्यवस्था ही का योग किसी भाषा का आन्तरिक व्याकरण होता है और पद तथा पद-व्यवस्था उसका बाह्य व्याकरण होता है।

उन्नीसवाँ अध्याय

सन्धि

सन्धि की परिभाषा पिछले अध्याय में इसप्रकार दी जा चुकी है कि एक रूप और दूसरे रूप के परसन्निकर्ष के कारण उपस्थित व्यष्टि-रूपों में भेद की प्रक्रिया को ही संधि कहते हैं। इसप्रकार संधि-प्रक्रिया के अन्तर्गत दो रूपों के संश्लेष के कारण होने वाले जितने भी ध्वनिग्राम-विकार हो सकते हैं—वे सभी आ जाते हैं। यह संधि दो प्रकार की होती है—(१) पद के बाहर और (२) उसी पद के भीतर; पद के भीतर संधि नित्य होती है। पद के बाहर संधि वैकल्पिक होती है अर्थात् पद को दूसरे पद में जोड़ते समय वक्ता की विवक्षा जिसके संश्लेष पर बल देने की होगी, उसी के अनुसार संधि होगी। उदाहरण के लिए जब कोई शिक्षक भाषा का प्रयोग सिखलाता है तो वह एक एक पद को अलग अलग करके प्रत्येक के बीच में विराम देकर बहुत धीमी गति से ध्वनिग्रामों का उच्चारण करता है। उस दशा में एक पद और दूसरे पद के बीच संधि का प्रश्न कभी नहीं उठता। पर आदमी साधारण व्यवहार में जब भाषा का प्रयोग करता है तो उस समय प्रायः दो या दो से अधिक भी पदों को एक साथ संहित करके बोलता है, जैसे—"क्या कर रहे हो" वाक्य जब सामान्य बोल-चाल में बोला जायगा, तो "कर" और "रहे" की संधि होकर "कर" का "र" "रहे" के "र" में मिल जायगा। या संस्कृत में जब एक एक पद को अलग करके हम पढ़ें तो 'अयम् एव सः' इन तीन पदों को असंहित ही पढ़ेंगे, परन्तु सामान्यतः 'अयमेव' को साथ संहित ही पढ़ेंगे। प्रायः अव्यय-रूप नाम या आख्यात पद के साथ संहित ही पढ़ने पर, अपना बल अभिव्यक्त कर पाते हैं। "जीवत्यहो" में जो 'अहो' की सार्थकता है वह "जीवति अहो" में नहीं आ

सकती। यदि हम ध्वनिग्राम-संघटना की दृष्टि से कहना चाहें तो कह सकते हैं कि जहाँ दो पदों के बीच अल्प विवृति होती है, वहाँ संधि नहीं होती। संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध रूप में जो जटिल बाह्य संधि-प्रक्रिया दिखलायी पड़ती है, वह स्वाभाविक न होकर कृत्रिम है। उसका महत्व केवल काव्य-रचना में हो सकता है, काव्य-रचना के बाहर साधारण संलाप की भाषा में या विचार की भाषा में नित्य बाह्य संधि एक असंभव कल्पना है।

संधि के विचार से ध्वनिग्राम के निम्नलिखित प्रकार के विकार संभव हैं——

(१) एक विशिष्ट प्रकार के रूप के जुड़ने के कारण उसके परवर्ती रूप की स्वर-श्रेणी में परिवर्तन हो सकता है। भारोपीय भाषाओं में इस स्वर-परिवर्तन की प्रक्रिया का विशेष महत्व है। इसे स्वर-शृङ्खला या अपश्रुति (ablaut) कहते हैं। यह अपश्रुति दो प्रकार की हो सकती है——गुणात्मक और मात्रात्मक। गुणात्मक अपश्रुति के मुख्य तीन स्तर हो सकते हैं——वृद्धि, गुण और सम्प्रसारण (ह्रसित)। मात्रा के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। भारोपीय भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन से यह सूचित होता है कि इस स्वर-शृङ्खला की प्रक्रिया पर संगीतात्मक सुर का प्रभाव रहा है। कालान्तर में स्वर और स्वराघात दोनों ही प्रक्रियाएँ स्वतन्त्र हो गयीं।

उदाहरण के लिए संस्कृत में——

वृद्धि——ऐ, औ, आर, आन्, आम्, आ
गुण——ए ओ अर् अन्, अम् अ अय् अव्
ह्रसित——इ, य् उ, व् ऋ, र्, अ, न् अ, म् इ, शून्य
गुण रूप – जुहोति, वृद्धिरूप—अहौषीत्, ह्रसित रूप—हुत
गुण रूप——कर + ओति वृद्धि रूप—अकारषीत् ह्रसित रूप—
कृत और चक्रे

" "— अजेष्ट " —अजैषीत् " जित
अजयत

ध्वनिग्राम-विकार का दूसरा प्रकार उसके स्वराघात में परिवर्तन हो सकता है। प्राचीन-ग्रीक और वैदिक-संस्कृत में स्वराघात के तीन सार्थक स्तर पाये जाते हैं। वैदिक संस्कृत में स्वरित के दो भेद हैं—(१) स्वतन्त्र और (२) परतन्त्र। स्वतन्त्र स्वरित के तीन भेद—क्षैप्र, अभिनिहित और प्रश्लिष्ट होते हैं, जो केवल स्वर-संधि के तीन भेदों पर आधृत हैं। परतन्त्र स्वरित स्वर उस अनुदात्त का स्वरित में रूपान्तर होता है जो उदात्त के बाद आये पर जिसके बाद उदात्त और स्वतन्त्र स्वरित न आयें। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, ये स्वराघात स्वर या अक्षर से संबद्ध होते हैं।

वैदिक संस्कृत से उदाहरण :—

(१) *आहिता में आ उदात्त ता का आ अनुदात्त और हि का इ* परतन्त्र स्वरित है।

(२) *इन्वैइव* में न्वे के ए पर क्षैप्र स्वतन्त्र स्वरित है।

ध्वनिग्राम-विकार का तीसरा प्रकार बलाघात के स्तर का परिवर्तन होता है। अँग्रेज़ी भाषा में इस प्रक्रिया का विशेष महत्व है। उदाहरण के लिए कंडक्ट ('Conduct) (संज्ञा) तथा (Con'duct) (क्रिया) इन दो शब्दों में संज्ञावाची और क्रियावाची ये दो अर्थ केवल बलाघात स्तर के इधर से उधर करने से ही विदित होते हैं। अँग्रेज़ी में प्रत्येक वाक्य में निलंबित विवृति ही उक्ति-खंड की वह सीमा-रेखा होती है, जिसमें केवल एक ही प्राथमिक स्तर का बलाघात आ सकता है। यह वैदिक भाषा के "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" वाली व्यवस्था के समानान्तर व्यवस्था है।

ध्वनिग्राम-विकार का चौथा प्रकार आगम है। जब कभी दो ऐसे ध्वनिग्राम पास-पास आ जाते हैं जिनके आने में सुविधा नहीं होती है तो उन दोनों के बीच में एक तीसरा ध्वनिग्राम आगम के रूप में आता है। उदाहरण के लिए।

ई + उस्	=	ई + य् + उस्	=	ईयुः
बभू + उस्	=	बभू + व् + उस्	=	बभूवुः
सुनर	=	सु + न् + द् + अर	=	सुन्दर
भृ + य [यत्]	=	*भृ + त् + य*	=	*भृत्य*

पाँचवाँ विकार लोप है। प्रत्येक भाषा की ध्वनिग्राम-संघटना में आद्य और अन्त्य स्थिति में आने वाले ध्वनिग्रामों और उनके संयोगों की संख्या सीमित होती है। जो ध्वनिग्राम या उनके संयोग अन्त्य स्थिति में नहीं आ सकते उनका या तो लोप हो सकता है या उनके स्थान पर वह ध्वनिग्राम आ सकता है जो उस संघटना में अन्त्य स्थिति में आता है। लोप की प्रक्रिया प्रायः उन्हीं ध्वनिग्रामों की होती है जिनकी अन्त्य स्थिति ध्वनिग्राम-संघटना में बाधित होती है। उदाहरण के लिए संस्कृत में अभ्यास में *क्रन्त्+क्रन्त्=क्र+क्रन्त्=च+क्रन्त्* इस प्रकार न्त् का लोप हो गया है, या *सम्राज्+स्=सम्राश+स्=सम्राट्+स्=सम्राट्, स् का लोप हो गया* है क्योंकि अन्त में केवल एक ही व्यंजन रह सकता है।

संधि में ध्वनिग्राम का छठवाँ विकार आदेश है। जब दूसरे ध्वनिग्राम के सन्निकर्ष में पूर्व ध्वनिग्राम या उत्तर ध्वनिग्राम दोनों में से कोई भी दूसरा ध्वनिग्रामत्व धारण कर लेता है तो हम उसे आदेश की प्रक्रिया कहते हैं। यह आदेश की प्रक्रिया समीकरण और विषमीकरण दोनों के कारण होती है।

उदाहरण के लिए संस्कृत में :–

(१) अभ्यास में महाप्राण धातु का पहला अंश अल्पप्राण हो जाता है, *हृ+हृ=ज+हृ=जहार।*

(२) अन्त्य स्थिति में चवर्गीय स्पर्श के लिए क्, ञ् के लिए ङ् आदिष्ट हो जाता है। *सर्वस्पृच्=सर्वस्पृक्; प्रत्यच्=प्रत्यज्=प्रत्यङ्।*

(३) घोष महाप्राण स्पर्श के पूर्व अघोष अल्पप्राण स्पर्श के स्थान पर स्वर्गीय अल्पप्राण स्पर्श का आदेश होता है, *सरित्+भ्याम्=सरिद्भ्याम्।*

इस प्रकार सन्धि-प्रक्रिया अनेक प्रकार की होती है। यह प्रक्रिया ध्वनिग्राम एवं रूप की कड़ी है। एक तरह से दो रूपों के विभाजन का ...पन भी सन्धि-प्रक्रिया द्वारा ही होता है। यह प्रक्रिया भाषा की ध्वनिग्राम-संघटना के अनुकूल होती है।

बीसवाँ अध्याय

पद-विकास

व्याकरणात्मक धाराएँ—ऊपर कह चुके हैं कि भाषा का अवयव वाक्य है। हमें सम्पूर्ण वाक्य से अर्थ का बोध होता है। हमारा अनुभव प्रथम वस्तुओं और जीवों पर केन्द्रित होता है, फिर गुणों पर। वस्तुओं से भिन्न, अलग से गुण का बोध धीरे-धीरे जैसे जैसे अनुभव बढ़ता जाता है, होता जाता है। वाक्य द्वारा उद्‌बोधित अर्थ का विश्लेषण प्रत्येक भाषा में किन्हीं धाराओं में होता है जो स्वाभाविक और सर्व-साधारण हो जाती हैं। आज हम हिन्दी-भाषी लोग क्रिया में भी लिंग रखते हैं, यह हमारे लिए सर्वसाधारण और स्वाभाविक-सी बात है। हमारी भाषा इसी धारा में चली आई है, जिस धारा का विकास संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के क्रम से स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पर क्रिया में लिंग का भेद करना अँग्रेजी या बंगाली में नहीं होता—इन भाषाओं की स्वाभाविक धारा इस बारे में हमारी से बिल्कुल विपरीत है। इसी प्रकार की भाषाओं का हमारी भाषा से जितनी दूर का सम्बन्ध है उनकी धाराएँ उतनी ही भिन्न होंगी। इन धाराओं का विश्लेषण व्याकरण द्वारा होता है। विशिष्ट सम्बन्ध तत्त्वों द्वारा ही इन धाराओं का निर्धारण होता है। इस प्रकार शब्द का रूप ही इन धाराओं का निरूपण करता है, यदि शब्द के रूप की विभिन्नता नहीं है तो समझना चाहिए कि वह धारा नहीं है। संस्कृत में विशेष्य के लिंग के अनुसार विशेषण का लिंग होता था—(*सुन्दरः पुरुषः, सुन्दरी स्त्री, सुन्दरं कमलम्*) परन्तु आज हिन्दी में अधिकांश विशेषणों में लिंग का भेद नहीं होता (*सुन्दर पुरुष, सुन्दर स्त्री, सुन्दर कमल*) जैसा कि रूप की अभिन्नता से स्पष्ट है और जिनमें है भी (*मोटा आदमी, मोटी*

औरत) वहाँ भी मिट जाने के लक्षण दूर से दिखाई पड़ रहे हैं। यदि किसी भी सम्बन्धतत्त्व द्वारा लक्षित रूप विभिन्न न हो तो समझ लेना चाहिए कि वह धारा उस भाषा के इतिहास में या तो थी ही नहीं, या थी तो विलुप्त हो गई। संस्कृत में आशीर्लिङ और विधिलिङ के लिए जुदा-जुदा रूप थे, प्राकृत-काल में इनकी एकरूपता हो गई। और आज हिन्दी में इनकी तथा प्राचीन आज्ञा (लोट्) के रूपों की एकरूपता पाई जाती है। *बच्चा सुखी रहे* (आशीर्वाद,) *वह बिछौने से उठकर मुंह धोए* (विधि,) *वह खाना खाए* (आज्ञा), *और यदि वह बीमार पड़े* (संकेत) इन सब प्रयोगों में क्रिया के रूप के लिए एक ही सम्बन्ध-तत्त्व है। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि हिन्दी में आशीर्वाद आदि के लिए विभिन्न धाराएँ नहीं हैं। इस प्रकार इन व्याकरण-सम्बन्धी धाराओं का अध्ययन विशिष्ट भाषा के सम्बन्ध में ही और सो भी उसके इतिहास के किसी विशिष्ट समय के बारे में ही हो सकता है।

लिंग, वचन, कारक (कर्तृत्व, कर्मत्व, करणत्व आदि), पुरुष (उत्तम, मध्यम, अन्य), काल (भूत, वर्तमान, भविष्य), प्रश्न, निषेध आदि के भाव सम्बन्धतत्त्वों द्वारा बतलाए जाते हैं। जिन भाषाओं में इनमें से कुछ के लिए अलग सम्बन्धतत्त्व नहीं हैं उनके विषय में निश्चयात्मक रूप से हम कह सकते हैं कि उन भाषाओं में सोचने-विचारने की वे धाराएँ नहीं हैं। इस जगह पर इन सम्बन्धतत्त्वों द्वारा निर्दिष्ट धाराओं के इतिहास पर विचार कर लिया जाय।

लिंग

व्याकरण के अनुसार शब्दों में तीन लिंग मिलते हैं--पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग। परन्तु इस लिंग का नैसर्गिक पुरुषत्व और स्त्रीत्व से कोई सम्बन्ध नहीं। संस्कृत में स्त्रीवाचक शब्द सभी लिंगों (*दारा* पुं०, *स्त्री महिला* स्त्री०, *कलत्रं* नपुं०) में मिलते हैं। संस्कृत, हिन्दी, अरबी, फ्रेंच आदि भाषाओं में अचेतन पदार्थों को बतलाने वाले शब्द कोई पुल्लिंग होते हैं तो कोई स्त्रीलिंग, जैसे--पानी के लिए

संस्कृत में *वारि जलं* आदि नपुं० पर *आप स्त्री०*, हिन्दी में *बाट* (स्त्री०) *रस्ता* (पुं०), *डगर* (स्त्री०), *मार्ग* (पुं०), अरबी में *किताब* (स्त्री०), *मौत* (स्त्री०)।

मुंडा भाषाओं में पुल्लिग और स्त्रीलिंग का भेद नहीं है। जहाँ भेद जतलाने की ज़रूरत होती है वहाँ फारसी की तरह *नर* और *मादह* के लिए शब्द जोड़कर लिंग-भेद किया जाता है, जैसे *आंडिया कूल* (बाघ), *एंगा कूल* (बाघिन)। संज्ञाओं के चेतन और अचेतन ये विभाग मिलते हैं। द्राविड़ भाषाओं में संज्ञाओं के दो भेद पाए जाते हैं—उच्चजातीय और जातिहीन, तथा फ़ारसी की तरह पुरुष और स्त्री सूचक शब्द जोड़कर पुल्लिग और स्त्रीलिंग का भी भेद कराया जाता है। अंग्रेजी में अचेतन पदार्थों पर भी कभी-कभी पुरुषत्व और स्त्रीत्व का आरोप जानबूझ कर किया जाता है, उस भाषा में सूर्यवाचक शब्द *सन्* पुं० और चन्द्र-वाचक शब्द *मून्* स्त्री० होता है, *शिप्* (जहाज) और *ट्रेन* स्त्री० होते हैं। इस प्रकार भाषाओं में लिंग के बारे में बड़ी विभिन्नता है।

यदि अचेतन पदार्थों के लिए सदा नपुंसकलिंग और चेतन जीवों में पुरुषों के लिए पुल्लिग और स्त्रियों के लिए स्त्रीलिंग होता तो बात युक्तिसंगत होती। पर अधिकतर बात इसके विपरीत है। इसका क्या कोई कारण है? प्रश्न के तीन भाग हैं—(क) पुरुष के लिए स्त्रीलिंग शब्द क्यों, अथवा स्त्री के लिए पुल्लिग शब्द क्यों? (ख) चेतन के लिए नपुं० शब्द क्यों और (ग) अचेतन के लिए पुं० और स्त्री० शब्द क्यों? वर्तमान भाषाओं के लिंग को हम खोजते-खोजते पुरानी भाषाओं तक पहुँचते हैं। हिन्दी का पुल्लिग और स्त्रीलिंग का प्रयोग अपना इतिहास वैदिक संस्कृत तक पाता है। गुजराती और मराठी में का स्वल्पावशिष्ट नपुंसकलिंग भी संस्कृत तक पहुँचता है। इसी प्रकार अन्य भाषाओं के बारे में भी कह सकते हैं। आदिम भाषाओं के विषय में विचार करना है।

(क) पुरुष के लिए स्त्री० और स्त्री० के लिए पुं० शब्द का प्रयोग

तब संभव है, जब पुरुष में स्त्री के कोई विशिष्ट गुण, विशेष परिस्थिति में, देखे गए होंगे और स्त्री० में पुरुष के गुण, तभी विपरीत लिंग का प्रयोग हुआ होगा। संस्कृत का स्त्रीवाचक पुं० *दाराः* शब्द शायद स्त्री के गृहप्रबंध के कौशल को देखकर ही पुं० हुआ होगा।

(ख) चेतन के लिए नपुं० शब्द का प्रयोग, संभव है कि, कुछ अचेतनत्व देखकर ही प्रयोग में आया होगा। संस्कृत का स्त्रीवाचक नपुं० *कलत्र* शब्द शायद इस बात का द्योतक है कि स्त्री और सामग्री की तरह पिता के घर से पति के घर पहुँचा दी जाती थी।

(ग) अचेतन के लिए पुं० या स्त्री० का प्रयोग अचेतन पदार्थों में जीवन की कल्पना करने से ही संभव हुआ होगा। अग्निवाचक संस्कृत के *पावक*, *अग्नि*, *दहन* आदि शब्द शक्ति और प्रकाश आदि गुणों को जतलाते हैं। *शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये* आदि मन्त्र में जलवाचक *आप* का स्त्री० में प्रयोग उसके सुख, शान्ति देने के गुण का द्योतक है।

जहाँ कोमलत्व, शान्ति आदि की कल्पना की जाय वहाँ स्त्रीलिंग का प्रयोग और जहाँ वीरत्व, ओज आदि की कल्पना हो वहाँ पुल्लिग का प्रयोग युक्तिसंगत जान पड़ता है। और किसी भाषा में यदि एक बार इस तरह का प्रयोग कुछ शब्दों में चल पड़ा तो दूसरों में भी होकर भाषा का स्वाभाविक अंग बन जाता है। वर्तमान भाषाओं में जहाँ लिंग-भेद है वहाँ से उसे हटाने की या उसे छोड़ने की यदि जरा भी बात की जाती है तो उस भाषा के बोलने वालों को बुरा लगता है। अपने आप दूर हो जाय तो कोई बात नहीं।

वचन

संसार की वर्तमान अधिकांश भाषाओं में एकवचन और बहुवचन को व्यक्त करने का प्रबंध है। लिथुऐनी में अब भी द्विवचन अवशिष्ट मिलता है। अफ्रीका की कुछ भाषाओं में त्रिवचन के भी रूप मिलते हैं। द्विवचन और त्रिवचन के अस्तित्व से यह न समझना चाहिए कि

जिन भाषाओं में ये हैं उनके बोलने वाले दो या तीन से आगे की गिनती नहीं जानते थे। संसार में जीव और वस्तुएँ एक और अनेक दिखाई देती हैं। इसलिए एकवचन और बहुवचन को व्यक्त करने के लिए भाषाओं में साधन होना स्वाभाविक ही है। द्विवचन का आविर्भाव किन्हीं वस्तुओं को समान और साथ-साथ देखने से हुआ होगा, जैसे *दो पैर*, *दो हाथ*, *दो आँखें*, *दो कान*, *अश्विनौ* आदि। धीरे-धीरे निरन्तर साथ रहने वाली पर भिन्न वस्तुओं अथवा जीवों के लिए भी इस वचन का प्रयोग होने लगा। *इन्द्राग्नी*, *मित्रावरुणौ*, *द्यावापृथिवी*, *पितरौ* आदि प्रयोग इसी के उदाहरण हैं। और फिर द्विवचन सर्वसाधारण प्रयोग में आ गया। संस्कृत में द्विवचन था, पर पालि और बाद वाली आर्य भाषाओं से वह गायब हो गया। उसके लोप का कारण यही हो सकता है कि द्विवचन की स्वतन्त्र सत्ता का उसके विस्तृत व्यवहार के कारण कोई उपयोग नहीं दिखाई पड़ा। किन्हीं दो वस्तुओं का बोध कराने के लिए संख्यावाचक दो का प्रयोग करके अनेकवाचक बहुवचन को लाकर काम चल गया। इसी प्रकार जिन भाषाओं में त्रिवचन का व्यवहार है वहाँ किन्हीं वस्तुओं को तीन के समूह में देखना और उसे विशेष रूप से व्यक्त करना आवश्यक समझा गया होगा।

इन वचनों के अतिरिक्त भाषाओं में व्यक्ति और समूह को अलग-अलग व्यक्त करने के भी साधन मौजूद रहते हैं। वैदिक संस्कृत में कई प्रयोग ऐसे मिलते हैं जिनमें संज्ञा बहुवचन में है और क्रिया एकवचन में। ऐसे स्थलों में बहुवचन से केवल समूह का बोध होता है। बाद को समूहवाचक बहुत से शब्द बन गए। *गण* पुराना शब्द है। *द्वितय*, *त्रितय*, *चतुष्टय* आदि भी समूहवाचक हैं। हिन्दी के *जोड़ा जोड़ी*, *गंडा* (४), *पंजा* (५), *दर्जन*, *कोड़ी* आदि शब्द इसी श्रेणी के हैं। और साहित्य-शास्त्री तो, विशेष समूहों की संख्या को व्यक्त करने के लिए—*वेद*, *रस*, *ऋषि*, *वसु*, *रुद्र*, *आदित्य* आदि कितने ही शब्दों का प्रयोग करते हैं। किसी समूह की कल्पना करके अनेक समूहों की भी कल्पना हो सकती है, इसी कारण समूहवाचक शब्द एकवचन या बहुवचन में हो सकते हैं।

काल

काल का विचार आज जितना स्पष्ट जान पड़ता है उतने स्पष्ट रूप से पूर्व समय की भाषाओं में नहीं व्यक्त पाया जाता। संस्कृत के भूतकाल के लिए तीन रूप (अनद्यतन, परोक्ष और सामान्य) मिलते हैं। उनमें क्रिया के समाप्त होने की भावना अधिक निहित है, भूतकाल की कम, और वह काम आज से पहले खत्म हुआ, या दूर के पूर्ववर्त्ती समय में जिसको वक्ता ने अपनी आँखों नहीं देखा, इत्यादि भावों की विवेचना पर जोर रहता था। वर्तमान भाषाओं की काल-प्रक्रिया को यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो पता चलता है कि वर्तमानकाल के रूप तो असन्दिग्ध और सुस्पष्ट हैं, अन्यों के नहीं। उदाहरण के लिए भविष्य को ही ले लीजिए। अंगरेजी में इसको व्यक्त करने के लिए अलग रूप नहीं--धातु में वर्तमान-कालिक इच्छावाचक कोई विल (will) शैल् (shall) अन्य धातु जोड़कर ही इसका बोध कराया जाता है। फ्रेंच में भी भविष्य और भूत के रूपों में विलक्षण घोलमेल है। हिन्दी में तो खड़ीबोली का भविष्यकाल वर्तमान और भूतकाल के रूपों को जोड़ कर ही बनाया जाता है। *जायगा* में दो अंश हैं *जाए* < *याति* (जाता है) और *-गा-गत* (गया)। यह (*-गा-गी-गे*) अंश वर्तमान-कालिक अन्य धातुरूपों के बाद जुड़ा मिलता है। अवधी आदि बोलियों में *जाब*, *जाइब*, *जइबे* आदि रूप प्राचीन कृत्य रूपों पर निर्भर हैं जिनका तात्पर्य था ......*चाहिये*......*होगा*। ब्रज आदि में *जइहें*, *जाई* आदि रूप प्राचीन (संस्कृत) भविष्य से धीरे-धीरे विकसित हुए हैं पर संस्कृत में ही धातु और वर्तमान काल के प्रत्ययों के बीच में *-स्य* जोड़कर ही तो भविष्य का बोध कराया जाता था।

इसी प्रकार भूतकाल का बोध पक्की नींव पर नहीं है। हिन्दी में (तथा अन्य भारतीय आर्य भाषाओं में भी) इस काल का बोध निष्ठा पर अवलम्बित है जो केवल किसी काम के पूरे होने का बोध कराती थी--काल का नहीं। *यदि वर्धा गया तो महात्मा जी की कुटिया के अवश्य दर्शन करूँगा* आदि प्रयोगों में भूतकाल का बोधक *गया*, भविष्य की बात कहता है।

मनुष्य के जीवन में वर्तमान ही निश्चित है, "कल की राम जाने" भूत की भी वही बात निश्चित है जो अपने अनुभव में आई हो। इसी प्रकार भाषा में भी अधिक स्थिर रूप वर्तमान काल के ही होना स्वाभाविक है अन्यों के अपेक्षाकृत अस्थिर।

प्रेरणार्थक आदि

संस्कृत में क्रिया में काल के ऊपर अधिक ज़ोर न था, किन्तु क्रिया के प्रकार पर स्पष्ट ज़ोर दिया जाता था। कर्ता स्वयं क्रिया करता है या उसे कोई करने को प्रेरित करता है—इन दोनों के लिए अलग अलग (*गच्छति, गमयति*) रूप थे। किसी काम को करने की इच्छा करने के लिए जुदा रूप (*जिगमिषति*), बार बार या खूब करता है तो भिन्न ही रूप (*देदीयते*—बार बार देता है या खूब देता है) इत्यादि। आज हिन्दी आदि आधुनिक आर्य भाषाओं में विचार की ये धाराएं समाप्त सी हो गई हैं। यदि इन विचारों को प्रकट करने की ज़रूरत होती है तो अलग अलग शब्दों से इनका बोध होता है न कि उसी धातु के विभिन्न रूपों से। इनमें से केवल प्रेरणार्थक के रूप मिलते हैं, *करना करवाना*, *पढ़ना पढ़ाना* आदि। अंग्रेजी में प्रेरणार्थक का भी भाव क्रिया के भिन्न रूपों से न जतला कर प्रेरणा का अर्थ बतलाने वाली किसी धातु (कॉज़ Cause मेक make) के प्रयोग द्वारा सिद्ध करते हैं। संस्कृत के बहुत से, इस प्रकार के भिन्न रूपों द्वारा जतलाए हुए प्रयोग आज हिन्दी में दो या अधिक शब्दों के जोड़ से जतलाए जाते हैं, *मैं जाना चाहता हूँ, मैं ख़ूब खाता हूँ, मैं चलता रहा, मैं चल पड़ा, मैंने खाया, मैं खा गया, मैंने खा डाला, मैं खा चुका* आदि प्रयोगों में विचार की जो बारीकी सुस्पष्ट है वह शब्दों द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती। संस्कृत इन्हीं में से बहुतों को क्रिया के ही भिन्न-भिन्न रूपों से प्रकट करती थी।

संस्कृत की धातुएँ वैयाकरणों द्वारा दस गणों में बाँटी गई हैं, एक गण की धातुओं के रूप दूसरी से आंशिक रूप से भिन्न हैं—किन्हीं धातुओं के बाद ही तुरन्त तिङ प्रत्यय लग जाते हैं (*अद्+मि*), कुछ

के उपरान्त तिङ के पूर्व कुछ जुड़ता है (*वप्+अ+ति*, *विद्+य+ते*, *कृ+णो+ति*, *पूज्+अय+त आदि*), कुछ धातुओं की ध्वनियों में ही कुछ परिवर्तन हो जाता है (*रुध्+ति=रु+णध+ति=रुणद्धि*)। किसी धातु का रूप अभ्यास प्राप्त करता है (*हु+ति=जुहु+ति=जुहोति*)। रूप की इस विभिन्नता की तह में विचारधारा की कोई विभिन्नता रही होगी, ऐसा अनुमान करना युक्ति-संगत है। संभव है कि जिन धातुओं को अभ्यास प्राप्त होता है उनसे, पहले बार बार किए जाने वाली क्रिया का ही बोध होता रहा हो; *जुहोति* (आहुति देता है) में बलि (आहुति) बार बार ही देवता को समर्पित की जाती थी। यद्यपि आज इस विभिन्नता के इतिहास की खोज करना असंभव सा है तथापि भाषाविज्ञानी का विचार इस बात पर स्थिर है कि रूप-विभिन्नता के साथ विचार-धारा की विभिन्नता अवश्य रही होगी।

वाच्य

संस्कृत में तीन प्रयोग या वाच्य होते हैं—कर्तृ, कर्म और भाव। यदि किसी वाक्य में कर्तृत्व पर ज़ोर होता है तो कर्तृवाच्य, कर्म पर तो कर्मवाच्य और क्रिया के भाव पर हो तो भाववाच्य। कर्तृवाच्य में कर्ता स्वयं काम करता दिखाई देता है। *कृष्ण भक्तों का उद्धार करते हैं* इस वाक्य में *कृष्ण* का कर्तृत्व स्पष्ट है, किन्तु *भक्तों का उद्धार किया जाता है* इस वाक्य में उद्धार पर ज़ोर है, चाहे *कृष्ण* करें या *राधा* या *राधेश्याम*। इसी प्रकार *खाया नहीं जाता*, *चला नहीं जाता*, आदि प्रयोगों में क्रिया द्वारा बतलाए हुए भाव पर ज़ोर है, *किससे नहीं खाया जाता* या *क्या नहीं खाया जाता* अथवा *किससे नहीं चला जाता* इस पर नहीं। इन तीनों प्रयोगों के लिए संस्कृत में धातुओं के अलग अलग रूप पाए जाते थे। पर आगे चल कर कर्मवाच्य और भाववाच्य का प्रयोग भिन्न रूपों से न बतलाकर संयुक्त क्रिया द्वारा सिद्ध किया गया। *उद्धार किया नहीं जाता*, *खाया नहीं जाता*, *चला नहीं जाता* आदि वाक्यों में प्रधान क्रिया को जा का सहयोग प्राप्त है और इसी संयोग से

कर्मवाच्य और भाववाच्य का बोध कराया गया है। कर्तृवाच्य सकर्मक अकर्मक दोनों तरह की धातुओं के रूपों में संभव है, कर्मवाच्य केवल सकर्मक धातुओं में और भाववाच्य अकर्मक में ही। *गुरु शिष्य को पढ़ाता है* इस प्रयोग में ऐसा नहीं कि केवल गुरु ही काम कर रहा हो *शिष्य* नहीं, क्योंकि यदि शिष्य सावधान न हो तो गुरु क्या ख़ाक पढ़ा पाएगा। पर इस प्रयोग में कर्तृत्व का प्रयोग इसलिए है कि कर्ता का भाग प्रधान है शिष्य का गौण। *चौकीदार चोर को पीटता है* इस वाक्य में सम्पूर्ण कर्तृत्व कर्ता का ही है, कर्म की न सहायता है न सहयोग, विरोध भले ही हो। इस प्रकार सकर्मक धातुओं का प्रभाव कर्म पर अवश्य पड़ता है, अकर्मक धातुओं में वह कर्ता तक ही सीमित रहता है। कुछ भाषा-विज्ञानियों ने कुछ सकर्मक धातुओं के कर्तृत्व के विषय में सन्देह किया है, जैसे *देखना*। उनका कहना है कि देखने की क्रिया में कर्ता कुछ नहीं करता, उसके दीदे पर सामने की चीज़ की छाया पड़ती है और उसे बेबस देखना पड़ता है, इसी प्रकार *सुनना* है। पर यदि गहराई से विवेचन किया जाय तो बात ऐसी नहीं है। यदि हमारा अन्तःकरण क्रियाहीन हो तो सामने की ही वस्तु न दिखाई पड़े और निकटतम शब्द भी न सुनाई पड़े। इसलिए इन धातुओं के बारे में कर्तृत्व उतना ही निश्चित है जितना अन्यों में।

पद

संस्कृत में धातुएँ दो भागों में बंटी थीं—परस्मैपद और आत्मनेपद। इस विभाग की तह में क्रिया के फल का विभाग था; यदि क्रिया का फल कर्ता को स्वयं मिले तो आत्मनेपद और यदि दूसरे को तो परस्मैपद। उदाहरण के लिए *यजमानः यजते* और *ऋत्विक् यजति*। पहले में आत्मनेपदी क्रिया है दूसरे में परस्मैपदी। क्रियाओं का ठीक ठीक इस अर्थ में प्रयोग उत्तरोत्तर घटता गया और पालि, प्राकृत आदि भाषाओं में पदों के अनुसार क्रिया की रूप-विभिन्नता लुप्त हो गई।

वृत्ति

संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं में आशीर्लिङ्ग, विधिलिङ्ग, आज्ञा आदि विभिन्न वृत्तियों के लिए भिन्न भिन्न रूप थे किन्तु हिन्दी आदि वर्तमान भाषाओं में यह विभिन्नता नहीं पाई जाती। अंगरेजी के व्याकरणों में यद्यपि कई वृत्तियों का उल्लेख मिलता है, तब भी भाषा में अब बहुधा वर्तमान काल के रूपों से ही सभी का बोध कराया जाने लगा है।

विभक्ति

संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण के विभिन्न रूपों को विभक्ति कहते हैं। संस्कृत में सात विभक्तियाँ प्रथमा से सप्तमी तक हैं और सम्बोधन के लिए प्रथमा का ही अधिकांश में प्रयोग होता था, केवल एकवचन में अन्तर था। यदि उसको भी अलग विभक्ति मानें तो आठ होंगी। इन विभक्तियों का अलग अलग उपयोग होता था जिसका बड़ा यथार्थ और सुन्दर विवेचन पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है। इन सात विभक्तियों के स्थान पर पालि, प्राकृत और अपभ्रंश को पार करके हिन्दी में आज दो ही मिलती हैं—एक **विकारी** और दूसरी **अविकारी** अर्थात् एक ऐसी जिसका मूल रूप ज्यों का त्यों रहता है और दूसरी जिसमें कुछ विकार होता है, उदाहरणार्थ—

अविकारी	विकारी
पूत, गाय	*पूतों, गाएँ; गायों*
घोड़ा	*घोड़े, घोड़ों*
कोई, कौन	*किस*
मैं	*मुझ मेरा*
तुम	*तुम्हें, तुम्हारा*

खड़ी बोली में व्यंजनान्त संज्ञा (लिखाई में अकारान्त संज्ञा) का एकवचन में कोई विकारी रूप नहीं होता पर ब्रज, अवधी आदि में इनमें से कुछ संज्ञाओं का एकवचन में भी होता है (जैसे घर—घरहिं;

घरइ दुआर-दुआरे)। सर्वनामों के प्रायः सभी बोलियों में दो विकारी रूप मिलते हैं, एक पुरानी षष्ठी विभक्ति का स्थानापन्न और दूसरा अन्य विभक्तियों के लिए। अँगरेज़ी की ऐसी ही स्थिति है। जर्मन के सर्वनामों में पुरानी सम्प्रदान विभक्ति का भी अवशेष मिलता है। पालि भाषा में संस्कृत की सभी विभक्तियाँ पाई जाती हैं, केवल षष्ठी और चतुर्थी के प्रयोग में अस्थिरता दिखाई पड़ती है, कभी षष्ठी की जगह चतुर्थी और चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी। महाराष्ट्री आदि के समय तक चतुर्थी विलुप्त हो गई और अन्य विभक्तियों के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग कुछ बढ़ गया। अपभ्रंशों के समय तक ध्वनि-विकास के सहयोग से रूप-विभिन्नता और कम हो गई और थोड़ा-थोड़ा परसर्गों का प्रयोग दिखाई देने लगा। और आज हिन्दी की अधिकांश संज्ञाओं में केवल दो ही रूप दिखाई देते हैं—एक अविकारी, दूसरा विकारी। विभक्तियों के अर्थ का बोध परसर्गों द्वारा होता है। विकारी रूप बहुधा बहुवचन का होता है और लक्षण ऐसे दिखाई पड़ते हैं कि बहुवचन का विकारी रूप वहाँ भी प्रयोग में आने लगेगा जहाँ अब अविकारी आता है। खड़ी बोली में हम कहते हैं—*पूत आया, पूत को प्यार करो, पूत आए, पूतों को पियार करो*। पर अवधी की कुछ बोलियों में पूतन *आए, पूतन को पिआर करउ* आदि प्रयोग खूब प्रचलित हैं।

जब विभक्तियों के लिए अलग अलग रूप मिलते हों तब निश्चय समझना चाहिए कि विचारधारा में इनके द्वारा व्यक्त किए गए भावों की विभिन्नता है। इन विभक्तियों के ह्रास के अनुपात से इस विचार-धारा का भी ह्रास समझना चाहिए। आज इन विभक्तियों के स्थान पर परसर्गों का प्रयोग प्रचलित है और इनमें भी अपादानत्व और करणत्व (*से*) तथा संबंधत्व और सम्प्रदानत्व और कर्मत्व (*को, का, की*) में भी विशेष भेद नहीं। इन सबसे यही नतीजा निकलता है कि संज्ञाओं के विषय की वह बारीकी जिसे संस्कृत बोलने वाला बर्तता था हम नहीं बर्तते।

१०

कारक

क्रिया के साथ विभक्तियों के सम्बन्ध को कारक कहते हैं, यदि किसी क्रिया के साथ किसी विभक्ति का संबंध न हो तो उस विभक्ति को कारक न कहेंगे—जैसे षष्ठी विभक्ति का प्रयोग एक संज्ञा या सर्वनाम का दूसरी संज्ञा या सर्वनाम के साथ संवंध जोड़ने के लिए ही होता था, इसी से संबंध कारक नहीं माना जाता।

संबंध-तत्त्वों द्वारा व्यक्त की गई और व्याकरण द्वारा लक्षित इन धाराओं का जितनी ही सूक्ष्मता से हम विचार करते हैं उतना ही यह स्पष्ट होता जाता है कि ये धाराएँ न तो नैसर्गिक अर्थात् स्वभाव-सिद्ध ही हैं और न किन्हीं तार्किक सिद्धान्तों पर निर्भर। मनुष्य-समाज कहाँ, कब, किन परिस्थितियों में इन धाराओं को बनाता बिगाड़ता रहता है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। संस्कृति की दृष्टि से किसी सुसंस्कृत जन-समुदाय में ऐसी धाराएँ वर्तमान रह सकती हैं जो साधारण रीति से अनावश्यक प्रतीत हों। उदाहरण के लिए आर्य भाषाओं में अचेतन पदार्थों का लिंगभेद है। संसार की भाषाओं के विकास का अध्ययन करके भाषा-विज्ञानी इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मनुष्य की विचारधारा क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ रही है। संभव है कि यह बात इस समय ठीक हो। हम देख ही चुके हैं कि विशेष को देखकर सामान्य और गुणी को देखकर गुण का अनुभव होता है। काली, लाल, सफेद, छोटी, बड़ी तरह-तरह की गायों को देखकर ही हमारे दिमाग में *गाय* का सामान्य रूप बनता है। तरह-तरह की चीज़ों में सफ़ेद रंग को देखकर ही हमें *सफ़ेद* का निश्चित रूप मालूम होता है। पहले हम घी, आटा, भाजी आदि का तौलना देखकर ही *बात तौलना* सीखते हैं; *घर जलना* देखकर ही *जी जलता* है मिर्च आदि की कड़ुआहट पाकर ही कड़ुई बात को त्याग देते हैं। शक्कर आदि की मिठास का मजा चखकर ही *मीठी बात* करते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा रहे हैं। पर इतना निश्चय समझना चाहिए कि जब सूक्ष्मता की सीमा पहुँच जायगी तब फिर

स्थूलता की ओर बढ़ेंगे। यही सृष्टि का क्रम है और यही विकास का मूलमंत्र।

सूक्ष्म की ओर जाने से यह न समझना चाहिए कि यदि किन्हीं भाषाओं के किन्हीं अंशों में धाराओं की स्थूलता पाई जाती है तो वे भाषाएँ असभ्य जन-समुदायों की हैं। वचन का विवेचन करते हुए हम ऊपर कह चुके हैं कि द्विवचन या त्रिवचन के अस्तित्व से यह न समझना चाहिए कि लिथुऐनी या अफ्रीकी बोलने वाले दो या तीन ही तक गिन सकते हैं। यदि संस्कृत में काल की निश्चित अभिव्यक्ति पर ज़ोर न था तो यह न सोचना चाहिए कि प्राचीन आर्य दार्शनिक को काल का ज्ञान ही न था। कुछ असभ्य जातियों में भिन्न भिन्न वृक्षों के लिए तो शब्द हैं पर सामान्य वृक्ष के लिए कोई शब्द नहीं, अथवा भिन्न भिन्न कीड़े के लिए शब्द हैं पर सामान्य कीड़े के लिए नहीं। संभव है कि ये वृक्ष और कीड़े की सूक्ष्मता तक न पहुँच पाए हों, पर और चीज़ों में सभ्य कहलाई जाने वाली जातियों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता को पहुँच चुके हों।

ध्वनियों के विकास का विचार करते समय ऊपर हम देख चुके हैं कि भाषा में कुछ ध्वनियाँ लुप्त होकर अपना स्थान दूसरी ध्वनियों को देती रहती हैं। यही बात इन धाराओं पर लागू है। पुरानी धाराएँ बिगड़ती हैं और नई आती रहती हैं। जैसे सृष्टि के अनन्त ध्वनि-भंडार में से कोई भाषा ध्वनियों की परिमित संख्या को ही व्यवहार में लाती है, इसी प्रकार धाराओं में से भी भाषा परिमित ही संख्या ग्रहण करती है।

भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न धाराएँ होती हैं। चीनी भाषा में षष्ठी विभक्ति के वज़न की कोई चीज़ नहीं। उसमें सम्बन्धतत्त्व का बोध वाक्य में पदों के क्रमिक स्थान से होता है और यह क्रम भी संस्कृत का ठीक उलटा। जितनी ही एक भाषा से दूसरी की दूरी है उतनी ही इन धाराओं की दूरी। और इस दूरी के अनुपात से ही एक भाषा के भावों विचारों को दूसरी में प्रकट करने की मुश्किल बढ़ती

घटती रहती है। किसी को संस्कृत और बंगाली का ज्ञान हो तो उनके ग्रंथों का हिन्दी में आसानी से अनुवाद कर सकता है। अंगरेज़ी से हिन्दी में अनुवाद करना अपेक्षा-दृष्टि से ज्यादा कठिन है; भिन्न परिवार वाली अरबी या चीनी आदि से और भी कठिन। *इस मिर्च में बिल्कुल मिर्च नहीं है, चीनी मैंने खा डाली, मैं गिर गया, मैं आ गया* और *मैं आ पहुँचा* आदि हिन्दी के वाक्यों का अंगरेज़ी में क्या कोई सन्तोषजनक अनुवाद कर सकेगा ? *मुझ से दवात गिर पड़ी* का मुहावरेदार अंगरेज़ी में अनुवाद होता है—*आइ ड्राप्ड द इंकपॉट* (I dropped the inkpot) पर क्या अंगरेज़ी के इस वाक्य से दवात के गिरने में मेरी असमर्थता और इस घटना के अकस्मात् ही पड़ने का आभास मिला ? मेरा सिर चकरा रहा है को अंगरेज़ी में कैसे व्यक्त किया जाय ?

हर भाषा में अलग अलग कुछ ऐसी अपनी धाराएँ होती हैं जिनको उस भाषा का बोलने वाला ही समझता है। दण्डी ने काव्यादर्श में अलंकारों का विवेचन करते हुए एक स्थान पर उदाहरण रूप कहा है—

इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्।
तथापि न पदाख्यातुं सरस्वत्याऽपि शक्यते ॥

अर्थात् गन्ना, दूध, गुड़ आदि की मिठास में परस्पर बड़ा फ़र्क है पर उसको सरस्वती भी शब्दों द्वारा नहीं व्यक्त कर सकती। ठीक ऐसी ही बात इन विभिन्न विचार-धाराओं की है, कौन चित्रकार उसे तूलिका पर उतारे, कौन कवि उसे शब्दों में लावे और कौन तानसेन उसे सरगम पर चढ़ावे ?

भाषा की ये धाराएं संगठित समाज से ही उठती हैं और जब किसी विशेष धारा से समाज कुछ कठिनाई का अनुभव करता है तब उसमें अनायास और अनजान में परिवर्तन हो जाता है। प्रयास की बचत के लिए जहाँ एक ओर रूप-विभिन्नता के विरुद्ध और एक रूपता की ओर मनुष्य निरन्तर बहता रहता है वहाँ साथ ही साथ विभ्रम को

दूर रखने और स्पष्टता को कायम रखने के लिए रूपों की अनेकता भी चली चलती है। सृष्टि की प्रत्यक्ष एकता और अनेकता के समान इन धाराओं की भी एकता और अनेकता साथ साथ रहती है। इस संबंध में जो बात ध्वनि-विकास में देखी गई वही पद-विकास में भी झलकती है।

इक्कीसवाँ अध्याय

पद-व्याख्या

वैयाकरणों ने पदों के भेद बताए हैं। ग्रीक व्याकरणों में इस प्रकार के दस पद बताए गए हैं, किन्तु अधिकांश में यह विभाजन केवल व्याकरणों की ही चीज़ है। इसी प्रकार अन्य प्राचीन भाषाओं के वैयाकरणों ने पदों का विभाग किया है। इन सब में संस्कृत वैयाकरणों द्वारा की गई पद-व्याख्या सब से अधिक युक्तिसंगत मालूम पड़ती है।

पदों में कुछ अव्यय होते हैं और बाक़ी अन्य। अव्यय भी कई प्रकार के होते हैं--विस्मयादिबोधक, समुच्चयादिबोधक, उपसर्ग, परसर्ग आदि।

विस्मयादिबोधक अव्यय अन्य पदों से भिन्न होते हैं, उनका वाक्य से कोई संबंध नहीं होता, और ये अलग ही मनोराग का बोध कराते हैं। *धिक्, हा, आः, छिः, धत्*—आदि विशेष विशेष मनोरागों की ही अभिव्यक्ति करते हैं। कभी कभी इन अव्ययों में ऐसी ध्वनियाँ होती हैं जो उस भाषा के अन्य पदों में नहीं मिलतीं, जैसे किसी करुण दृश्य को देखकर सहसा हम लोगों के मुँह से च् च् च्. . . की ध्वनि निकलती है। किसी को डाटते समय भी हम विशेष ध्वनि करते हैं। इन सब का वाक्य की अन्य ध्वनियों से कोई संबंध नहीं होता, यह स्पष्ट है।

समुच्चयादिबोधक (*और, पर, बल्कि आदि*), **परसर्ग** (*को से, का, में पर* आदि), **उपसर्ग** (*प्र, परा* आदि) विशेषकर अर्थतत्वों का संबंध ही बताते हैं, किसी अलग अर्थ का बोध नहीं कराते। केवल उपसर्ग ही धातु के अर्थ में कुछ विकृति उत्पन्न कर देता है और उस दशा में वह धातु के अनुसार ही विकार प्राप्त करता है। अँगरेज़ी का पद आर्टिक्ल् भी अब अव्यय है यद्यपि वह विशेषण से निकला है। **क्रिया विशेषण**

अव्यय हैं पर वे विशेषण से ही निकले हैं, विशेषण की बातें इन पर लागू होती हैं। सर्वनाम शब्द यद्यपि विकारी हैं तथापि ये केवल संबंधतत्त्व का बोध कराते हैं, किसी अर्थतत्त्व का नहीं—यह, वह, मैं, तू, कौन, कोई, जो आदि ऐसे ही शब्द हैं। अंत में विचारार्थ बचते हैं—संज्ञा, विशेषण और क्रिया।

विशेषण और **संज्ञा** में विभेद की जड़ बहुत नाजुक है। प्राचीन आर्यभाषा में दोनों का विकास साथ साथ पाया जाता है और अधिकांश में उनका समान रूप मिलता है। वैदिकभाषा में सुर-विभिन्नता से ही मालूम होता है कि अमुक शब्द संज्ञा है या विशेषण। आधुनिक भाषाओं में भी संज्ञा के स्थान पर केवल विशेषण ही आ जाता है, जैसे *आम मीठे भी होते हैं और खट्टे भी, मीठे मीठे ही हैं और खट्टे खट्टे* अथवा *अच्छे लड़के आए और बुरे भी, अच्छों को मिठाई मिली और बुरों को डाँट फटकार।* इस प्रकार विवेचना करने पर अंत में संज्ञा और क्रिया दो ही मुख्य भेद स्थिर से दिखाई देते हैं। क्या इनमें कोई मौलिक भेद है?

कुछ भाषाओं में **संज्ञा** और **क्रिया** में मौलिक भेद रहा है, आर्य-भाषाएँ इनमें प्रमुख हैं। आर्य-भाषाओं की पदरचना में संज्ञा के लिए प्रत्यय एक प्रकार के (संस्कृत के सुप्) और क्रिया के लिए दूसरे (संस्कृत के तिङ)होते हैं। पर सामी भाषाओं में प्रत्ययों के विषय में इस प्रकार का कोई निश्चयात्मक भेद होने का कोई प्रमाण नहीं है। उदाहरणार्थ अरबी में *ऊन* प्रत्यय पुल्लिग बहुवचन बनाता है और क्रिया के पुल्लिग मध्यमपुरुष और अन्यपुरुष का अपूर्णकाल भी। फ़ीनी-उग्री भाषाओं की संज्ञा और क्रिया की रचना में इतनी समानता है कि हम यह कह सकते हैं कि इन दोनों को अलग अलग परख लेना असंभव है। उदाहरण के लिए वोगुली में *मिनी* (वह जाता है), *अलि* (वह मारता है) शब्द क्रिया हैं और *पुरि* (लेना) *उरि* (पकड़ना) संज्ञाएं—इन सब में एक ही प्रत्यय इ जुड़ा है। सुदूर-पूर्व की भाषाओं में संज्ञा और क्रिया की भेदहीनता ही मौलिक अंश है। चीनी भाषाओं में एक ही शब्द वाक्य में

अपने स्थान के अनुसार संज्ञा या क्रिया समझा जाता है। उदाहरण के लिए *लओ लओ, येओ येओ* (बुड्ढों की और वृद्धोचित व्यवहार करना और बच्चों की ओर बालोचित) इस वाक्य में दोनों पदों में एक संज्ञा है और एक क्रिया। चीनी वैयाकरण अपने अर्थतत्त्व वाले शब्दों में भी क्रिया-पदों को जीवित और संज्ञा तथा विशेषण को मृत मानते हैं और एक ही जीवित पद केवल सुरभेद से मृत हो जाता है। अंगरेजी में भी बलाघात के भेद से शब्द संज्ञा या क्रिया समझा जाता है। पर उसमें संज्ञा और क्रिया का भेद विशिष्ट रहता है। इस प्रकार चीनी में सर्वत्र और अंगरेजी में कुछ शब्दों के वाक्य में व्यवहार से ही यह पता चल सकता है कि अमुक शब्द संज्ञा है या क्रिया।

भाषाओं में क्रिया और संज्ञा का स्पष्ट भेद न भी हो तो भी क्रियात्मक (व्यापारात्मक) वाक्य और संज्ञात्मक वाक्य का भेद स्पष्ट रहता है। व्यापारात्मक वाक्य में व्यापार पर ही ज़ोर रहता है। ऐसा वाक्य काल, अवधि, कर्तृसंबद्ध अथवा कर्म-संबद्ध व्यापार का ही निर्देश करता है, उदाहरणार्थ *खाइए, गाना सुनो, चले गए, बस हो गया* आदि। संज्ञात्मक वाक्य में संज्ञा को ही मुख्य मान कर क्रिया उसके साथ विशेषण के रूप में रहती है, जैसे *यह मकान नया है, दौड़ता हुआ घोड़ा, पुस्तक पाठक हो जाइए* आदि।

संस्कृत में महाभारत के प्रणयन के समय से ही तिङन्त पदों के प्रयोग के स्थान पर शतृ, शानच्, क्त, क्तवतु आदि प्रत्ययों में अंत होने वाले पदों को अधिक काम में लाने की प्रथा चल पड़ी थी। इसी से समझना चाहिए कि व्यापारात्मक वाक्य का स्थान संज्ञात्मक वाक्य लेने लगा था। क्रिया-पदों के ऋग्वेद में के प्रयोग की यदि भगवद्गीता आदि उत्तरकालीन ग्रन्थों से तुलना की जाय तो पता चलता है कि उत्तरोत्तर ह्रास होता गया है और आज आधुनिक आर्य-भाषाओं की क्रियाएँ तो अधिकांश में पुराने शतृ और क्त प्रत्ययों में अंत होने वाले पदों के विकसित रूप हैं। *तुम कहाँ रहे [क्व यूयमुषिताः], तू कहाँ रहा* (क्व त्वमुषितः), *तू कहाँ रही (क्व त्वमुषिता)* आदि उदाहरणों में

क्रिया संज्ञा (या सर्वनाम) के अनुसार विशेषण सी बनकर अपना रूप बदलती है पर तिङन्त रूपों में ऐसा नहीं होता था। इन उदाहरणों से व्यापारात्मक वाक्य का स्थान संज्ञात्मक वाक्य ग्रहण कर रहा था—इतना स्पष्ट है।

इसी प्रकार से केल्टी भाषा में तुमंत रूपों ने तिङन्त रूपों को दूर भगा दिया। वैदिक संस्कृत में तुमन्त शब्द में उसी प्रकार विभक्तियाँ लगती थीं, जिस प्रकार संज्ञाओं में।

तुमंत और क्तादि प्रत्ययों में अंत होने वाले पदों को अंशतः संज्ञा और अंशतः क्रिया समझना चाहिए। इनमें प्रत्यय तो संज्ञा की तरह लगते हैं और भाव क्रिया का व्यक्त होता है, जैसे—

खाना 'खाने में' संकोच न करना चाहिए।

खाना 'खाते समय' कोई कोई मौन रहते हैं।

खाना 'खाए हुआ' आदमी संतोष का अनुभव करता है।

इन वाक्यों में खाने, खाते, खाए पदों के संज्ञा के समान रूप हैं पर इनके द्वारा जतलाया हुआ भाव क्रिया का है।

यदि अर्थ की दृष्टि से संज्ञाओं का विश्लेषण किया जाय तो पता चलता है कि मूल रूप में उनमें क्रिया छिपी हुई है। *भोजन, रोदन, हास, भजन, भक्ति, पूजा, बंध, मोक्ष* आदि शब्दों में नहीं, बल्कि अन्यों में भी, जैसे—

साधन—ऐसी वस्तु जिससे कुछ सिद्ध किया जाय (करण)।

नंदन—खुश करने वाला (पुत्र)।

घाव—(घात) चोट लगा हुआ स्थान।

सर्प—रेंगने वाला कीड़ा।

दंत रदन—फाड़ने वाली चीज (दाँत)।

गुणवाचक (*उजलापन, रंग आदि*) संज्ञाएं क्रियापदों से बनी हुई नहीं मालूम होतीं, परन्तु यदि इनकी भी चीरफाड़ की जाय तो पता लगेगा कि ये भी अपने भाई बिरादरों (अन्य सज्ञाओं) से भिन्न नहीं। *उजलापन* बना है *उजला* (*उज्ज्वल*) विशेषण से जिसके संस्कृत के रूप

उज्ज्वल क्रिया है जिसका अर्थ है 'खूब चमकना' और इसी प्रकार रंग में रञ्‌ धातु है। संस्कृत के वैयाकरणों ने इस प्रकार का विश्लेषण करके धातुकोष तय्यार किया है और उसी पर संस्कृत के शब्द-समूह की इमारत खड़ी की है। और इसी के आधार पर मैक्समूलर ने भाषा के उद्‌गम का विचार करते हुए यह संकेत किया था कि आदिम मनुष्य धातुएँ बोलता था। धातुओं तक सब संज्ञाओं को पहुंचाने का प्रयत्न तब उपहासास्पद हो जाता है जब व्यक्तियों के यदृच्छा नामों को अथवा विदेशी संज्ञाओं को भी अपनी धातुओं पर अवलंबित करने की कोशिश की जाती है---उणादिसूत्रों में कई जगह ऐसी ही भूल दिखाई पड़ती है। पर संभवतः यह बात सिद्धांतरूप से ठीक है कि हमारे अधिकांश शब्द किन्हीं धातुओं पर आश्रित हैं और ये धातुएँ ही हमारे अर्थतत्त्वों की मूलरूप है। हमारी शब्दावली दिमाग़ में बिखरी-बिखरी ऊट-पटांग नहीं पड़ी रहती---वह सजाई हुई, विभागों में क़ायदे से रक्खी हुई है, जब ज़रूरत पड़ी तब उस स्थान से निकल कर प्रयोग में आ गई और काम निबट जाने पर फिर अपने स्थान पर जाकर जम गई।

इस प्रकार हमने देखा कि हम आर्यभाषा-भाषियों को जो संज्ञा और क्रिया में मौलिक भेद मौजूद मालूम होता है, वह वस्तुतः मौलिक नहीं। क्रिया संज्ञा से मिली हुई है और संज्ञा विशेषण से। यदि कोई मौलिक भेद तो नहीं, पर अपेक्षाकृत अधिक स्थिर भेद किसी भाषा में हो सकता है तो वह है संबंधतत्त्व और अर्थतत्त्व का भेद। नहीं तो शब्द एक है।

बाईसवाँ अध्याय

पद-विकास का कारण

पद-विकास पर विचार करते हुए, ऊपर हम देख चुके हैं कि पदों के व्यवहार में निरंतर दो प्रवृत्तियाँ साथ साथ काम करती रहती हैं--एक तो पदों की एकरूपता लाने की और दूसरी अनेकरूपता कायम रखने की।

पुरानी से पुरानी भाषाओं के रूपों का विश्लेषण करने से मालूम होता है कि ऐसी कोई भाषा नहीं जिसमें व्याकरण के नियमों के अपवाद न मिलें। इससे यही नतीजा निकलता है कि पदों की एकरूपता और अनेकरूपता की ये प्रवृत्तियाँ भाषा के पुरातन अंग हैं। जैसे ध्वनि-विकास के कारण भाषा में अन्तर्हित हैं वैसे ही पदविकास के भी। अंतर केवल इतना है कि ध्वनि-विकास सर्वसाधारण और संपूर्ण जनसमुदाय पर होता है, पदविकास में अपवाद रह जाते हैं। पद-विकास को पदों की पूरी अपेक्षा रहती है, ध्वनि-विकास की उतनी नहीं। ध्वनि-विकास शब्दों की परतंत्रता में बहुधा नहीं रहती।

प्रयास की बचत के लिए पदों के रूपों में एकता लाने की प्रवृत्ति बराबर काम करती रहती है। संस्कृत में अकारान्त संज्ञाओं की संख्या बहुत बड़ी है, इस कारण स्वाभाविक ही था कि संस्कृत बोलने वाले के मस्तिष्क में अकारान्त संज्ञा के रूप अधिक स्थिरता जमा लें और दूसरे (इकारान्त, उकारान्त, व्यंजनांत) अपेक्षाकृत कम स्थिर रहें। इसी कारण प्राकृतों में जहाँ *पुत्तस्स* (<*पुत्रस्य*), *सव्वस्स* (<*सर्वस्य*) आदि रूप पाए जाते हैं वहाँ उन्हीं के वज़न पर *अग्गिस्स* (संस्कृत *अग्नेः* के स्थान पर), *वाउस्स* (*वायोः* के स्थान पर) और *हिमवन्तस्स* (*हिमवतः* के स्थान पर) भी मिलते हैं। प्रत्यक्ष ही इन रूपों के विकास में एकरूपता लाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। संस्कृत में कुछ धातुओं का

ही एक स्थान पर एक रूप (जैसे *गच्छ्*) और दूसरी जगह दूसरा रूप (*गच्छ्* के स्थान पर *गम्*) मिलता है, पर प्राकृतों में बहुधा इन दोनों की जगह एक ही (संस्कृत *गमिष्यति* के स्थान पर पालि *गच्छिस्सति*) पाया जाता है। इसी प्रकार संस्कृत में भ्वादिगण की धातुओं का बाहुल्य ढले मिलते हैं, जैसे *गृह्णाति-गृह्णान्ति* के लिए *गरहति गरहन्ति*। हिन्दी में भी बोलियों में इस एकरूपता की प्रवृत्ति के बहुत से उदाहरण दिखाई देते हैं, जैसे *पढ़ना* से प्रेरणार्थक *पढ़वाना*, *डालना* का अकर्मक *डलना*, *करना* का भूतकाल में *करा* (*किए* के स्थान पर) इत्यादि, अथवा *राजा* का विकारी रूप *राजे*।

एकरूपता लाने की यह प्रवृत्ति *सादृश्य-मूलक* है; दिमाग में बहुत से सदृश रूप जमे हुए हैं, दो चार असदृश रूप कायम रखने से दिमाग पर बोझ पड़ता है; स्वाभाविक ही है कि यह बोझ हल्का किया जाय। इसप्रकार पदविकास की भी तह में प्रयत्नलाघव ही कारण है। नपुंसकलिंग की संज्ञाओं का रूप अपभ्रंश काल में पुल्लिग के अनुरूप मिलता है—*पुत्तु*, *नरु*, *देवु* आदि के वजन पर *फलु* भी। हिन्दी में संबोधन बहुवचन के लिए अंत में होने वाला रूप (*पूतो*, *लड़कियो*, *बहुओ*, *राजाओ* आदि (और विकारी विभक्ति के लिए—ों वाला (*पूतों* *लड़कियों*, *बहुओं* *राजाओं* आदि) स्टैंडर्ड हैं। पर इधर संबोधन-रूप के स्थान पर विकारी विभक्ति का रूप बहुधा (पं० जवाहरलाल नेहरू की स्पीचों में विशेष रूप से) सुनाई पड़ता है और संभावना यही जान पड़ती है कि संबोधनवाला रूप गायब हो जायगा। अपेक्षा की दृष्टि से भाषा में उसका प्रयोग कम था ही।

यह सादृश्य जैसे गणित में काम करता है प्रायः उसी प्रकार पदविकास में। गणित में हम देखते हैं कि—

	४ का जो	भाग १ है	वही
	८ का	भाग २ है।	
उसी प्रकार जैसे	पुत्तं	पुत्तेण	
	अन्तं	*अन्तेण*	

वैसे ही

गच्छन्तं *गच्छन्तेण*

हिमवन्तं *हिमवन्तेण*

यहाँ *गच्छन्तेण* की (*गच्छता* के स्थान पर) और *हिमवन्तेण* की (*हिमवता* के स्थान पर) सिद्धि हुई है। विभिन्नता का लोप और एकरूपता का आगम इसी आदर्श पर भाषा में होता रहता है, गणित और भाषा-विकास में अन्तर इतना ही है कि गणित का नियम सर्वत्र व्यापक है। पद-विकास का नहीं। पद-विकास में भाषा की स्पष्टता कायम रखने के लिए सर्वत्र एकरूपता लाई जा सकती। किस रूप में अपेक्षाकृत दिमाग में अधिक स्थिरता है और किस में कम, यह बात हम परिणाम देखकर ही जान पाते हैं; गणित में वह वस्तु पूर्वसिद्ध है। भाषा में जहाँ एकरूपता की प्रवृत्ति काम करती है वहाँ साथ ही साथ विभ्रम दूर रखने के लिए भिन्नरूपता भी चलती रहती है। इसलिए कैसे निश्चयपूर्वक कहा जा सके कि अमुक रूप रहेगा या बदल जायगा ? जहाँ दिमाग का बोझा हल्का करने के लिए एकरूपता लाना जरूरी समझा जाता है वहाँ साथ ही साथ बहुत से विभिन्न (पद-संबंधी) अर्थों के लिए यदि एक ही रूप हुआ तो भ्रान्ति उत्पन्न होगी और दिमाग़ को थकान लगेगी। यही कारण है कि समान एकरूपता नहीं आने पाती।

सादृश्य द्वारा एकरूपता पहले पहल बच्चों की भाषा में सुनाई पड़ती है। सुबोध बालक *कर नहीं पाता, खा नहीं पाता,* चल *नहीं पाता,* आदि के वजन पर आरंभ में *पा नहीं पाता* बोलता है, और उसका बाप चचा मुस्कुराकर इस प्रयोग को *पा नहीं सकते* कह कर सुधार देता है। इसी प्रकार *करा* का *किया, पड़वाना* का *डालना, डलना* का *पड़ना* आदि रूप भी बच्चों से आरंभ होकर शुद्ध किये गये होंगे। पर इन पिछले प्रयोगों में स्थिरता की मात्रा इतनी कम थी कि वे न बच सके, और उधर *पा सकना* प्रयोग में स्थिरता अधिक थी कि शुद्धीकरण काम कर गया और *पा नहीं पाता* न टिक सका।

सादृश्य जिन रूपों को नहीं मिटा पाता उन्हीं को वैयाकरण अपवाद,

अनियमित या सबल का नाम देते हैं और जो इस सादृश्य का शिकार बन जाते हैं उन्हें वे निर्बल या नियमित कहते हैं। कारण यही है कि सबलता ही अस्तित्व कायम रखने में सहायक होती है। यह सबलता प्रायः प्रयोग की बहुलता से आती है; यदि कोई बार बार प्रयोग में आता है तो संभावना है कि वह टिक जाय; चाहे अपने साथ के रूपों से वह भिन्न ही क्यों न हो। आर्य भाषाओं की सहायक क्रिया√अस, √आ-च्छि (होना) के रूप इसके उदाहरण हैं। अन्य क्रियाओं की अपेक्षा यह इतनी ज़्यादा काम में आती है कि जहाँ और क्रियाएँ रूप बदल कर नियम के अन्दर आ गई यह (ध्वनि-विकास का पालन करती हुई भी) अपना रूप पदविकास के प्रतिकूल वातावरण में भी कायम रख सकी (है—*था*) : इसी प्रकार जाने का अर्थ बताने वाली√*जा* का भूतकाल का रूप *गया* स्थिर है, यद्यपि अन्य क्रियाओं में वर्तमान और भूत के रूपों में समानता है (*खाना-खाया, पीना-पिया* . . . आदि)।

सादृश्य के खिलवाड़ में कौन रूप रहा और कौन ग़ायब हुआ इस बात का विचार हर एक रूप के बारे में अलग अलग करना होगा और कुछ ही रूपों का विचार करके इतना स्पष्ट हो जायगा कि इस खिलवाड़ की माया विचित्र है। सादृश्य के प्रत्येक उदाहरण को युक्तिपूर्वक सिद्ध करने के लिए बड़ा परिश्रम आवश्यक है और ज़रा सी असावधानी से भाषाविज्ञान के भ्रमजाल में पड़ जाने की संभावना है। कभी अपवाद-स्वरूप सबल रूप नियम में आए हुए निर्बल रूपों पर ऐसा प्रभाव डाल देते हैं कि निर्बल रूप ही सबलों का अनुकरण कर अपवाद से हो जाते हैं।

सादृश्य से एकरूपता आ जाने पर स्पष्टता के लिए नए रूपों की सृष्टि होती है, अथवा पद-भंडार में मौजूद अन्य रूपों का प्रयोग विस्तार पा जाता है। संस्कृत में अकारान्त संज्ञाओं के प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन के रूप (*पुत्राः*) और (-न् *पुत्रान्*) थे। प्राकृतों में ध्वनि विकास के कारण पदों के अंतिम व्यंजन का लोप हुआ तो प्रथमा और द्वितीया के रूपों (प्र० *पुत्ता* द्वि०**पुत्ता*) में एकरूपता आई होगी जिसको

मेटने के लिए ही *द्वितीया* के *पुत्ता* रूप को हटाकर पुत्ते लाया गया होगा। अवधी में कर्ता कारक में एकवचन और बहुवचन में एकरूपता आ गई थी (*चोर-चोर, लरिका-लरिका, गइया-गइया*) जो शायद दुखदाई मालूम हुई। इसी को मिटाने के लिए अन्य चारकों में प्रयोग में आने वाला -न रूप (*लरिकन, गइयन*) कर्ता में भी काम में आने लगा (*लरिकन पढ़न जैहैं, गइयन चरै गईं।*) इस-न रूप ने जहाँ एक ओर भिन्न-रूपता स्थापित की वहाँ साथ ही साथ कर्ता और अन्य कारकों के प्रयोग में समानता उपस्थित कर दी। इसी तरह अन्य उदाहरणों से जान पड़ता है कि समानता और विभिन्नता भाषा के साथ आँख-मिचौनी का खेल खेला करती हैं।

विभक्ति आदि के रूपों में एकरूपता आ जाने से जिन नए रूपों की सृष्टि होती है उनमें संबंधतत्त्वों का बोध कराने वाले परसर्ग आदि विशेष रूप से उल्लेख के योग्य हैं। मे *(मध्य)* का *(कृत)* स्म आदि अथवा अँगरेजी के *ए,ऐन,* (*लि* a, an, ly <like) आदि ,पहले स्वतंत्र शब्द थे जो सहायक शब्दों के रूप में पहले-पहल व्यवहार में आए और बाद में सहायकत्व का गौण अस्तित्व स्वीकार करने के कारण अपनी स्वतंत्रता खो बैठे और विकलाँग भी हो गए। राजनीतिक परतंत्रता की तरह भाषा के शब्दों की परतंत्रता भी स्वतंत्रता खो बैठने वालों के लिए घातक है।

तेईसवाँ अध्याय

अर्थ-विचार

बोलना सीखने पर बच्चा सर्वप्रथम कुछ निरर्थक *गूं गूं*, *बा बा* आदि ध्वनियाँ करता है, इसके बाद धीरे-धीरे वह, ध्वनियों और उनके अर्थ का संबंध जोड़ने की शक्ति प्राप्त करता है। सार्थक शब्दों के उच्चारण करने के पूर्व वह उन परिचित शब्दों का अर्थ समझने लगता है। बच्चे से पूछो कि *माँ* कौन है, *गाय* कौन, *बाबू जी* कौन, तो इनके उपस्थित रहने पर वह इनकी ओर उँगली उठा देता है। इसके थोड़े ही दिनों बाद वह शब्दों का उच्चारण भी करने लगता है। इस प्रकार बच्चे के दिमाग में अर्थ का प्रवेश शीघ्र ही हो जाता है। कहते हैं कि बच्चा माँ को कुछ ही हफ्तों में पहचानने लगता है। यह संसर्ग से ही होता है।

बच्चे के दिमाग़ में ध्वनियों के संसर्ग से अर्थ आता है और काफ़ी जल्दी। उसके अन्तःकरण में ध्वनियाँ शीघ्र जम जाती हैं, और उसके थोड़े ही दिन बाद पदरचना के लिए संबंधतत्त्व भी। पर अर्थ शीघ्र आने पर भी जमता नहीं है क्योंकि अनुभव के अनुसार शब्द-विशेष के अर्थ में परिवर्तन होता रहता है। *गाय* का अर्थ बच्चे के दिमाग़ में पहले पहल घर या पड़ोस की गायों को देखकर आता है और जैसे जैसे वह विभिन्न रंगों और क़दों की गाएँ देखता है उसके गाय के सामान्य अर्थ में इस प्रकार परिवर्तन होता जाता है कि वह अपने अनुभव की सभी गायों को उसमें समाविष्ट कर सके। इसी तरह देहात का बच्चा पहले सेंठे की क़लम को ही कलम समझता है, बाद को लोहे की निब वाले होल्डर और फ़ाउंटेन-पेन को भी क़लम के अन्तर्गत कर लेता है। इसी तरह प्रत्येक शब्द का अर्थ हमारे अनुभव के अनुरूप विस्तृत होता रहता

है। इसीलिए कहा गया है कि अर्थ हमारे दिमाग में पूरे तौर से कभी सीमित नहीं हो पाता––ध्वनियाँ और पदों के संबंधतत्व बचपन में ही जम जाते हैं। किसी विशिष्ट भाषा के बोलने वाले की ध्वनियों और संबंधतत्वों को अपने स्थान से हटाने में बड़ी कठिनाई होती है। उत्तर प्रदेश के पूरबी जिले में रहने वाले छात्रों को संस्कृत पढ़ाते समय ब और *व* का अथवा ज *य* और *श स* का भेद सिखाने में कठिनाई का मूल कारण यह है कि उनकी बोली में *व, य, श* हैं ही नहीं। इसलिए उनको इनके उच्चारण में विशेष कठिनाई होती है। हम हिन्दुस्तानी लोग *थ* और द जानते हैं, अंगरेजी की *थ़* और द़ (*θ* और *δ*) नहीं और इसी-लिए इनके उच्चारण के अभ्यास के अभाव में अथवा अँगरेजों के संपर्क में आए बिना हम इन ध्वनियों को नहीं सीख पाते। संबंधतत्व भी जड़ पकड़ जाते हैं और इनको भी विचलित करना कठिन होता है। स्टैंडर्ड हिंदी के *ने* का प्रयोग अवधी और भोजपुरी वालों के लिए टेढ़ी खीर है। परंतु अर्थ के बारे में ऐसी कोई कठिनाई नहीं होती, वह अनायास ही अपना स्थान करता रहता है।

इस प्रकार अर्थ के अनुभव-जन्य होने के कारण यह संभव है कि एक ही भाषा बोलने वाले किन्हीं दो व्यक्तियों के दिमाग़ में एक ही शब्द का अर्थ (वैज्ञानिक दृष्टि से) बिल्कुल एक न हो, कुछ अंतर हो। किसी शब्द के अर्थ की कोई सीमा निर्धारित कर पाना इसी कारण असंभव होता है।

एक ही शब्द के विभिन्न अर्थ होते हैं और उनका निर्धारण *प्रकरण* करता है। जब कोई व्यक्ति किसी वाक्य में विशेष शब्द का व्यवहार करता है तब वह उसे, अनेक अर्थों के होते हुए भी, केवल एक अर्थ में लाता है और प्रायः श्रोता भी उसे उसी अर्थ में ग्रहण करता है। रसोई में बैठा हुआ रसोइया जब कहार से *सैन्धवमानय* कहता था तो कहार *नमक* ही लाकर देता था *घोड़ा* नहीं। और यदि राज-दरबार में जाने के लिए तय्यार सरदार साईस से *सैन्धवमानय* कहता तो साईस *घोड़ा* ही लाता *नमक* नहीं। प्रकरण ही इस प्रकार शब्द के अर्थ का निर्णायक है।

एक समय में एक ही अर्थ उपस्थित रहता है, उस समय अन्य अर्थ ग़ायब रहते हैं यद्यपि वे अन्तःकरण में सुप्तावस्था में पड़े रहते हैं। हाँ साहित्यिक जहाँ अपनी कला के प्रदर्शन के लिए वक्रोक्ति आदि में श्लेष का प्रयोग करते हैं वहाँ दूसरी बात है; पर वह सब कृत्रिम है, भाषा का स्वाभाविक अंग नहीं।

ऊपर कह चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति एक ही शब्द को ठीक ठीक उसी अर्थ में नहीं लेता जिसमें दूसरा। और जितनी ही एक जनसमुदाय की घनिष्ठता दूसरे से कम होती है उतनी ही अर्थ के अंतर के बढ़ने की संभावना रहती है। संस्कृत में *विहार* शब्द का अर्थ विचरण करना, टहलना, आदि था, पालि में वही शब्द निवास-स्थान के अर्थ में बराबर प्रयोग में आया है, और आज किसी प्रांत में बौद्ध विहारों के कारण ही शायद उसका नाम ही बिहार हो गया है। हिन्दी में *बाड़ी, बारी* शब्द प्रायः संस्कृत के *वाटिका* शब्द के अर्थ में आज भी काम में आता है, पर बंगाली में उसका अर्थ घर हो गया और घर का अर्थ *कमरा*। एक जनसमुदाय का दूसरे जनसमुदाय के प्रति जो सामान्य मनोभाव होता है उसके कारण भी अर्थ में भेद पड़ जाता है। संस्कृत में दैव शब्द का जो उत्कर्ष है उसका ठीक उल्टा (अपकर्ष) ईरानी के दैव *(दैव)* शब्द में मिलता है। ऋग्वेद के कुछ पुराने भागों में *असुर* शब्द देवता-वाचक है और इसी अर्थ में ईरानी में भी (*अहुर*) है, किन्तु बाद की संस्कृत में यही शब्द राक्षस, दैत्य आदि का द्योतक हो गया और *अ* को निषेधात्मक मान कर *सुर* शब्द देवता-वाचक समझा गया। फ़ारसी में (*सिंधु* का रूप) *हिंद* पहले सिन्ध नदी के आस-पास और उसके पूर्व के प्रदेश में रहने वालों के लिए व्यवहार में आया और बाद को हम हिन्दुस्तानियों के प्रति उन लोगों की कुत्सित भावनाओं के कारण *चोर, डाकू, गुलाम* आदि के अर्थ में फ़ारसी के कोषों में मिलता है। वर्तमान भारत में *मुसलमान* शब्द का अर्थ हिन्दू दिमाग़ में "शांत धर्म का अनुयायी" नहीं है—है "झगड़ालू, हिंसक और अपवित्र मनुष्य" का, और इसी प्रकार मुसलमान के दिमाग़ में *हिन्दू* शब्द का मानी "नापाक, बुतपरस्त,

छुआछूत आदि का शिकार मनुष्य" है। स्वराज-प्राप्ति के बाद इस मनोवृत्ति में परिवर्तन हो रहा है। अफ्रीका में अन्य जनसमुदायों की भाँति *काफ़िर* जाति है पर मुसलमान की भाषा में इसी शब्द का अर्थ 'विधर्मी' हो गया और आज वे लोग हिन्दुओं को भी *काफ़िर* कहते हैं यद्यपि हमारा उन अफ्रीका वालों से स्वप्न में भी कोई सम्बन्ध नहीं रहा।

एक भाषा के शब्द जब दूसरी भाषा में ले लिए जाते हैं तब उनके अर्थ में भी सामाजिक वातावरण के अनुसार परिवर्तन दिखाई पड़ता है। हिन्दी के *गिलास* शब्द का प्रयोग शीशे के अर्थ में नहीं होता बल्कि शीशा, पीतल, फूल आदि से बने हुए पात्र-विशेष के अर्थ में। डा० तारापुरवाला ने गुजराती के व्यवहार में फ़ारसी शब्द *दरिया* का अर्थ समुद्र और अँगरेज़ी के *वेस्टकोट* का जनाना कपड़ा (अँगिया) दिया है।

एक ही जनसमुदाय में दैनिक व्यवहार में एक शब्द का अर्थ एक आदमी के व्यवहार में एक और दूसरे के प्रयोग में दूसरा हो सकता है। माली *क़लम* शब्द को एक अर्थ में और अर्ज़ीनवीस दूसरे अर्थ में काम में लाता है, यह दूसरी बात है कि जब वे दोनों संपर्क में आवें तब जरूरत के हिसाब से उस शब्द का दूसरा अर्थ भी व्यवहार में लावें। इसी प्रकार माली का फूल कसेरा (बर्तन वाले) के *फूल* (धातु) से भिन्न है, डाकख़ाने का टिकट रेल के *टिकट* से, और कचहरी के *स्टाम्प* से डाकखाने का *स्टाम्प*, अथवा रजिस्टरी के दफ्तर की *रजिस्टरी* डाकखाने की *रजिस्टरी* से। पाठशाला के अध्यापक का *बेंत*, और कुर्सी बुनने वाले का *बेंत*, अथवा शाम को टहलने जाने वाले सज्जन का *बेंत*, एक दूसरे से कितना भिन्न है!

अर्थविज्ञान के प्रमुख मनीषी ब्रील के मत के अनुसार अर्थ का विकास तीन दिशाओं में होता है—**अर्थविस्तार**, **अर्थसंकोच** और **अर्थादेश**। अर्थ-विकार या अर्थपरिवर्तन सब का सब इन तीन के अंतर्गत ही मिलता है।

तैल शब्द का अर्थ 'तिल का सार' था किंतु अब यह (*तेल*) शब्द

सरसों, गोला, अलसी, मूँगफली आदि ही के सार के अर्थ का बोध नहीं कराता, मिट्टी का भी *तेल* होता है और यदि किसी आदमी से बड़ी मेहनत कराई जाय तब भी हम कहते हैं कि 'उसका *तेल* निकाल लिया'। *कुशल* उसको कहते थे जो बिना अपने हाथों को चोट पहुंचाए *कुश* तोड़ लावे, इसमें चतुराई की ज़रूरत होती थी और अब *कुशल* का शब्द चतुर-मात्र के लिए हो गया है। यज्ञ कराने वाला पुरोहित जब *काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्* का आदेश देता था तब उसका मतलब था कि केवल कौओं से ही नहीं, अन्य चिड़ियों, अथवा कुत्तों आदि से भी उसकी रक्षा करो। *गंगा* शब्द बोल-चाल की हिन्दी में नदी-विशेष का द्योतक न रह कर सब नदियों के अर्थ में प्रयोग में आता है। *गोसाईं* शब्द अब केवल गौओं के मालिक के अर्थ में न आकर सभी प्रभुओं का द्योतक है। *पत्र* शब्द पेड़ के पत्ते का ही सूचक नहीं, उसका अर्थ चिट्ठी और समाचारपत्र भी है। संस्कृत में *परश्वः* शब्द आने वाले कल के बाद वाले दिन के अर्थ में प्रयोग में लाया जाता था किन्तु उसका हिन्दी रूप परसों बीते हुए दिन के पूर्व वाले दिन के अर्थ में भी बराबर आता है और पहाड़ी बोली में तथा दक्खिन हैदराबाद में निकट भूत-काल या भविष्य के किसी भी दिन के अर्थ में आता है। इसी प्रकार *कल* शब्द आने वाले दिन के अर्थ (*कल्लं <कल्यं=प्रातः*) में आता था पर हिन्दी में बीते हुए दिन के अर्थ में भी आता है। *गोष्ठम्* शब्द का अर्थ गाय की रहने की जगह था, पर बाद को किसी भी जानवर के रहने की जगह के लिए यह शब्द काम में आने लगा और *गोगोष्ठम्* (गाय का निवासस्थान) *अविगोष्ठम्* (भेड़ का निवासस्थान) शब्द बने। इसी तरह गोयुगम् गाय का बैल की जोड़ी के अर्थ में था, फिर जोड़ी मात्र के अर्थ में चल पड़ा और उष्ट्रगोयुगम् (ऊँट की जोड़ी), *खरगोयुगम्* (गदहे की जोड़ी) आदि शब्द बन गए। इन उदाहरणों से अर्थ-विस्तार किस प्रकार चलता है यह स्पष्ट हो जाता है।

अर्थसंकोच के भी बहुत से उदाहरण हैं। नेत्र शब्द का अर्थ था चमकने वाला, प्रकाश करने वाला, आगे चलने वाला, ले जाने वाला,

बाद को 'आँख' के अर्थ में वह सीमित हो गया। *रदन* का अर्थ फाड़ने वाला था किन्तु बाद को केवल 'दाँत', *सर्प* का रेंगने वाला प्राणी लेकिन बाद को रेंगनेवाला विशेष प्राणी, *वर* का चुना हुआ या माँगा हुआ कोई भी, बाद को दूल्हा और देवता का दान। *घृत* भी अर्थसंकोच का उदाहरण है। अवधी *चटनी* (चाटने के योग्य कोई खट्टी चीज) खड़ी बोली की *चटनी* की अपेक्षा अर्थसंकोच का उदाहरण है। *मिठाई* शब्द अवधी में गुड़ और हलवाई द्वारा बनाई हुई मिठाई दोनों अर्थों में, पर खड़ी बोली में केवल हलवाई की मिठाई के लिए आता है।

अर्थादेश से मतलब अर्थ में इतना अधिक अंतर होने से है कि मौलिक अर्थ ख़त्म ही हो जाय और दूसरा अर्थ उसकी जगह आ जाय। *देव* और *असुर* का उदाहरण दिया जा चुका है। *दुहिता* शब्द का अर्थ 'दुहने वाली' बिल्कुल मिट गया और कन्या हो गया। *गुल्म* शब्द का अर्थ संस्कृत में झाड़ी था किन्तु उसी के हिन्दी रूप *गुलुम* को चोट के गोलाकार निशान को कहते हैं। *मौन* अब चुप्पी साधने को बताता है न कि मुनियों के विशुद्ध आचरण को। *माहुर माधुर* अवधी में विष का अर्थ रखता है, शायद इसलिए कि संखिया आदि विष मिठाई में मिलाकर दिए जाते रहे हैं।

अर्थविकास की ये तीन दिशाएँ विभिन्न रूपों में काम करती हैं। अलंकारों का प्रयोग इस प्रकरण में मुख्य है। *मीठी बात, कड़ुई बात* के प्रयोग में *मीठे* और *कड़ुए* का अर्थ अपने स्वाद का नहीं बल्कि उस स्वाद से उत्पन्न हुई प्रसन्नता अप्रसन्नता का हो सकता है। *टेढ़ा आदमी, सीधा आदमी* में शरीर की गठन का कोई उल्लेख नहीं। *ठोस कार्य* में चिर-स्थायित्व का संकेत है न कि खोखलापन के उलटे ठोसपने का। यदि हम अपने शब्दों को विश्लेषण की दृष्टि से देखें तो हमें मालूम होगा कि भाषा में स्वाभाविक रूप से अलंकार बड़ी मात्रा में मौजूद है।

हम अपने अनुभूत पदार्थों के नाम बहुधा ऐसे पदार्थों को दे देते हैं जिनमें उन पूर्व परिचित पदार्थों का केवल कोई प्रमुख गुण हो। *बिच्छू*

विशेष जन्तु है जो डँस लेता है तो बड़ा दर्द होता है, पर पहाड़ों पर एक पौधा होता है जिसके स्पर्शमात्र से थोड़ी देर के लिए दर्द पैदा हो जाता है, वह उसको भी *बिच्छू* कहते हैं। बच्चे खेलते समय दोनों टाँगों के बीच कोई लकड़ी लेकर घसीटते चलते हैं और उसे *घोड़ा* कहते हैं। दीवाली के दिनों में *साँप* बिकते हैं जो केवल बारूद की छोटी सी बत्तियाँ ही होने पर भी दियासलाई के लगते ही साँप का आकार धारण कर लेते हैं।

तारापुरवाला के मत के अनुसार वेद की प्राचीन ऋचाओं में उष्ट्र का अर्थ 'भैंसा' और बाद वाली ऋचाओं में 'ऊँट' है। हिन्दी में *भाई* और *भय्या* शब्द अब केवल संस्कृत के भ्रातृ शब्द के अर्थ में सीमित नहीं है, बहुत जगह भय्या लड़के को भी कहते हैं और कभी कभी बोलचाल की हिन्दी में पत्नी पति से कह बैठती है, *भाई ज़रा बच्चे को सँभाल लो*। इस प्रकरण में भाई का अर्थ केवल सम्बोधन करना है और वह हे, अरे आदि का समानार्थक है। *चतुर्वेदी, द्विवेदी, अग्निहोत्री, वाजपेयी, श्रीवास्तव, सक्सेना, माथुर, अग्रवाल* आदि नामों की सार्थकता अब केवल इतनी ही है कि नामों से अपने को अलंकृत करने वाले भारतीय उन महानुभावों की संतान हैं जो चतुर्वेदी आदि थे। *महाराज* का अर्थ होस्टलों में केवल रसोइया है, न कि *महाराज*। *सूरदास, रयदास* आदि से केवल शरीर की अंगहीनता या जाति की नीचता को सुन्दर ढंग से जतलाया जाता है। शरीफ़े की आँख, मूँग की नाक, नारियल की जटाएँ और आँखें आदि प्रयोग भी रोचक हैं। सारांश यह कि शब्दों का व्यवहार मनुष्य की विचारधारा के अनुसार विस्तृत, संकुचित या परिवर्तित होता रहता है।

अर्थ-परिवर्तन की तीनों दिशाओं का मूल कारण विचार-विभिन्नता है जो व्यक्ति या समुदाय के संसर्ग की मात्रा से उत्पन्न होती है। इसी कारण अर्थ-परिवर्तन तर्कशास्त्र का विषय न होकर मनोविज्ञान के अन्तर्गत है; और मनोविज्ञान समाज-विज्ञान की एक शाखा है।

हिन्दी में चिट्ठी और किताब के पन्ने को पत्र कहते हैं। इसका कारण शायद यही है कि पूर्वकाल में कागज के अभाव में चिट्ठियाँ और

पुस्तकें *पत्रों* (पत्ते, भूर्ज-पत्र आदि) पर ही लिखी जाती थीं। उस संसर्ग से उन पर लिखी हुई चीज ही पत्र कहलाने लगी यद्यपि अब जिस सामग्री पर वह लिखी जाती है उसका पत्ते से कोई सम्बन्ध नहीं। पालि में *पएणाकार* शब्द उपहार के अर्थ में आता है। कारण शायद यही है कि उपहार हरे हरे पत्तों में ढक कर भेजा जाता होगा जिस प्रकार कभी बड़े दिन पर जीहुजूर, साहब लोगों को इस देश में डाली लगाया करते थे।

अशुभ-सूचक बातें बचा बचा कर गोलमोल शब्दों में प्रकट की जाती हैं। वैधव्य को *चूड़ी फूटना* कहते हैं, मर जाने को *स्वर्गवास होना* या *पंचत्व को प्राप्त होना* कहा जाता है। गमी में जो बाल मुँड़ाने होते हैं उन्हें *बाल बनवाना* कहते हैं और साधारण को *हजामत*। उर्दू बोलने वाले सभ्य समाज में **वह बीमार है** यह न कहकर *उनके दुश्मनों की तबियत नासाज़* है कहा जाता है क्योंकि यह कहा भी नहीं जा सकता कि बीमारी ऐसी अशुभ चीज उनके पास फटकी। *लाश* को *मिट्टी*, दैनिक क्रिया-विशेष को *पाखाना, दिशा, जंगल* अथवा *इंगलैंड* आदि *साँप* को *कीड़ा, रस्सी* इत्यादि उक्तियों में भी अशुभ, लज्जा-जनक या घृणास्पद बातों को गोल-मोल शब्दों द्वारा प्रकट करने की मनोवृत्ति है। इस विषय में भाषा पर स्त्रियों का विशेष प्रभाव पड़ता है, उनके मुँह से अशुभ और असभ्य बात बहुधा नहीं निकलती। लज्जाहीन भारतीय ललना ही नहीं, विदेशी ललना भी अपने पति का नाम नहीं लेती, *लल्ला के लाला, बच्ची के बाबू, पंडित जी* आदि शब्दों से अथवा *यह* आदि सर्वनामों से ही उनका उल्लेख करती हैं। *गर्भिणी* को प्रत्यक्ष ऐसा न कहकर *इसका पाँव भारी* ऐसा कहा जाता है।

शिष्टाचार में भी सीधे शब्द नहीं बोले जाते। अन्धे को अन्धा न कह कर *सूरदास* कहो तभी ठीक होगा और चमार को *रयदास*, तथा दर्जी को *खलीफा*। *मेहतर* शब्द ही शिष्टाचार का है पर *जमादार* कहना ज्यादा ठीक समझा जाता है। मुंसिफ को जब *जज साहब* कहा जाता है तब वह गद्गद् हो जाता है।

बहुधा देखा गया है कि प्राचीन भाषाओं के तत्सम शब्दों में अधिक आदर और गौरव समझा जाता है और अपेक्षा की दृष्टि से तद्भव शब्दों में कम। गर्भिणी (मानुषी) *गाभिन* (गाय आदि), *ब्राह्मण* (शिक्षित) *बाह्मन* (बे पढ़ा-लिखा), *स्तन* (स्त्री के), *थन* (गाय के), *राजा राव, राजपुत्र राउत, कुक्षि कोख* आदि द्वन्द्वों में भेद स्पष्ट है।

रुपये का लेन-देन करने वाले अर्थात् अमीर लोग अच्छे और सज्जन समझे जाते हैं। हिन्दी के *महाजन सेठ* (श्रेष्ठ, श्रेष्ठी), *साह* (साधु) आदि शब्द इसी परिणाम पर पहुचाते हैं।

देशवाचक और कालवाचक शब्द बहुधा समानार्थक होते हैं। संस्कृत का *अध्वन्* शब्द 'समय' और 'फासला' दोनों का बोध कराता है। अरबी का *अरसा* शब्द फासले का द्योतक था पर अब उर्दू में समय के फ़ासले को बताता है, देश के फ़ासले को नहीं। हिन्दी बोलियों के *बार, बेर* (<*वेला*), *दाँई* (<*दामन्*) शब्द भी देश और काल की अभिन्नता बताते हैं।

शक्ति और दूसरों को हैरान परेशान करना इन दोनों बातों का साहचर्य-सा है। *ओजस्वी* और *प्रतापी* शब्द उदाहरण हैं। दूसरी ओर स्वभाव की सिधाई, मूर्खता और कमज़ोरी साथ साथ चलती दिखाई देती हैं। *ऋजुकः अस्याः पतिः* इस वाक्य में उस स्त्री के पति की सिधाई का ही अभिप्राय नहीं है, वह इतना मूर्ख है कि अपनी पत्नी की धूर्तता नहीं समझ पाता, इस बात का भी संकेत है। हिन्दी के *सूधा, सीधा* शब्दों में भी यही संकेत है। अँग्रेजी का *सिम्पल* (simple) शब्द भी इसी प्रकार सिधाई और मूर्खता का द्योतक है। कोमलता और सज्जनता भी साथ-साथ चलती है और स्वभाव की दुष्टता और टेढ़ापन। *बड़ा टेढ़ा आदमी है* और *तिर्यग्योनि* उदाहरण स्पष्ट हैं।

मनुष्य को कभी-कभी सीधी बात कहने से यहाँ तक असंतोष होता है कि वह ठीक उल्टी बात कहकर अपना अभिप्राय प्रकट करता है। *आप बड़े अक्लमन्द हैं, आप बड़े विद्वान् हैं* आदि प्रयोगों में अक्ल और विद्वत्ता के अभाव की ही सूचना मिलती है। बच्चे को प्यार में जब हम

शैतान, बदमाश, दुष्ट आदि शब्दों से संबोधित करते हैं तब उसके नटखटपने से खुश होकर ही। मित्रों में आपस में एक दूसरे को *गदहा, सुअर, बदमाश* आदि शब्दों से संबोधन करने की प्रथा दिखाई पड़ती है जिसके मूल में है स्नेहातिशय न कि गाली-गलौज।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि किसी शब्द का अर्थ पूरी तौर से निश्चित नहीं है, उसका वास्तविक अर्थ प्रकरण से और वक्ता की मुखाकृति आदि के देखने से ही जान पड़ता है। संस्कृत में विषं भुङक्ष्व का उदाहरण बहुधा दिया जाता है। यदि प्रकरण से इसको अलग करें तो अर्थ का अनर्थ हो जाय। यदि कोई शब्द किसी एक ही प्रकरण में सीमित हो जाय तो अर्थसंकोच हो जाता है। *सर्प, रदन* आदि शब्दों का इसी प्रकार अर्थसंकोच हुआ होगा। फ़ारसी का *बू* शब्द और संस्कृत का *गन्ध* दोनों अब दुर्गन्ध के अर्थ में आते हैं यद्यपि इनका वास्तविक अर्थ गंध-मात्र था और उन भाषाओं में समान रूप से दुर्गन्ध और सुगंध के लिए आता है। इसी प्रकार यदि एक ही शब्द किसी एक प्रकरण में सीमित न रहकर अन्य प्रकरणों में आने लगा तो अर्थविस्तार हो जाता है। गंगा शब्द का व्यवहार केवल भागीरथी के लिए न करके अन्य नदियों के लिए करने से ही उसका अर्थ विस्तृत हुआ है। *देवदत्त बड़ा रुपये वाला है* इस वाक्य में *रुपये* का अर्थ केवल चाँदी के टुकड़ों का नहीं बल्कि कागज के नोटों, घर, जायदाद, गल्ला, पशु आदि का भी है। इसी तरह यदि कोई शब्द एक प्रकरण में बिल्कुल खत्म होकर दूसरे प्रकरण में आने लगे तो अर्थादेश होता है। अवधी का डांड़ दंड शब्द जुर्माना, सजा, हर्जाना आदि के अर्थ में आता है, डंडे के अर्थ में नहीं, यद्यपि है वह डंडे का ही रूपान्तर। सारांश यह है कि अर्थ-संकोच, अर्थ-विस्तार और अर्थादेश की दिशाओं में ही चलकर अर्थ का विकास होता है। दो शब्दों में से एक का एक अर्थ में और दूसरे का दूसरे अर्थ में [*डाँड़ डंडा-डाँडा, कर्म* श्रौत स्मार्त्त आदि और *कार्य* साधारण *पन्ना* और *पान* (सं० *पर्ण*), *पत्ती पाती* (सं० *पत्री-*), *पत्ता* (*पत्र*)] लेना,

अथवा किसी शब्द के अर्थ का अनर्थ हो जाना आदि इन्हीं दिशाओं में से एक न एक के उदाहरण हैं।

ऊपर कह चुके हैं कि शब्द का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही होता है, यदि उसके और कोई अर्थ होते हैं तो वे उस समय गायब रहते हैं, अन्यथा मनुष्य का दिमाग शब्दों का व्यवहार कर ही न सके। तब भी संबंध-तत्वों की भाँति अर्थ भी अपने संबंधियों के साथ मनुष्य के अन्तःकरण में जुड़ा रहता है (जैसे *दान*, *दाता*, *देय*, *दाय*, *देना* आदि) और जब किसी शब्द का भिन्न अर्थ होने लगता है तब उसके संबंधी बाधा पहुँचाते हैं पर यदि परिवर्तन होने की मात्रा उत्कट हुई तो अर्थ बदल ही जाता है और यदि वह शब्द अपने वर्ग का प्रबल सदस्य हुआ तो वह अपने संबंधियों को भी साथ घसीट ले जाता है अन्यथा अकेला ही चला जाता है। *असुर* शब्द के अर्थ के साथ *आसुरी*, *आसुर* आदि शब्दों का भी अर्थ बदला। *नमक* के साथ *नमकीन* का भी अर्थ विस्तृत हुआ। सर्प के साथ *सर्पिणी* का भी अर्थ संकुचित हुआ तथा *दूल्हा* (<*दुर्लभ*) के साथ दुलहिन का भी। दशा ठीक वैसी ही है जैसी धर्म बदलते समय होती है। यदि किसी पौराणिक परिवार का प्रमुख व्यक्ति आर्यसमाजी होता है तो सारा परिवार आर्यसमाजी या ब्रह्मसमाजी हो जाता है, और यदि ज़न, ज़मीन, ज़र के लालच से कोई उच्छृंखल नवयुवक ईसाई होता है तो अकेला।

अर्थविकास के अध्ययन से कभी कभी समाज की दशाओं के इतिहास का भी ज्ञान आसानी से मिल जाता है। देव, *असुर* आदि शब्दों के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। अँगरेज़ी का *पिक्यूनियरी* (Pecuniary) शब्द जिसका संबंध *पशु* शब्द से स्पष्ट है, इस बात का द्योतक है कि जब सिक्कों का चलन नहीं हुआ था तब *पशु* सिक्कों की तरह बदले जाते थे। जर्मन शब्द फ़ेडर (feder) और फ्रेंच का *प्लुम* (Plume) इस बात के सूचक हैं कि पहले लेखनी चिड़ियों के परों की बनाई जाती थी। हिन्दी का *गिलास* शब्द इस बात की सूचना देता है कि इस प्रकार के *पात्र* पहले शीशे के बने हुए इस देश में आए। जहाँ

इतिहास जानने के अन्य साधन (ग्रंथ, सिक्के, शिलालेख आदि) न मिलते हों वहाँ अर्थ के तुलनात्मक अध्ययन से खोज में बड़ी सहायता मिलती है। वैदिक-पूर्व आर्यों के रहन-सहन के बारे में हमें विशेष ज्ञान भाषाविज्ञान की इसी शाखा से प्राप्त होता है।

शब्दकोश

अर्थ की दृष्टि से किसी भाषा के सब शब्दों को एकत्र कर उन्हें शब्द-समूह कहते हैं। भाषा के शब्द-समूह के प्रत्येक शब्द को लेकर उनकी परीक्षा करना, उनको प्रकृति-प्रत्यय के हिसाब से वर्गों में बिठाना, वे कहाँ से आए, कब बने और अर्थ की दृष्टि से उनमें कब क्या क्या परिवर्तन हुए इसकी विवेचना करना, यह सब काम निरुक्ति का है। वह शब्दों का इतिहास बताती है। आधुनिक भाषाविज्ञान में इस प्रकार का अध्ययन व्युत्पत्तिविज्ञान के अंतर्गत आता है। निरुक्ति द्वारा प्रतिपादित अर्थ कभी कभी वर्तमान अर्थ से भिन्न होता है। प्रकृति प्रत्यय से बनाए हुए *हिमालय* का अर्थ बर्फ़िस्तान है पर साधारण व्यवहार में उस पहाड़ के अंतर्गत नीचे के ऐसे भाग भी हैं जहाँ बर्फ कभी नहीं गिरती। *रत्नाकर* के सभी भागों से सर्वदा रत्न नहीं निकला करते। इसलिए सदा नैरुक्तिक अर्थ पर ही ध्यान रखकर प्रयोग करने से भाषा के व्यवहार में कठिनाई पड़ सकती है। टकसाली साहित्यिक हमेशा इस बात की कोशिश किया करते हैं कि वे शब्दों का वर्तमान सर्व-साधारण अर्थ में प्रयोग करें। लोक-गीत और लोक-कथाओं में बहुधा तत्कालीन वर्तमान अर्थ मिलता है, साहित्य के अन्य भागों में शब्दों के प्रयोग में नैरुक्तिक अर्थ का काफ़ी प्रभाव रहता है।

किसी भी भाषा के शब्दसमूह में स्वतः उसके, उसकी प्राचीन भाषाओं के तथा उसके संपर्क में आई हुई अन्य भाषाओं के संबंध से पाँच भाग होते हैं——तत्सम, तद्भव, देशी, विदेशी तथा देशज। संस्कृत के संबंध से हिन्दी में कुछ तत्सम (ठीक संस्कृत रूप में जैसे, *देव*, *स्वर्ग*, *पाताल*, *नाग*, *मनुष्य*, *बालक* आदि) कुछ तद्भव (संस्कृत शब्दों के

विकसित रूप जैसे *गाय*, *गोरू*, *राजपूत*, *मक्खी*, *पानी*, आदि), कुछ देशी (देश की अन्य भाषाओं से लिए हुए जैसे *टिकाऊ*, *चाल*, *गल्प*, *छैला*, *पिल्ला*, *गंडा*, आदि) तथा कुछ विदेशी (जैसे फारसी-अरबी, तुर्की, अँगरेजी आदि से *कुरता*, *तबीज*, *सवाल*, *जवाब*, *शाम*, *औरत*, *किताब*, *नक़शा*, *रेल*, *टिकट*, *ट्रेन*, *मास्टर*, *नोट* आदि) हैं। इनके अतिरिक्त उन शब्दों को हम देशज कहते हैं जो आधुनिक समय की बोलचाल में स्वतः विकसित हुए हैं। जैसे *पेड़*, *गड़बड़*, *ठंडाई* आदि।

प्राचीन आर्यभाषाओं में विदेशी शब्दों की संख्या बहुत कम है और देशी आर्य भाषाओं के शब्दों की उनसे कुछ ज्यादा पर तब भी कम। और इन दोनों भागों के शब्द भी इस प्रकार ढाल लिए गये हैं कि आर्यभाषा के व्याकरण और ध्वनियों से उनका सामंजस्य बैठ गया। उनका प्रधान शब्द-समूह तत्सम, तद्भव और देशज शब्दों का है। आधुनिक काल में भारतीय आर्य भाषाओं में अधिकतर यही स्थिति है। पर उर्दू, पंजाबी, लहँदी और सिन्धी की दशा भिन्न है। इनमें अरबी, फ़ारसी आदि पश्चिमी भाषाओं के शब्दों का बाहुल्य है। उर्दू ने तो यहाँ तक अत्याचार किया है कि विदेशी शब्दों की ध्वनियों को तथा व्याकरण के दो एक नियमों को भी ज्यों का त्यों कायम रखने का उद्योग किया है। इसी कारण वह भारतीय होती हुई भी अभारतीय सी दीखती है।

आधुनिक फ़ारसी में एक तिहाई के क़रीब शब्द अरबी के हैं, द्राविड़ भाषा तेलुगु में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों की संख्या आधी से अधिक है। रोमानी जिप्सी (हबूड़ी) भाषा भारतीय आर्य भाषा है पर सदियों तक विदेश में रहने के कारण उसमें अधिकांश शब्द विदेशी हैं।

किसी ग्रंथकार या ग्रंथ के शब्दों की गणना करके इस बात का पता लगाया जा सकता है कि अमुक ग्रंथकार ने कितने शब्दों का प्रयोग किया है या अमुक ग्रंथ में कितने शब्द आए हैं। ऐसी गिनती करते समय यदि एक ही शब्द बार-बार आया हो तो उसे एक ही बार गिना

जाता है। इसी तरह व्यक्तियों के शब्दों की गणना करते समय यदि कोई व्यक्ति बहुभाषाविद् हो तो एक ही विचार को जतलाने वाले कई शब्दों (*बुक, पुस्तक, किताब*) में से एक ही गिनना चाहिए, बाकी को छोड़ देना चाहिए। हाँ, यदि कोई विदेशी शब्द कुछ नया विचार उपस्थित करता हो तो दूसरी बात है।

विलायत का बेपढ़ा लिखा आदमी केवल ३०० शब्दों का प्रयोग करता है, यही उसकी सारी पूँजी है। शेक्सपियर के सभी ग्रंथों में कुल १५००० शब्द हैं, मिल्टन के सात आठ हजार, होमर के काव्यों में करीब ९,०००, इंजील के पुराने भाग (टेस्टामेंट) में ५६४२ और नए में ४८००।

इसी प्रकार हिन्दी या संस्कृत के ग्रंथों और ग्रंथकारों की यदि ठीक ठीक शब्द सूची तैयार की जा सके तो कौतूहल की शांति के साथ साथ हमें आगे के लिए पथप्रदर्शन मिलेगा। कालिदास ने कितने शब्दों का प्रयोग करके अपनी अमर रचनाएं उपस्थित कीं। माघ पंडित को शब्दों के खजाने का अधिष्ठाता कहा जाता है और कहते हैं कि शिशुपालवध के नव सर्ग पढ़ लेने पर फिर कोई नया शब्द नहीं रहता (नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते)। बाणभट्ट का शब्दसमूह अथाह बतलाया जाता है और कहते हैं कि संस्कृत साहित्य में सब कुछ बाण का जुठारा हुआ है (बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्)। तुलसी, सूर, कबीर, मीरा, जायसी ने कितने शब्दों का प्रयोग किया इसका अनुसंधान करना रोचक होगा। और जड़िया नंददास ने जड़ाव करते हुए कितने शब्दों को निखार कर आभूषण तय्यार किए यह जानकारी भी मजे की होगी।

कुशल ग्रंथकार अपनी इच्छा के अनुसार अपने शब्दों की संख्या को सीमित या विस्तृत कर सकते हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय संस्कृत-बहुल 'प्रियप्रवास' लिखकर उसी सफलता से 'ठेठ हिन्दी का ठाट' भी और 'चोखे चौपदे' भी लिख गए हैं। इंशाअल्ला खाँ ने फारसी के विद्वान् होते हुए भी 'रानी केतकी की कहानी' लिख दी जिसमें सारा

पुट हिन्दुई का ही है। टकसाली कलाकार शब्दों का धनी होते हुए भी सरल, सीधे-सादे शब्दों का प्रयोग करता है। वह उस उदारचित्त राजा के समान है जो अतुल संपत्ति का स्वामी होते हुए भी सादी रहन-सहन पसंद करता है जिससे उसकी प्रजा उसके साथ निजत्व का अनुभव करती है। दूसरी ओर दुरूह वागाडंबर में पड़ने वाला साहित्यिक अपनी शब्दसंपत्ति का प्रदर्शन कर अपने ओछेपन का परिचय देता है।

हमारे शब्द समूह में कुछ चिड़ियों और जानवरों के ऐसे नाम होते हैं, जिनका, केवल नाम को छोड़कर, हमें कोई परिचय नहीं। ऐसे शब्द व्यक्तिवाचक शब्दों से भिन्न नहीं। किसी के शब्दों की गणना करते समय इनको छोड़ ही देना ठीक होगा।

जनसमुदाय अन्य जनसमुदायों के संपर्क में आने पर विचारों का आदान-प्रदान करता है और इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि (विशेष रूप से नए विचारों का बोध कराने वाले) एक के शब्द दूसरे जन-समुदाय के व्यवहार में आ जायँ। जीवित जनसमुदाय इन्हें लेकर अपनी निजी ध्वनि और व्याकरण के साँचे में ढाल लेता है। *काग़ज, ग़रीब, ख़्वाब, ख़बर, मज़दूर, ज़िद, ज़ुल्म, फ़िक्र, क़वायद* का आधुनिक हिन्दी में कागद, गरीब, ख्वाब, खबरि, मजूर, जिद्दी, जुलुम, *फिकिर, कवायद* होकर इस्तेमाल में आना स्वाभाविक है। अथवा अँगरेजी के *ग्लास, सिगनल, स्टेब्ल, बाटूल का गिलास, सिंगल, अस्तबल, बोतल* हो जाना ठीक है। पर उन शब्दों को ज्यों का त्यों हिन्दी में बोलने की कोशिश करना अपनी दासता का परिचय देना है। जीवित भाषा दूसरी भाषाओं से यथेष्ट शब्द लेती है, न उसकी ध्वनियाँ लेती है और न उनका व्याकरण। *किताब* का बहुवचन भारतीय भाषाओं में *किताबें* (न कि *कुतुब*) अथवा *इस्टेशन* का *इस्टेशनें* (न कि *इस्टेशनस्*) होगा। इसी में स्वाभाविकता है।

शब्द-समूह पर विचार करते समय भाषा की शुद्धि-अशुद्धि पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। जब से मनुष्य ने भाषा के

विषय में मनन और चिन्तन आरम्भ किया तभी से इस दिशा में विचार होता आया है। पाणिनि ने व्याकरण की रचना इसीलिए की कि भाषा का शुद्ध रूप स्थिर रह सके। पतंजलि ने भी म्लेच्छ उच्चारण का उल्लेख किया है। शुद्धता के भी तीन अंग हैं, उच्चारण, पदरचना और शब्दसमूह। सम्प्रति हमें अंतिम अंग पर विचार करना है। शब्द-समूह में बहुत से शब्द भाषा के अपने रहते हैं जो उसमें पूर्ववर्ती भाषा के क्रम से आते हैं। यह भाषा की निजी अपनी सम्पत्ति कहलाती है। हिन्दी में इस श्रेणी के शब्द संस्कृत से प्राकृत में और प्राकृत से अपभ्रंश में होते हुए आए हैं।

इसके अलावा प्रत्येक भाषा अपनी समकालीन देशी-विदेशी भाषाओं से शब्द लेती है। हिन्दी ने बंगाली से *उपन्यास*, *गल्प* आदि और मराठी से *चलतू*, *टिकाऊ*, *बाजारू* आदि शब्द लिये हैं। पर किसी भी सम्पन्न भाषा में इनके अतिरिक्त भी शब्द रहते हैं, जो तत्सम्बन्धी प्राचीन भाषाओं से लिये जाते हैं। अँगरेजी, जर्मन आदि भाषाएँ इस प्रकार ग्रीक, लैटिन से शब्द लेती आई हैं और बंगाली, गुजराती, मराठी, हिन्दी आदि संस्कृत से। इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं। यथा-संभव, जीवित भाषा प्राचीन भाषाओं से शब्द लेकर उन्हें अपने ध्वनि-नियमों के साँचे में ढाल लेती है। विदेशी शब्दों को भी इसी साँचे में ढालकर अपना लेने में भाषा की प्राणशक्ति का प्रमाण है। कम जीवट वाली भाषाएँ ही विदेशी शब्दों को ज्यों का त्यों ग्रहण करती हैं।

विदेशियों के संपर्क से जब हम कोई नई विद्या, कला, खेल, फ़ैशन आदि सीखते हैं तब उस सम्बन्ध के विदेशी शब्द अनायास हमारी भाषा में आ जाते हैं। बहुधा इनके लिए हम अपने शब्द नहीं गढ़ते (लालटेन, स्टेशन, हाकी), पर कभी-कभी गढ़ भी लेते हैं (माचिस के लिए दियासलाई)। ऐसे शब्दों को अपनाने के समय केवल इतना ध्यान रखना चाहिए कि हम अपनी भाषा में अनावश्यक भरमार तो नहीं कर रहे हैं। यदि हमारे पास उन चीज़ों और भावों के लिए पहले से शब्द मौजूद हैं और वे अच्छे और सुगम तथा स्पष्ट हैं तो हमें

सावधान रहना चाहिए। यह विषय केवल भाषा की शुद्धि-अशुद्धि का नहीं, उस भाषा के स्वामी, राष्ट्र के गौरव का भी है। जिस भाषा का जितना ही उज्ज्वल भूतकाल और तत्सम्बन्धी साहित्यिक युग रहा है, उतना ही उस भाषा के निर्माताओं का कर्तव्य अधिक हो जाता है कि अपनी भाषा का गौरव और मान बनाए रक्खें।

पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण की समस्या का हल करते समय हमें इसी सिद्धान्त का ध्यान रखना चाहिए। ऊपर देखा जा चुका है कि कोई भाषा विदेशी ध्वनियाँ नहीं उधार लेती। विदेशी ध्वनियों की अपेक्षा अपनी प्राचीन भाषाओं की ध्वनियों का उच्चारण सुगम पड़ता है और अपने गौरव के अनुकूल। इसी से भारतीय भाषा-विज्ञानी प्रायः सर्व-सम्मत हैं कि भारतीय भाषाओं की पारिभाषिक शब्दावली संस्कृत, पालि, प्राकृत को उपादान मानकर बनानी चाहिए।

चौबीसवाँ अध्याय

भाषा की गठन

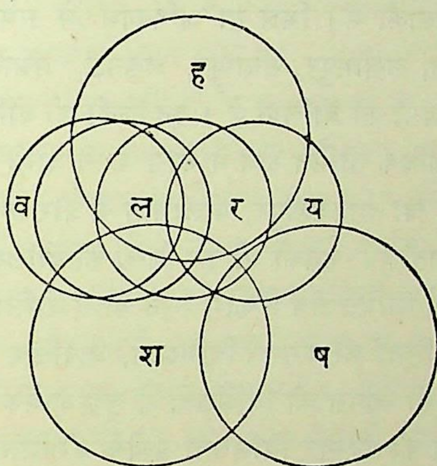
भाषा के लक्षण से हम जान चुके हैं कि यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो प्रति मनुष्य की बोली दूसरे मनुष्य की बोली से भिन्न है क्योंकि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह ध्वनियों का उच्चारण ठीक-ठीक उसी स्थान और प्रयत्न से करता है जिससे दूसरा, और उसके दिमाग़ में शब्दार्थ बिल्कुल वही है जो दूसरे के। दूसरी ओर संसार की सभी भाषाएँ एक ही प्रयोजन सिद्ध करती हैं--मनुष्य के मनोभावों और विचारों को व्यक्त करना। उस दृष्टि से सभी एक हैं। इस वैज्ञानिक एकत्व और अनेकत्व के बीच, व्यवहार की दृष्टि से, संसार की सभी भाषाओं की सत्ता है। संसार के निवास-योग्य सभी स्थानों, मैदानों, वनों, पर्वतों में मनुष्य बसते हैं। यदि हम एक स्थान से दूर तक बराबर चले जायँ तो हमें धीरे-धीरे उच्चारण, पदरचना और शब्दसमूह की भिन्नता झलकती जायगी और जब एक स्थान की वाणी की दूसरी, दूर की जगह की बोली से तुलना करेंगे तो काफी अन्तर दिखाई पड़ेगा। जनसमुदाय जितना ही संगठित होगा उसकी भाषा भी उतनी ही गठी हुई सुश्लिष्ट होगी, और समाज की जंज़ीर जितनी ही ढीली होगी, भाषा के अंगों में उतनी ही विभिन्नता होगी। तुलनात्मक दृष्टि से, एक परिवार की बोली दूसरे परिवार की बोली से कुछ न कुछ अंशों में भिन्न होगी ही, यद्यपि वह भिन्नता हमें प्रत्यक्ष न दिखाई दे। कई परिवारों द्वारा बने हुए गाँव की बोली, आपेक्षिक दृष्टि से, दूसरे गाँव की बोली से, कुछ बातों में जुदा होगी। पर एक ही गाँव में भिन्न-भिन्न परिवारों की बोलियों में भिन्नता के कण मौजूद हैं। पुरोहित जी शीघ्रबोध, सत्यनारायण की कथा, विष्णु-

सहस्रनाम आदि से परिचित हैं तो कुछ न कुछ देवपूजा करते ही होंगे और कुछ न कुछ संस्कृत के वायुमंडल से शब्दों को उद्धृत कर अपने घर में बोलते ही होंगे। पटवारी साहब उर्दू कागज़ात रखते-रखते कुछ उर्दू फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग करते ही होंगे और यदि "सभ्य" समाज में बैठने का अभ्यास होगा तो उनका शीन क़ाफ़ भी दुरुस्त होगा। यदि पास-पड़ोस के शहर से मुल्ला जी गाँव में कभी-कभी आते होंगे तो वहाँ के मुसलमान निवासी दीन और अल्लाह का थोड़ा बहुत ज्ञान रखते ही होंगे। गाँव का एकाध नौजवान यदि शहर में चपरासी आदि के पद को सुशोभित करता होगा तो वह भी निश्चय ही अपने दफ्तर से दस-पाँच अँगरेज़ी शब्द लाकर गाँव वालों पर रोब गाँठेगा। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न संपर्कों से विभिन्न शब्दों और उच्चारणों के आने की संभावना बनी रहती है। इस सबके होते हुए भी हम कह सकते हैं कि गाँव की बोली एक है। पर इस एकत्व के पीछे भिन्नत्व के बीज अगोचर रूप से उपस्थित हैं।

निकटस्थ ग्राम-समुदाय की वाणी को बोली का नाम दिया जाता है; उसके भीतर के सूक्ष्म भेदों की अवहेलना करने पर ही यह नाम देना संभव है। पड़ोस के दूसरे ग्राम-समुदाय की बोली कुछ इससे भिन्न होगी, उसके बाद वाले की कुछ और भिन्न। यदि इन तीन ग्राम-समुदायों के नाम क, ख और ग हों और क की विशेषताएँ *य र ल व श* हों तो ख की विशेषताएँ इससे कुछ भिन्न होकर शायद *र ल व श ष* होंगी और ग की *य ल व श ह*। बहुधा ऐसा होता है कि एक बोली की कुछ विशेषता दूसरी या तीसरी निकटस्थ बोली में न मिल कर चौथी या पाँचवीं में मिल जाती है। इन विशेषताओं के चक्र ऐसे हैं जिनकी परिधियाँ एक दूसरे को काटती रहती हैं।

अवधी की बोलियों में मध्यपुरुष एकवचन सर्वनाम लखीमपुरी में *तुइ* है और सीतापुरी में भी *तुइ* है पर इसी का संबंधसूचक विशेषण लखीमपुरी में *तोर* है तो सीतापुरी में कुछ अंशों में *त्वार* है। उन्नाव की बोली में भी *त्वार* है। साथ ही अनिश्चय-वाचक सर्वनाम, लखीम-

पुरी और सीतापुरी दोनों में *कोई* है पर उन्नाव की बोली में *कोऊ*। अशोक के शिलालेखों में से *पितु*, का रूप शहबाजगढ़ी, मनसेहरा में *पितु*, *पिति* मिलता है, यही कालसी, धौली और जौगढ़ में; पर *भ्रातृ* का श० म० में *भ्रतु*, *भत* और का० धौ० जौ० में *भाति* मिलता है। पर *वृद्ध* का श० में *वुढ*, म० में *वुध्र*, *वध्र* कालसी में *वुध* और धौं० जौ० में *वुढ़*।



शब्दों की विभिन्नता रहते हुए भी जब तक पदरचना की और उच्चारण की विभिन्नता न आवे तब तक यही समझना चाहिए कि बोली एक है। किसी गाँव में दूर के गाँव से आई हुई बहू, संभव है, कुछ दिन अपने मायके के दो-चार विशेष प्रयोग करे, *निकरब*, की जगह *निकसब*, *अलग* की जगह *बइबइ* अथवा पदरचना में *जाइ* की जगह *जान*, *गवा* की जगह *गआ* आदि प्रयोग भी लावे, पर जब तक इस तरह के भिन्न प्रयोग कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित रहेंगे और बाक़ी गाँव के लोग एक तरह के प्रयोग करेंगे तब तक गाँव की बोली एक ही समझी जायगी। किंतु यदि यही विभिन्नता कुछ परिवारों में

सिक्का जमा लेती और गाँव का एक भाग इस प्रकार बोलता और दूसरा दूसरी तरह, तो हम कह सकते कि दोनों भागों की बोलियों में विभिन्नता है। किसी प्रदेश की वाणी को बोलियों में बाँटने का सिद्धान्त यही है कि जहाँ बहुतेरी विशेषताएँ एक साथ मिलती हैं वह एक बोली, और भिन्नता के अनुपात से विभिन्न बोलियाँ।

बहुधा बोलियाँ किसी भाषा के अंतर्गत होती हैं। भाषा उनमें से कोई प्रमुख बोली ही होती है जो अपनी अंतर्गत बोलियों से कुछ अंशों में (विशेषताओं में) भिन्न या अधिकांश में समान होती हैं। अवधी के अंतर्गत, लखीमपुर, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली आदि बहुत से जिलों की बोलियाँ हैं। इन जिलों की बोलियों के अंतर्गत स्वयं और अधिक सीमित क्षेत्र में काम करने वाली बोलियाँ हैं। पड़ोस में ब्रज है जो शाहजहाँपुर, पीलीभीत में और हरदोई के कुछ भाग में बोली जाती है। उसकी भी इन ज़िलों की बोलियों के अंतर्गत, आपेक्षिक दृष्टि से सीमित क्षेत्र में काम करने वाली बोलियाँ हैं। अवधी के ज़िलों की बोलियों की परस्पर विभिन्नता, आपेक्षिक दृष्टि से, एक ज़िले के भीतर की आपस की विभिन्नता से कुछ अधिक होगी। और अवधी और ब्रज की परस्पर विभिन्नता प्रत्येक की ज़िलों की बोलियों की विभिन्नता से और अधिक होगी। इन दोनों की हिन्दुस्तानी से भी विभिन्नता है। उसका वही स्थान है जो ब्रज या अवधी का। और ये तीनों ही हिन्दी के अंतर्गत हैं। हिन्दी को हम भाषा कहते हैं और हिन्दुस्तानी, ब्रज और अवधी को उसकी बोलियाँ। और हिन्दी सचमुच वास्तविक निजी रूप में है क्या? केवल हिन्दुस्तानी बोली-समूह की एक बोली जो किन्हीं कारणों से प्रमुख हो गई है और जिसकी प्रमुखता ब्रज और अवधी ने स्वीकार कर रक्खी है।

किसी बोली की प्रमुखता के विभिन्न कारण होते हैं जिनमें राजनीतिक प्रमुखता विशेष है। जिस विशेष प्रदेश का राजा होगा और जो बोली वह बोलता होगा, वही बोली प्रधान समझी जायगी। हर आदमी यही कोशिश करेगा कि राजा और उसके कर्मचारियों से वही

बोली बोले। हिन्दी खड़ी बोली के फैलने का यही मुख्य कारण हुआ। कई सदियों तक दिल्ली के आसपास राज्यशासन रहा। वहाँ की बोली को जो पृष्ठपोषण मिला, वह ब्रज और अवधी को नहीं मिल सका। आखिर में इन दोनों को खड़ी बोली की प्रधानता स्वीकार करनी पड़ी।

राजनीतिक प्रभुता के अलावा साहित्यिक श्रेष्ठता भी किसी बोली को प्रधान बनाने में सहायक होती है। जिस समय ऋग्वेद की ऋचाएँ बनीं, उस समय आर्य लोगों के जत्थे परस्पर कुछ न कुछ विभिन्न बोलियाँ बोलते रहे होंगे। उस समय सामाजिक संगठन इतना सुश्लिष्ट होना, जितना आज है, संभव नहीं था; आर्य टोलियों में बँटे थे। ऐसी परिस्थिति में जिन ऋषियों ने इन ऋचाओं का निर्माण किया वे तत्कालीन समाज में प्रमुख समझे जाने लगे और उनकी बोली प्रधान मानी जाने लगी। वैष्णव मत के कृष्ण सम्प्रदाय के केंद्र मथुरा वृन्दावन बने और वहाँ पराजित हिन्दू जनता को कुछ शांति मिली। वहाँ की धार्मिक प्रधानता से ब्रजभाषा को प्रोत्साहन मिला और वह साहित्यिक माध्यम होकर कई सदियों तक उत्तर भारत में ही नहीं, महाराष्ट्र और बंगाल में भी अपना प्रभाव जमा सकी। जायसी और तुलसीदास ने अवधी को प्राधान्य दिया। लंदन की अँगरेज़ी बोली ही इंगलैंड में माननीय समझी जाती है।

साहित्य के अलावा, किसी जनगण का प्रभाव भी भाषा को प्रधान बना सकता है। कहीं पर के मारवाड़ी यदि प्रभुत्व प्राप्त कर लें और उनके कहने-सुनने पर जनता चलने लगे तो उनकी भाषा का विशेष प्रभाव जनता पर पड़ेगा। अथवा पुरोहित-वर्ग भी विशेष प्रभाव डाल सकता है। सारांश यह कि भाषा की प्रधानता सभ्यता की शक्ति पर होती है, वह सभ्यता या संस्कृति चाहे जिस रूप की हो।

भाषा और बोली में क्या अंतर है ? दोनों शब्द वाणी के ही द्योतक हैं, आपेक्षिक दृष्टि से एक का क्षेत्र सीमित है, दूसरी का विस्तृत। बोली भाषा के अंतर्गत है, भाषा बोली के अंतर्गत नहीं। ध्वनिग्राम

और ध्वनियों में जो अन्तर है, वही अन्तर भाषा और बोली में है। एक ही भाषा की दो बोलियों को बोलनेवालों को परस्पर समझने में अपेक्षाकृत कम कठिनाई होती है, दो भाषाओं को समझने में ज्यादा। जब दो बोलियों में परस्पर अन्तर की विशेषताएँ इतनी अधिक हों कि एक के बोलनेवाले दूसरी का न तो ठीक उच्चारण कर सकें और न ठीक-ठीक उसके शब्द और अर्थ समझ सकें तो उन दो बोलियों को दो भिन्न भाषाओं के अंतर्गत समझना चाहिए।

राजनीतिक, साहित्यिक आदि कारणों से जो बोली एक समय प्रमुख होकर भाषा का रूप धारण कर लेती है वही कालांतर में दूसरी बोली की बोली बन सकती है। अवधी और ब्रज अब केवल बोली-रूप में हैं, पर पिछली कई सदियों तक वे स्वतंत्र भाषा का रूप रक्खे रहीं। महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी आदि प्राकृत साहित्यिक भाषाएँ जिन विशिष्ट प्रदेशों की वाणियाँ होकर भाषाएँ दिखलाई पड़ीं, खास उन्हीं प्रदेशों के अपभ्रंश भी बाद को साहित्यिक महत्त्व प्राप्त कर सके हों, ऐसी बात नहीं है।

जैसे व्यक्तियों के आपस के व्यवहार के कारण, व्यक्तिगत विशेषताओं की अवहेलना कर बोली अपना रूप धारण करती है उसी तरह विभिन्न बोली बोलनेवालों के आपस में व्यवहार के कारण ही भाषा बनती है। बोली वाणी-संबंधी नियमों के अनुकूल स्वभाव से ही बनती और विकसित होती रहती है। उसके बनने-बिगड़ने पर किसी विशेष व्यक्ति का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। पर राजनीतिक, साहित्यिक आदि कारणों से बनी हुई भाषा पर व्यक्तियों का विशेष असर होता है। साहित्यिक भाषा पर यह बात विशेष रूप से लागू होती है। एक सफल साहित्यिक अपनी रचनाओं के द्वारा अलक्षित संख्या वाले लोगों की भाषा पर प्रभाव डाल देता है। एक लब्धप्रतिष्ठ आचार्य भाषा गढ़ देता है। स्वाभाविक रीति से बोलियों का विकास मूलरूप से सामाजिक संगठन पर निर्भर है, और उसी संगठन की मात्रा उन बोलियों की सीमाएँ निर्धारित करती है। पर राजनीतिक आदि

कारणों से व्यवहार में आई हुई भाषाओं की सीमा राज्य-विभागों आदि के अनुकूल पड़ती है। महाभारत काल से जो जनपद उत्तर भारत में स्थापित थे, बहुत समय तक उन्हीं के अनुकूल बोलियों की स्थिति रही। इधर अँगरेज़ी राज्य द्वारा स्थापित सूबों के कारण इनकी सीमाओं में अन्तर पड़ गया है। मुग़ल आदि राज्यों के समय किन्हीं सूबा-सरकारों की सीमाएँ सौ-सवा सौ साल भी निश्चित नहीं रहीं इसलिए उन सीमाओं का महत्त्व नहीं सा दिखाई पड़ता है।

कोई बोली इस तरह भाषा बनकर जब छिन्न-भिन्न होती है तो उसका कारण यही होता है कि जिस सामाजिक संगठन ने एक सूत्र में बाँध रक्खा था वही बिखर गया। शौरसेनी प्राकृत के प्रधान बनने का कारण उस प्रदेश की प्रधानता रही होगी, राजनीतिक अथवा साहित्यिक, और शौरसेनी अपभ्रंश तथा ब्रजभाषा द्वारा वह प्रधानता क़ायम रही। पर इधर, विशेषकर राजनीतिक कारणों से, खड़ी बोली ने प्रभुता क़ायम कर ली और ब्रज की प्रधानता ख़त्म हो गई। वर्तमान बँगला साधुभाषा के रूप के बनने में कलकत्ता केन्द्र का विशेष प्रभाव रहा है। मराठी पर पूना केन्द्र की काफ़ी गहरी छाप है। आजकल की साहित्यिक गुजराती पर महात्मा गांधी और उनके अनुयायियों का काफ़ी असर है। इस तरह हर भाषा के बनने-बिगड़ने में विशेष परिस्थितियाँ रहती हैं, और वह राजनीतिक केन्द्र से, साहित्यिक केन्द्र से अथवा किसी और प्रकार के केन्द्र से अथवा महापुरुष से फैलना आरंभ करती है।

जब किसी प्रदेश की बोली स्टैंडर्ड होकर भाषा का रूप धारण कर लेती है तब आसपास की बोलियाँ अपनी छोटी-छोटी विशेषताएँ खो बैठती हैं और उसी में शामिल हो जाती हैं। ऐसा भी होता है कि स्टैंडर्ड बोली भी अपनी छोटी-छोटी विशेषताएँ छोड़ देती है। इटली में रोम की लैटिन भाषा जब स्टैंडर्ड हुई तो रोम के आसपास की बोलियों को हज़म कर गई। कलकत्ता की साधुभाषा ने आसपास की बँगला बोलियों में विशेष 'साधुता' का पुट भर दिया है। केन्द्र की बोली से

दूर की बोलियाँ जो उसके अंतर्गत होती हैं उनकी एक आध विशेषताएँ केन्द्र की उस स्टैंडर्ड बोली में आना चाहती हैं। खड़ी बोली को पंजाबी के मुख से जब सुनते हैं तब *हमने करना है* आदि प्रयोग कानों में आते हैं और जब भोजपुरी के मुख से तब *हम आम खाए* आदि। जब तक खड़ी बोली सतर्क रहेगी तब तक ये प्रयोग भाषा में शामिल न हो सकेंगे पर यदि उच्चकोटि के लेखकों के मान्य ग्रन्थों में ऐसे प्रयोग आ गए तो 'पंजाबीपन', 'पुरबियापन' आदि कहकर उनकी उपेक्षा की जायगी। बोलियाँ स्वाभाविक रीति से विकसित होती रहती हैं पर स्टैंडर्ड भाषा, बोलचाल से दूर रहने के कारण, प्राचीन रूप धारण किए रहती है और जितना ही उसका क्षेत्र बड़ा होता है उतनी ही प्राचीनता के अंश के अधिक होने की संभावना होती है। साथ ही जितना विस्तृत क्षेत्र होता है उतनी ही छिन्न-भिन्न होने की संभावना रहती है। खड़ी बोली का जो साहित्यिक रूप आज प्रचलित है, उसमें और दिल्ली, मेरठ, बिजनौर, मुजफ्फरनगर आदि ज़िलों की वर्तमान-कालिक बोली में काफ़ी अन्तर पड़ गया है। यदि उसी प्रदेश के कलाकार जीती-जागती बोलचाल की भाषा का प्रभाव उस पर न ला सके तो खड़ी बोली की प्राचीनता बढ़ती ही रहेगी। यह भी देखा गया है कि खड़ी बोली के काशी, प्रयाग आदि दूर की जगहोंके लेखकों के ग्रन्थों में बोलचाल की खड़ी बोली के प्रभाव के बाहर होने के कारण, प्राचीन प्रयोगों की अधिकता रहती है और संस्कृत और फ़ारसी के शब्दों का, तद्भव रूपों की अपेक्षा, अधिक व्यवहार।

स्टैंडर्ड भाषा की प्राचीनता लेख-बद्धता के कारण भी विशेष क़ायम रहती है। संस्कृत को उसके ग्रंथों ने ही स्थिर कर रक्खा है। खड़ी बोली के रूप की गठन पूर्व बने हुए ग्रंथों पर ही ढलती चलती है। आज जब साहित्यिक ब्रज का चलन नहीं है तब भी सूरदास और केशवदास की भाषा ही दो-चार ब्रजभाषा-भक्त कवियों की रचनाओं को रास्ता दिखाने का काम करती है।

स्टैंडर्ड भाषा की प्राचीनता रहने पर भी, और विस्तृत क्षेत्र रहने

पर भी, कुछ न कुछ वर्तमान-कालिक प्रभाव उस पर पड़ता ही है। वाण, माघ, भारवि की भाषा की तुलना एक ओर कालिदास के ग्रंथों से और दूसरी ओर राजशेखर, श्रीहर्ष और जयदेव के ग्रंथों से, विश्लेषण की दृष्टि से, की जाय तो उन ग्रंथकारों के तत्कालीन प्रभाव की झलक दिखाई पड़ेगी। अभी तीस साल पहले के खड़ी बोली के ग्रंथों को देखें तो आजकल के प्रयोगों से भिन्नता दिखाई पड़ेगी। अब करैं की जगह करें, *पड़ैगी* की जगह *पड़ेंगी जाए, जावे* की जगह *जाय* व्यवहार में मिलते हैं।

यदि लेखबद्धता न भी सुलभ हो तब भी परम्परा से भाषा में प्राचीनता क़ायम रह सकती है। गिनती और पहाड़े, पउवा, अद्धा, सवइया, अढ़इया आदि में, अथवा छंदोबद्ध कथाओं में प्राचीनता, स्मृति के साधन द्वारा सुरक्षित परम्परा से ही स्थिर रह सकी है। वेदों की भाषा को प्राचीन काल में क्रमपाठ, घनपाठ, जटापाठ आदि कृत्रिम साधनों द्वारा सुरक्षित रक्खा गया। सूत्रशैली जिस प्रकार विचारों की रक्षा कर सकी उसी तरह छंद भाषा को क़ायम रखने में बड़ी मदद करता है।

स्टैंडर्ड भाषा और साहित्यिक लेखबद्ध भाषा में भी आपस में अंतर होना संभव है और बहुधा रहता है। आजकल खड़ी बोली प्रायः उत्तर भारत के सभी नगरों में आपस के व्यवहार का साधन बन गई है पर इसका साहित्यिक भाषा (उर्दू या हिन्दी) से काफ़ी अन्तर पड़ गया है। हिन्दी और उर्दू साहित्य के वर्तमान महानुभावों से बात करिए और फिर उनकी रचनाओं को पढ़िए, अन्तर प्रत्यक्ष रूप से मालूम पड़ेगा।

लेखबद्ध साहित्यिक भाषा विशिष्ट भाषा होती है। सदियों तक साधारण व्यवहार की भाषाएँ प्राकृत और अपभ्रंश रहीं पर संस्कृत विशेषरूप से साहित्यिक भाषा रही। आज भी मलयदेश के निवासी कोई आर्यभाषा नहीं बोलते पर उनकी साहित्यिक भाषा कवि में संस्कृत शब्द और शब्दांश बहुतायत से मिलते हैं। साहित्यिक भाषा की अपेक्षा

सामान्य व्यवहार की स्टैंडर्ड भाषा का तल नीचा-सा रहता है। इसका कारण यही है कि स्टैंडर्ड भाषा का व्यवहार सभी करते हैं पर साहित्यिक भाषा ग्रंथकारों और पाठकों तक सीमित रहती है। पठन-पाठन के सर्वसाधारण होने पर भी साहित्यिक भाषा उस तल तक न आ सकेगी क्योंकि ग्रंथकार हमेशा ही ऊपर के तल के रहेंगे। यह ग्रंथकार ही साहित्यिक भाषा बनाया करते हैं।

लेखबद्ध साहित्यिक भाषा, भाषा के विकास की एक मंज़िल मात्र है। उससे उस भाषास्रोत की मंजिल ही मालूम होती है, अन्य कुछ नहीं। जिस तरह किसी नदी के प्रवाह के ऊपर किसी जगह बर्फ जम जाय, तो ऊपर तो बर्फ की तह रहेगी पर नीचे ही नीचे पानी बहता रहेगा और आगे बढ़ता जायगा, उसी तरह जनसाधारण की बोलचाल की भाषा अबाध गति से विकसित होती रहती है पर साहित्यिक भाषा रुक जाती है। और जब इस साहित्यिक भाषा से, अबाध गति से विकसित भाषा का बहुत अन्तर पड़ जाता है तब वह मनुष्य-समाज अन्य साहित्यिक भाषा बना लेता है। भारतीय आर्य भाषाओं में इस बात के बहुत उदाहरण मिलते हैं। वैदिक साहित्यिक भाषा जब लोक-भाषा से अधिक भिन्न हो गई तब ईसा के पूर्व सातवीं-आठवीं सदी में वैदिकोत्तर संस्कृत भाषा साहित्य में लाई गई जिसको पाणिनि के समय में कठोर नियमों से जकड़ा गया। पर लोक-भाषा बढ़ती ही रही और हमें प्रचुर प्रमाणों द्वारा मालूम होता है कि गौतम बुद्ध के समय संस्कृत में और आर्यों की लोक-भाषा में इतना अन्तर पड़ गया था कि बुद्ध भगवान् ने न केवल इतना ही किया कि स्वयं संस्कृत से भिन्न भाषा में अपने धर्म का प्रचार किया बल्कि अपने अनुयायियों को अपनी-अपनी बोली (निरुत्ति) में धर्म सीखने की अनुमति दे दी। इसका नतीजा यह हुआ कि साहित्यिक क्षेत्र में संस्कृत का जो एकछत्र राज्य था वह खत्म हो गया और उससे भिन्न भाषाएँ क्षेत्र में आ गईं। इसी के फलस्वरूप हमें जैन धर्मग्रंथ अर्ध-मागधी (आर्ष) प्राकृत में और बौद्ध ग्रंथ मागधी (पालि) में मिलते हैं। अशोक ने धर्म का प्रचार संस्कृत में न करके

प्राकृत में ही किया। इन प्राकृतों का, देश में बाद को साहित्यिक रूप पाने वाली महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्धमागधी से काफ़ी अन्तर है। और तो और अश्वघोष के खंडित नाटकों में जो शौरसेनी प्राकृत मिलती है वह भी ऊपर वाली शौरसेनी से कुछ भिन्न और पहले की है। राजशेखर (ई० १०वीं शताब्दी पूर्वार्ध) के समय तक प्राकृतें साहित्य में व्यवहार में आती थीं, यद्यपि दंडी (सातवीं शता० उत्तरार्ध) के समय से ही अपभ्रंशों का साहित्य में प्रयोग होने लगा था। इसका मतलब यही है कि दंडी के समय तक साहित्यिक रूप धारण किए हुई शौरसेनी आदि प्राकृतों और उस समय बोली जाने वाली भाषाओं के बीच में काफ़ी अन्तर पड़ गया था। अपभ्रंशों का हेमचन्द्रसूरि (१२वीं श० ई०) के समय तक ही नहीं, विद्यापति (१४वीं श० ई०) के काल तक बोल बाला रहा। पर सिद्धों के बौद्धगान और दोहा (प्राय: १०वीं श० ई०) की भाषा की समीक्षा करने से पता चलता है कि अपभ्रंश अपना स्थान खो रहे थे और आधुनिक आर्य-भाषाएँ प्रयोग में आने लगी थीं। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि साहित्यिक भाषा सदा एक ही नहीं रह सकती और जितना ही उसका बोलचाल की भाषा से फर्क होगा उतना ही उसका क्षेत्र सीमित होता जायगा।

विशिष्ट भाषा

जनसाधारण की भाषा और साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त, विशिष्ट जनसमुदाय की विशिष्ट भाषा भी हो सकती है, जैसे क़ानूनी-भाषा, पुरोहित-भाषा, वणिक्श्रेणि-भाषा, साँसियों की भाषा, विद्यार्थी-भाषा आदि। इस तरह की विशिष्ट भाषा का व्यवहार विशेष जन समुदाय अपने आपस के काम-काज में विशेष रूप से करता है। इस प्रकार की विशिष्ट भाषा किसी न किसी जीवित लोकभाषा के आश्रय पर ही टिकी रहती है और उससे अन्तर अधिकांश में केवल शब्दावली का ही होता है। हिन्दी की क़ानूनी भाषा में आजकल

फ़ारसी, अरबी तथा अँगरेज़ी के बहुतेरे शब्द हैं, पुरोहित-भाषा में संस्कृत के, विद्यार्थी-भाषा में अँगरेज़ी के। साँसिये और हबूड़े बोलते यद्यपि हिन्दी ही हैं तब भी उनकी भाषा में कुछ शब्द और मुहाविरे ऐसे होते हैं जो उनके खास हैं और जिन्हें जनसाधारण नहीं समझ सकते।

विकृत बोली

विशिष्ट जनसमुदायों में ही शब्दों को तोड़-मरोड़ कर बोलने की प्रथा भी चल पड़ती है। ऐसे शब्द जनसाधारण के शब्दों के ही विकृत रूप होते हैं। हँसी-मज़ाक, खेलकूद, गाने-बजाने आदि में पहले पहल इनका प्रयोग होता है और फिर इनका क्षेत्र बढ़ जाता है। शब्द ही नहीं, विशेष मुहाविरे भी चल पड़ते हैं, बोलने वाले जानते हैं कि हम बिगाड़ कर बोल रहे हैं, तब भी शब्दों के इस बिगाड़ने में एक प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है। *बाँह* की जगह *बँहिया*, *पाँव* की जगह *पइँया* का व्यवहार इसी तरह ब्रजभाषा में आया होगा। वर्तमान काल में *गाल* को *गल्लू*, *हाथ* को *हत्थी*, *हत्थ*, कहने का रिवाज शहरों में सुन पड़ता है। प्रयाग में मेले-तमाशे में *राजा* शब्द से नवयुवक परस्पर सम्बोधन करते दिखाई देते हैं।

विकृत बोली की जड़ खास-खास पेशे वालों या बिरादरियों में पड़ती है, और यदि उस पेशे वाले या बिरादरी वाले लोगों का जन-साधारण में प्रभाव हुआ तो वे विकृत शब्द जनसाधारण की भाषा में भी आकर घर कर लेते हैं।

रहस्यात्मक प्रभाव

विशिष्ट भाषा और विकृत बोली में ही ज्यादातर, वाणी पर कुछ रहस्यात्मक प्रभाव पड़ने आरम्भ होते हैं। सम्मान और श्रद्धा के पात्र के लिए अन्यपुरुष की क्रिया का प्रयोग अथवा *भवत*, *आप*, *रउवाँ* आदि सर्वनामों का प्रयोग इसी रहस्य का उदा-

हरण है। अँगरेज़ी में भी इसी तरह राजा-रानी ने अपने कर्मचारियों को अन्यपुरुष में संबोधित करने की प्रथा चलाई जो संभवतः इस विचार से उठी कि कर्मचारी परमेश्वर के अंश राजा-रानी की बराबरी कैसे कर सके, और आज अँगरेज़ी में जो *सेमी अफ़सरों* की ओर से कर्मचारी को ही नहीं प्रजाजन को भी भेजे जाते हैं उनमें बहुधा अन्यपुरुष का प्रयोग देखा जाता है। भारतीय सभ्यता के अनुकूल स्त्रियाँ जो अपने पति का या बड़े लड़के का नाम नहीं लेतीं अथवा शिष्य गुरु का नाम नहीं लेता, उसमें भी विशेष आदर ही जड़ में है और साथ ही साथ शायद यह भावना कि कहीं नाम लेने से अनिष्ट न हो जाय। इस प्रकार के रहस्य की मात्रा एक बार उठ कर अधिक व्यापक हो सकती है। करीब नाम की जंगली जाति में पुरुषवर्ग करीब बोली बोलता है और स्त्रियाँ अरोवक बोलती हैं। दोनों में काफ़ी भेद है।

कैलीफ़ोर्निया के उत्तरी प्रदेश में यन नाम के मूल इंडियन निवासी हैं। इनकी भाषा में भी यही भेद है, उदाहरण के लिए—

	पुरुष	स्त्री
आग	*अउन*	*अउह*
मेरी आग	*अउनिज*	*अउनिच्*
हरन	*बन*	*ब*
रीछ	*तेन्न*	*तेत*

की नाम की इंडियन जाति में पुरुष अपनी बहिनों के तथा कुछ अन्य रिश्तेदार स्त्रियों के नाम नहीं लेता।

वर्गों की सामाजिक श्रेष्ठता या हीनता के कारण भी रहस्यात्मक भेद पैदा हो जाता है। जावा (यवद्वीप) के मूल निवासियों में रवाज है कि उच्च वर्ग के लोग नीच वर्ग वालों से न्गोको बोली बोलते हैं और नीच वर्ग वाले उनसे क्रोमो में बोलते हैं। पूर्वी अफ्रीका में मसाई जाति में पुरुषवर्ग आयु के अनुसार दो विभागों में बँटा रहता है, और खाने की कुछ ऐसी चीज़ें हैं जिनका दूसरा वर्ग व्यवहार नहीं करने पाता और

इसलिए उन चीज़ों के नाम भी नहीं ले सकता। पारसियों के धर्मग्रंथ अवेस्ता की भाषा में एक ही वस्तु का बोध कराने के लिए कुछ जोड़ी के शब्द हैं--एक *अहुर (असुर)* और दूसरे *दैव (देव)*। इनमें से एक भले और ईश्वररचित सृष्टि के पदार्थों के लिए और दूसरे बुरे और शैतान के बनाए हुए पदार्थों के लिए प्रयोग में आते हैं। पारसी धर्म में अच्छे और बुरे के बीच जो घोर विरोध प्रतिपादित किया गया है उसी का, इस प्रकार का दो तरह का प्रयोग परिणाम है। इन जोड़ी के शब्दों में *आँख* आदि शरीर के सभी अंगों के लिए तथा और भी पदार्थों का बोध कराने वाले शब्द हैं। यहाँ अपने देश में ही भोजपुरी बोली में यदि ब्राह्मण आदि ऊँची जाति के मनुष्य के बारे में कुछ कहा जाय तो क्रिया का एक रूप होगा और यदि चमार आदि के लिए तो दूसरा।

व्याकरण द्वारा भाषा का जो रूप प्रतिदिन किया जाता है। क्या भाषा का वही असली रूप है? व्याकरण भाषा का विश्लेषण कर उसको तरह-तरह के पदों में बाँट देती है। उसके संज्ञा, विशेषण, कारक आदि पद नियत स्थान पर आने चाहिए। पर क्या सचमुच स्वाभाविक रीति से बोली हुई बोलचाल की भाषा में ऐसा होता है? इस सवाल पर विचार करते हुए हमें अपने ध्यान में यह बात अवश्य रखनी चाहिए कि बोलने वाला और सुनने वाला दोनों सांख्य के कर्त्ता की तरह उदासीन नहीं हैं, जो भी बात कही और सुनी जाती है उसमें उनका कुछ न कुछ निजत्व है। जब शाम को गपशप करते समय दूर देश चीन, जापान, रूस, जर्मनी की लड़ाई के बारे में हम बातचीत करते थे, उस समय भी हम उदासीन होकर नहीं, संसार के भविष्य और अपने स्वर्णयुग की आकांक्षा का पुट लेकर ही बोलते सुनते थे। अँग्रेजों के विरुद्ध जो हम खार खाए बैठे थे वह उनकी बड़ी से बड़ी जीत को लघु और उनकी छोटी से छोटी हार को बड़ा आकार प्रदान कर देता था। रूस और चीन के साथ स्वाभाविक सहानुभूति रख कर भी, अँगरेज़ों के साथ इन देशों की मित्रता के कारण हम लोगों की सहानुभूति में कुछ उदासीनता आ जाती थी। ठीक ऐसी बात दिन प्रतिदिन

घटित होने वाली घटनाओं के बारे में है। हमारी वाणी के हर-एक वाक्य में हमारा विचार ही नहीं हमारा मनोभाव भी प्रकट होता है। *सुग्रीव ने बालि को मार गिराया* इसी वाक्य को सुग्रीव के पक्ष वाले एक ढंग से और वालि के पक्ष वाले दूसरे ढंग से कहें सुनेंगे। तात्पर्य यह है कि हम जो बोलते हैं उसको निरीह उदासीन होकर नहीं, उसमें अपना भी कुछ रहता है। यह अपमान बहुधा आकार और इंगित से प्रकट होता है पर साथ ही साथ व्याकरण-सिद्ध नियमों में हेर-फेर कर और विस्मयादिसूचक शब्दों से भी। अथवा बलाघात, सुर, मात्रा द्रुत अथवा विलम्बित गति से भी मनुष्य अपनी अनुमति, नाराज़गी, शाबाशी, करुणा, संतोष अचरज आदि के मनोभाव प्रकट करता है। किसी वाक्य का पूर्ण अभिप्राय, केवल उसके पदों और उनके संबंध, को जान कर ही नहीं मालूम किया जा सकता। वाणी द्वारा व्यक्त तात्पर्य का बाक़ी हिस्सा ऊपर लिखे अनुसार आकार-इंगित आदि से समझ पड़ता है। पर इस बाकी हिस्से की विवेचना करना भाषा-विज्ञानी का काम नहीं, यह काम मनोविज्ञानी का है और उनका प्रदर्शन करना चित्रकार, मूर्तिकार आदि का है। भाषाविज्ञानी के कार्यक्षेत्र की सीमा तो वाणी ही है। जहां तक वाणी में ही कुछ हेर-फेर करने से मनोराग आदि की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ तक भाषाविज्ञानी का ही काम है।

लिखित भाषा और बोलचाल की भाषा में विशेष अन्तर यह है कि बोलचाल में छोटे-छोटे जुमले दो, तीन, चार पदों के होते हैं पर लिखित भाषा में अपेक्षाकृत लम्बे वाक्य होते हैं। बोल-चाल में वाक्यों को जोड़ने के लिए समुच्चयादि-बोधक अव्ययों का प्रयोग होता है। लिखित भाषा में वाक्य के अंश एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। लिखित भाषा में पदों का क्रम व्याकरण के अनुसार रखना होता है, बोल-चाल में वही क्रम उलट-पुलट जाता है।

बच्चे की बोली एक-एक दो-दो पदों से शुरू होती है। वह जो चीज चाहता है उसी का नाम लेता है, जो देखता है उसका नाम लेता है। धीरे-धीरे ही वह बड़े वाक्यों को बोलने का अभ्यास कर पाता है।

आरम्भ में उसकी वाणी में पदक्रम के नियम का उल्लंघन ही मिलता है। उसकी भाषा में प्रायः संज्ञा का व्यवहार संबोधन में (*अम्मा*) और क्रिया का आज्ञा (*दो; लो आदि*) में मिलता है। वह अन्य पदों का व्यवहार करना धीरे-धीरे बाद को सीखता जाता है।

भाषा के उद्गम पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि किसी विशेष जाति और विशेष भाषा में परस्पर समवाय संबंध नहीं होता। एक जाति वाला परिस्थिति के अनुसार दूसरी भाषा सीखकर उसका व्यवहार करने लगता है। किसी विशेष जाति की मनोवृत्ति भी उसकी भाषा से नहीं झलकती। कभी-कभी कोई कोई भावुक विद्वान् कह बैठते हैं कि अमुक भाषा में हमारी जातीय आत्मा है, अमुक में नहीं। पर भाषाविज्ञानी को जहाँ तक मालूम है किसी भाषा में किसी जाति की आत्मा नहीं मिलती। भाषा के विश्लेषण से केवल इतना मालूम होता है कि उसका प्रवाह कैसा है, वियोगावस्था को जा रही है या संयोगावस्था को, धाराएँ कौन कौन सी हैं और पूर्वकाल की तुलना करके उनमें क्या क्या अन्तर दिखाई पड़ता है। यदि यही किसी जाति या राष्ट्र की आत्मा है तो ठीक, नहीं तो भाषा की आत्मा आदि का हमें कुछ पता नहीं। संगठित जन-समुदाय के विचारों की एक सामान्य एकता होती है और वही भाषा में व्यक्त हुआ करती है, इतना अवश्य है। धर्म, कला, आदि की अपेक्षा जनसमुदाय में भाषा का सूत्र ज्यादा दृढ़ होता है। यही उसका मूल्य है।

पच्चीसवाँ अध्याय

भाषा का वर्गीकरण

आकृतिमूलक और इतिहासिक

विभिन्न भाषाओं को साधारण दृष्टि से भी देखने से इस बात का अनुभव होता है कि उनमें परस्पर कुछ बातों में समता है और कुछ में विभिन्नता। समता दो तरह की हो सकती है—एक पदरचना की और दूसरी अर्थतत्त्वों की। उदाहरण के लिए—*करना, जाना, खाना, पीना* में समानता इस बात की है कि सब में -ना प्रत्यय लगा हुआ है जो एक ही संबंधतत्त्व का बोध कराता है, दूसरी ओर *करना, करता, करेगा, करा, करें* आदि में संबंधतत्त्व की विभिन्नता है पर अर्थतत्त्व की समानता है। केवल पदरचना अर्थात् संबंधतत्त्व की समता पर निर्भर, भाषाओं का वर्गीकरण आकृति-मूलक वर्गीकरण कहलाता है, दूसरा जिसमें आकृति-मूलक समानता के अलावा अर्थतत्त्व की भी समानता रहती है इतिहासिक या पारिवारिक वर्गीकरण कहा जाता है।

(क) आकृतिमूलक वर्गीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण के हिसाब से पहले भाषाएँ दो वर्गों में बाँटी जाती हैं—**अयोगात्मक** और **योगात्मक**। **अयोगात्मक** भाषा उसे कहते हैं जिसमें हर शब्द अलग अलग अपनी सत्ता रखता है, उसमें दूसरे शब्दों के कारण कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता। प्रत्येक शब्द की अलग अलग, संबंधतत्त्व या अर्थतत्त्व को व्यक्त करने की, शक्ति होती है। और उन शब्दों का परस्पर संबंध केवल वाक्य में उनके स्थान से मालूम होता है। यदि हिन्दी से ऐसे वाक्य का उदाहरण दें तो इस तरह के वाक्य होंगे—*गोविन्द राम को खिलाता है, राम*

गोविन्द को खिलाता है। इन दोनों वाक्यों में प्रत्येक शब्द की अलग अलग स्वतंत्र सत्ता है और परस्पर संबंध वाक्य में पदक्रम से ही मालूम होता है। पहले वाक्य के *गोविन्द* और *राम* का स्थान उलट देने से परस्पर संबंध भी उलट गया, पर पदों में कोई विकार नहीं हुआ। अयोगात्मक भाषाओं का सर्वोत्तम उदाहरण चीनी भाषाओं में मिलता है। इसमें हर एक शब्द की अलग अलग स्थिति रहती है, किसी के प्रभाव से दूसरे में परिवर्तन नहीं होता और उन शब्दों का परस्पर संबंध पदक्रम से जान पड़ता है। कोई शब्द संज्ञा है या क्रिया या विशेषण यह सब वाक्य में प्रयोग में आने से ही मालूम होता है, अन्यथा नहीं। कोई ऐसा शब्द, जिसकी अर्थतत्त्व और संबंधतत्त्व दोनों को बताने की शक्ति है, किस तत्त्व को सिद्ध करता है यह भी पदक्रम से जाना जाता है *न्गो त नि* का अर्थ है *मैं तुझे मारता हूँ*, पर *नि त न्गो* का अर्थ हुआ *तू मुझे मारता है*। *त* का अर्थ प्रकरण के अनुसार *बड़ा, बड़ा होना, बड़प्पन, अधिक* आदि होता है। *य* का अर्थतत्त्व होता है *प्रयोग*, पर संबंधतत्त्व *से*, *त्सि* का अर्थतत्त्व है *स्थान*, पर संबंधतत्त्व *का*। एक ही अक्षर *ब* का अर्थ सुर की विभिन्नता से कई प्रकार का हो सकता है और बबबब में प्रत्येक अक्षर में थोड़ा थोड़ा सुर-भेद होने से *तीन महिलाओं ने राजा के कृपापात्र के कान उमेठे* यह तात्पर्य हुआ। इस प्रकार अयोगात्मक भाषाओं में संबंधतत्त्व का बोध स्वतंत्र शब्दों से तथा पदक्रम से होता है, वाक्य के पदों में कुछ जोड़ कर या विकार लाकर नहीं।

योगात्मक भाषाओं में संबंधतत्त्व अर्थतत्त्व के साथ जोड़ दिया जाता है, इनमें अर्थतत्त्व और संबंधतत्त्व का योग होता है। योगात्मक वर्ग के भी तीन विभाग होते हैं—अश्लिष्ट, श्लिष्ट और प्रश्लिष्ट। अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में अर्थतत्त्व के साथ संबंधतत्त्व जुड़ता है पर दोनों की सत्ता स्पष्ट झलकती है। हिन्दी में इनके उदाहरण *शिशु-त्व सु-जन-ता, करे-गा, करे-गी* आदि होंगे। इस वर्ग की भाषाओं का सर्वोत्तम उदाहरण उराल-अल्ताई परिवार की तुर्की आदि भाषाओं

में मिलता है। तुर्की में *सेव्* का अर्थ होता है 'प्यार करना' और इसी धातु से *सेव्+मेक्* (तुमर्थ—प्यार करना,) *सेव्-इस्-मेक्* (परस्पर प्यार करना), *सेव्-दिर्-मेक्* (प्यार करवाना) *सेव् इल्-मेक्* (प्यार किया जाना), *सेव्-दिर्-इल् मेक्* (प्यार करवाया जाना), आदि शब्द बनते हैं। इसी प्रकार *यज़्* धातु का अर्थ है *लिखना* और उसके *यज़्-मक्, यज़्-इस-मक्, यज़्-दिर्-मक्, यज़्-इल्-मक्* आदि शब्दों की सिद्धि होती है।

अश्लिष्ट भाषाओं के भी अवान्तर विभाग किस स्थान पर संबंध-तत्त्व जोड़ा जाय इस विचार से कई होते हैं—पूर्वयोगात्मक, मध्य-योगात्मक, अन्तयोगात्मक अथवा पूर्वान्तियोगात्मक। **पूर्वयोगात्मक** अश्लिष्ट भाषाएँ अफ्रीका की बांटू परिवार की हैं। इस परिवार की काफ़िर भाषा में **कु** का अर्थ संप्रदान का होता है (कु *ति*-हमको, कु *नि*–उनको), जुलू में *उमु* का अर्थ एक वचन और *अब* का बहुवचन, *उमुन्त* (एक आदमी) *अबन्तु* (बहुत से आदमी,) और *न्ग* का से (**न्गबन्तु**--आदमियों से) होता है। बांटू भाषाओं का यह पूर्वयोग ही प्रधान लक्षण है।

अन्तयोग का सर्वोत्तम उदाहरण उराल-अल्ताई और द्राविड़ भाषाओं में मिलता है। उराल-अल्ताई की तुर्की भाषा से *सेव-मेक्, यज्-मक्* आदि का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। द्राविड़ भाषाओं के ये नमूने हैं—

संस्कृत	कन्नड़	मलयालम
सेवकाः	*सेवक-रु*	*सेवकन्-मार*
सेवकान्	*सेवक-रन्नु*	*सेवकन्-मारे*
सेवकैः	*सेवक-रिंद*	*सेवकन्-मराल्*
सेवकेभ्यः (*सम्प्रदान*)	*सेवक-रिंगे*	*सेवकन् मारकु* *सेवकन-मारकाइ*
सेवकानाम्	*सेवक-र*	*सेवकन्-मारुटे*
सेवकेषु	*सेवक-रल्लि*	*सेवकन्-मार-इल्*

कन्नड़ के इन रूपों में र्- बहुवचन का बोधक है, न्- (नु, नन्नु) एकवचन का द्योतक होता है। मलयालम में संस्कृत *सेवक* का रूप *सेवकन्* होता है और बहुवचन का प्रत्यय *मार्* है। कर्ता में अविकृत (सेवकन् एकवचन) लाया जाता है। और विभक्तियों के प्रत्ययरूप—ए (कर्म) *आल्* (करण), नु, *आइ* (संप्रदान), टे (संबंध) और *-इल* (अधि-करण) होते हैं। बहुवचन के रूप ऊपर दिये हैं, एकवचन के क्रम से *सेवकने, सेवकनाल, सेवकन्नु, सेवकनाइ, सेवकन्टे, सेवकनिल्* होते हैं।

पूर्वान्तयोग तथा **मध्ययोग** के उदाहरण प्रशांत महासागर के द्वीपों की भाषाओं में मिलते हैं। इसमें प्रधान (अर्थतत्त्व-द्योतक) शब्द के पहले और बाद को और यदि शब्द दो अक्षरों का हुआ तो मध्य में संबंधतत्त्व जोड़े जाते हैं। न्यूगिनी की मफ़ोर भाषा से ये उदाहरण दिए जाते हैं—*ज-स्नफ़* (मैं सुनता हूँ), *व-स्नफ़* (तू सुनता है), *इ-स्नफ़* (वह सुनता है,) *सि-स्नफ़* (वे सुनते हैं), *ज-स्नफ़-उ* (मैं तेरी बात सुनता हूँ), *सि-स्नफ़-उ* (वे उसकी बात सुनते हैं)। मुंडा भाषाओं में मध्ययोग के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं, जैसे संथाली भाषा में *मंझि* (मुखिया), *मपंझि* (मुखिया गण), *दल्* (मारना) *दपल्* (परस्पर मारना)।

श्लिष्ट उन योगात्मक भाषाओं को कहते हैं जिनमें संबंधतत्त्व को जोड़ने के कारण अर्थतत्त्व वाले भाग में भी कुछ विकार उत्पन्न हो जाता है। तथापि संबंधतत्त्व की झलक अलग मालूम पड़ती है, जैसे सं० **वेद**, *नीति, इतिहास*, *से वैदिक, नैतिक, ऐतिहासिक*। स्पष्ट ही यहाँ **इक** जोड़ा गया है पर परिणामस्वरूप **वेद** आदि शब्दों में भी विकार आ गया। अथवा अरबी *क्तब्* धातु का अर्थ होता है 'लिखना', और उसमें स्वरों को जोड़ कर *किताब्, कुतुब्, कातिब्, मकतूब्* आदि शब्द बनते हैं। यहाँ भी विभिन्न स्वरों का योग स्पष्ट झलकता है। श्लिष्ट भाषाओं के भी दो विभाग किए जाते हैं—एक ऐसी जिनमें जोड़े हुए भाग (ध्वनियाँ) मूल (अर्थतत्त्व) के बीच में घुल-मिल कर रहते हैं और दूसरी ऐसी जिनमें जोड़े हुए भाग प्रधानतः मूल भाग के बाद

आते हैं। अरबी आदि सामी परिवार की भाषाएँ प्रथम विभाग की उदाहरणस्वरूप हैं और संस्कृत आदि प्राचीन आर्यभाषाएँ दूसरे की।

प्रश्लिष्ट भाषा उसे कहेंगे जिसमें योग इस प्रकार हुआ है कि संबंध-तत्त्व को अर्थतत्त्व से अलग कर पाना असम्भव सा है, जैसे संस्कृत के *शिशु* और *ऋजु* शब्दों से बने *शैशव* और *आर्जव* शब्द। प्राचीन आर्य-भाषाओं की शब्दावली में कुछ अंश इसी वर्ग का है। प्रश्लिष्ट भाषाओं में न केवल एक अर्थतत्त्व का और एक या अनेक संबंधतत्त्वों का योग होता है बल्कि एक से अधिक अर्थतत्त्वों का समास की प्रक्रिया से योग हो सकता है, जैसे सं० *राजपुत्रः, राजपुत्रगणः, राजपुत्रगणविजयः।* प्रश्लिष्ट भाषाओं में कभी-कभी पूरा वाक्य ही जुड़-जुड़ा कर एक शब्द बन जाता है। जैसे ग्रीनलैंड की भाषा में *अउलिसरिअतोरसुअर्पोक्* (वह मछली मारने के लिए जाने की जल्दी करता है) में *अउलिसर* (मछली मारना), *पेअतोर* (किसी काम में लगना) और *पेन्नुसुअर्पोक* (वह जल्दी करता है) इन तीन का सम्मिश्रण है। असरीका महाद्वीप के मूल निवासियों की भाषाएँ अधिकतर इसी तरह की हैं।

भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण विभिन्न भाषाओं में किसी एक लक्षण की प्रधानता पर (न कि सम्पूर्णता पर) निर्भर है। अँगरेज़ी और हिन्दी मुख्यरूप से अयोगात्मक भाषाएँ हैं, चीनी इनसे भी अधिक अयोगात्मक है। तुर्की, काफ़िर, कन्नड़ आदि अश्लिष्ट योगात्मक हैं पर इनमें भी कहीं-कहीं श्लिष्ट के लक्षण दिखाई पड़ते हैं—*यज़्-मक्* में दोनों भागों में -अ- किन्तु *सेव्-मेक्* में दोनों भागों में ऍ-, *सेवकन्* में *आल्* जोड़ने से -न्- न्न् आदि विकार श्लिष्ट के लक्षण हैं। इसी प्रकार पालीनेशी भाषाएँ मुख्यरूप से अश्लिष्ट योगात्मक हैं पर कुछ लक्षण अयोगात्मक दिखाई देते हैं। बास्क योगात्सक अश्लिष्ट भाषा है पर कुछ अंश प्रश्लिष्ट दिखाई पड़ते हैं। यही हाल बांटू भाषाओं का है। संस्कृत में श्लिष्ट और प्रश्लिष्ट दोनों अंश मिलते हैं।

जिन भाषाओं का इतिहास मालूम है, उनसे पता चलता है कि कल जो भाषा श्लिष्ट थी वही आज कालांतर में अयोगात्मक हो चली

है। संस्कृत से विकसित हिन्दी आदि आधुनिक भाषाएँ उदाहरण-स्वरूप हैं। चीनी भाषाओं में संबंधतत्त्व सूचक शब्द किसी समय पूरे अर्थतत्त्व थे यह अनुमान किया जाता है। परसर्ग के रूप में प्रयोग में आने वाले शब्द (*में, का* आदि) पूर्वकाल में अर्थ-पूर्ण (*मध्य, कृत* आदि) शब्द थे यह तो स्पष्ट ही है। संस्कृत के क्रियापदों में *-ति सि मि* आदि प्रत्यय वस्तुतः पूर्वकाल के सर्वनामों के अंश है यह निश्चय प्रायः भाषाविज्ञानियों ने स्वीकृत किया है। स्वतंत्र शब्द कालांतर में प्रत्यय का रूप धारण कर लेते हैं इस बात के प्रचुर उदाहरण अन्य भाषाओं में भी मिलते हैं। इसका उल्लेख ऊपर बाईसवें अध्याय में पृ० १५९ पर किया जा चुका है। इस प्रकार अनुमान है कि प्रश्लिष्ट से श्लिष्ट, उससे अश्लिष्ट योगात्मक और अंत में अयोगात्मक अवस्था आती है। और फिर अयोगात्मक से अश्लिष्ट योगात्मक, उससे श्लिष्ट और फिर प्रश्लिष्ट अवस्था आती है। अनुमान है कि कालचक्र में भाषा का विकास इसी क्रम से होता आ रहा है। वर्तमान सृष्टि की प्रारंभिक भाषा प्रश्लिष्ट थी या अयोगात्मक, इसका निश्चय करना, साक्षी प्रमाणों के अभाव में, नितान्त असम्भव है। मैक्समूलर का यह अनुमान कि आदिम आर्य केवल धातुओं का उच्चारण कर विचार विनिमय करता था उपहासास्पद ही सिद्ध हुआ।

(ख) इतिहासिक वर्गीकरण

जिस प्रकार परिवारों के इतिहास में कोई आदि पुरुष होता है और उससे फिर शाखाएँ फूट निकलती हैं, उसी प्रकार ऐसा समझा जाता है कि आज जो भाषाएँ संसार में मौजूद हैं उनकी भी आदि-भाषाएँ थीं। यूरोप वालों को जब १७वीं शताब्दी में संस्कृत का पता चला और बाद को विद्वानों ने उसकी, लैटिन और ग्रीक से तुलना की, तो इनमें इतनी समानता की बातें मिलीं कि इनके आधार पर इनके आदि स्रोत की भाषा की कल्पना की गई। इस आदि भाषा की शाखाएँ प्रशाखाएँ ही वर्तमान काल की आर्यभाषाएँ हैं। आदिम आर्यभाषा की

ध्वनियों और व्याकरण तथा शब्दावली का अनुमान करके कैसे-कैसे बाद की आर्यभाषाएँ उससे फूट निकलीं—यह सब अध्ययन उसी प्रकार है जैसा किसी आदि पुरुष के परिवार का। इसी दृष्टांत से भाषाओं के विषय में भी जननी, भगिनी, दुहिता आदि शब्दों का प्रयोग किया गया। पर मनुष्य-वर्ग के परिवार और इतिहासिक संबंध रखनेवाली भाषाओं के बीच की समता को केवल अलंकाररूप समझना चाहिए। जननी, बहिन, बेटी आदि शब्द भाषाओं के बारे में पूरे तौर से उपयुक्त नहीं। *जबला* की लड़की *जाबाली* हुई। दोनों का अलग अलग अस्तित्व रहा, दोनों का समकालत्व भी रहा। पर भाषा के विषय में ऐसा नहीं होता। जो बेटी कही जाती है वह दूसरे समय और दूसरे रूप में मां ही है, जो बहनें हैं वह मां के ही कालांतर के रूप हैं। भाषा-रूपी मां-बहनें एक साथ नहीं ठहर सकतीं। इसीलिए जहाँ तक सम्भव हो मां-बहन आदि शब्दों का प्रयोग ही नहीं करना चाहिए और करें भी तो दृष्टांत की सीमा समझ कर। भाषा तो प्रवाहरूप है; उसके अलग अलग नाम उसी प्रकार से हैं जैसे एक ही जलप्रवाह के स्थानभेद से भागीरथी, जाह्नवी, गंगा और हुगली।

इतिहासिक संबंध स्थापित करने के लिए, भाषाओं के बीच की परस्पर, स्थान की समीपता और साधारण समानता से विचार उत्पन्न होता है। यह विचार बहुधा ठीक ही उतरता है। हिन्दी, बंगाली, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी एक-दूसरी के निकट हैं, समानता भी है, इनका इतिहासिक संबंध है। पर मराठी के समीप ही तेलुगु भी है और कन्नड़ भी। इन दोनों के शब्दसमूह में बहुतेरे ऐसे शब्द हैं जो मराठी में भी हैं। तब भी मराठी का इनसे इतिहासिक संबंध नहीं है। इसलिए केवल शब्दसमूह की समानता से इस प्रकार का संबंध स्थापित नहीं होता।

किसी भाषा के शब्दसमूह को चार भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) किसी जन-समुदाय के सभी व्यक्तियों द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले शब्द—यथा सर्वनाम, माता, पिता, आदि संबंधियों

के नाम, एक दो आदि संख्यावाचक शब्द, खाना, पीना, सोना, बैठना, उठना आदि सर्वसाधारण क्रियाओं के द्योतक शब्द; सर्वसाधारण व्यवहार में लाई जाने वाली चीजों के नाम, जैसे पानी, आग, घर, मुँह, आँख, नाक आदि।

(ख) ऐसे शब्द जो सभी व्यक्तियों द्वारा व्यवहार में नहीं आते किन्तु जिनको समझते सभी हैं; जैसे बिछाने-ओढ़ने के कपड़े, पहनने के साधारण कपड़े, खाने पीने के साधारण बर्तन आदि के बोधक शब्द धोती, थाली, लोटा आदि।

(ग) सभ्य व्यक्तियों द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले उनके साधारण व्यवहार के शब्द, जैसे लिखना, पढ़ना, कलम, किताब, रुपया, पैसा, सवारी, तख़त, चारपाई, मेज़, कुर्सी, कमरा, गुसलख़ाना आदि।

(घ) ऐसे शब्द जो केवल विशेष कलाओं और विद्याओं के व्यवहार में आते हैं और जिनका व्यवहार उस जनसमुदाय के बहुत परिमित वर्ग में होता है, जैसे चित्रकला, साहित्यशास्त्र, भाषाविज्ञान आदि के पारिभाषिक शब्द।

शब्दसमूह के ये चार वर्ग आपेक्षिक दृष्टि से ही, मोटे तौर पर किए गए हैं इनमें परस्पर कोई नपी-तुली विभाग-रेखा नहीं है। यदि किसी जन-समुदाय की स्थिति ज़रा सुख-सुविधा की है तो (ख) वर्ग वाले बहुत से शब्द (क) वर्ग के ही होंगे और यदि पढ़ने लिखने आदि का सर्व-कष नियम है तो (ग) वर्ग के भी बहुत से शब्द (क), (ख) में आ जायँगे। फिर एक देश और दूसरे देश के रहन-सहन के अन्तर से भी भेद पड़ सकता है। इंगलैंड में मेज़, कुर्सी आदि का प्रायः सर्वसाधारण प्रयोग है, काँटे-छुरी आदि का भी। पर अपने देश में इन चीज़ों का बोध कराने वाले शब्द (ग) वर्ग में ही आ सकेंगे। जापान की धन-समृद्धि अच्छी है और वहाँ के जन-साधारण की रहन-सहन का तल भी ऊँचा है पर उनकी सभ्यता यूरोप की सभ्यता से भिन्न है। इस कारण जापान के जनसाधारण के व्यवहार के बहुत से पदार्थ यूरोपीय जन-साधारण के प्रयोग में नहीं आते और न यूरोप वालों के जापान वालों के, तथा

न इनके लिए शब्द ही एक दूसरे की भाषा में मिलेंगे। तब भी इतिहासिक संबंध की जाँच करने के लिए शब्दावली का यह वर्गीकरण उपयोगी है और ऐसा संबंध (क) और (ख) वर्गों की समानता पर निर्भर होता है।

दो भाषाओं के बीच की समानता की जाँच करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इतिहासिक संबंध होने के लिए शब्दों की तद्रूपता (एकरूपता) नहीं, बल्कि समानता चाहिए। संस्कृत और हिन्दी का संबंध *पत्ता*, *गया*, *हाथ*, *पंच*, *राय*, *पूत*, आदि शब्दों से सिद्ध हो सकता है न कि *पत्र*, *गत*, *हस्त*, *पंच*, *राजा*, *पुत्र*, आदि से जिनको हिन्दी ने ज्यों का त्यों संस्कृत से ले लिया है। हर एक भाषा अपने पास-पड़ोस की भाषाओं से अथवा अपनी पूर्ववर्ती साहित्यिक भाषाओं से शब्द अपनी जरूरत के हिसाब से लिया ही करती है। फ़ारसी में बहुत से शब्द ज्यों के त्यों अरबी से ले लिए गए हैं, चीनी से जापानी में, फ़ारसी अरबी से उर्दू में, और हिन्दी बंगाली आदि आधुनिक आर्य-भाषाओं में ही नहीं, तेलगू, तामिल, कन्नड़ आदि द्रविड़ भाषाओं में भी संस्कृत से लिए हुए पाए जाते हैं। हिन्दी, बंगाली, मराठी आदि भी परस्पर एक दूसरे से शब्दों का लेन-देन किए हुए हैं।

शब्दों की समानता मिलने पर, ऐसे शब्द जो तत्सम या अर्ध-तत्सम हों उनको अलग कर देना चाहिए क्योंकि वे तो निश्चय ही माँगे हुए हैं। इतिहासिक संबंध के लिए तद्भव शब्द ही विशेष उपयोगी होते हैं।

शब्दावली की समानता से अधिक महत्त्व की चीज़ व्याकरणात्मक समानता है। जब इतिहासिक संबंध न रखने वाली दो विभिन्न भाषाओं के बोलने वाले लोग एक दूसरे के निकट व्यापार, जय-पराजय, यात्रा आदि कारणों से आते हैं तो प्रायः शब्दों का आदान प्रदान होता है। शब्दों में भी संज्ञाएं विशेष ली जाती हैं। जब ऐसे दो वर्गों की निकटता चिरकाल तक रहती है, या घनिष्ठता अधिक हो जाती है, तभी यह संभव होता है कि व्याकरण की एकआध बात या बोलचाल के मुहाविरे भी एक भाषा से दूसरी में आ जाते हैं। उर्दू में इज़ाफ़त

(*शाहे फ़ारस, ग़ुरूरे इल्म* आदि में समाससूचक *ए*), अथवा हिन्दी में *कि* (*उसने कहा कि*) अथवा *या* का प्रयोग फ़ारसी से, और कई वाक्यों के समूह को मिलाकर बड़े-बड़े वाक्यों के प्रयोग अँगरेज़ी से लिए गए हैं। पर एक भाषा दूसरी भाषा से इतने छोटे अंशों को छोड़कर व्याकरण उधार नहीं लेती। सामान्यरूप से व्याकरण अछूती रहती है। प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी टकर के शब्दों में "एक भाषा के व्याकरण पर दूसरी भाषा का अधिक से अधिक इतना प्रभाव पड़ता है कि उसके ऐसे नियमों का जो बहुत आवश्यक विचार-धाराओं को नहीं प्रकट करते शीघ्र ही विध्वंस हो जाय।" इसलिए यदि शब्दसाम्य के अलावा व्याकरण की भी समानता मिले, तो इतिहासिक संबंध होने के विचार को अधिक पुष्टि मिलती है।

व्याकरण से भी अधिक महत्त्व की चीज़ ध्वनिसमूह है। जब दो भाषाएँ एक दूसरे के निकट आती हैं और एक भाषा के शब्द दूसरी में जाते हैं, तब अपरिचित ध्वनियों और संयुक्ताक्षरों के स्थान पर उसी प्रकार की देशी ध्वनियाँ और संयुक्ताक्षर आ जाते हैं। फारसी के *ग़रीब, काग़ज, सबूत, ख़सम, मज़दूर, मज़ह, मअ़लूम, फ़लां, वक्त* के हिन्दी रूप *गरीब, कागद* (*काग़ज़*) *सबूत, खसम, मजूर, मजा, मालूम, फलाना, वखत* विदेशी ध्वनियों के स्थान पर स्वदेशी ध्वनियों को ही बिठाकर बने हैं। अँगरेजी के *सिग्नल, लैंटर्न, बॉक्स* के हिन्दी–रूप *सिंगल, लाल्टेन, बकस* अँगरेजी संयुक्ताक्षरों की जगह हिंदी के प्रचलित संयुक्ताक्षरों को रख कर बनाए गए हैं। कोई भी भाषा दूसरी के ध्वनिसमूह को ज्यों का त्यों नहीं लेती। यदि विजित वर्ग की भाषा के स्थान पर अधिकांश में विजयी वर्ग की भाषा आ बैठे, तब ऐसा हो सकता है कि विजयी वर्ग की भाषा में कोई कोई ध्वनिविकास जो विजित वर्ग की भाषा के अनुकूल हो, द्रुतगति से होने लगता है। द्राविड़ भाषाओं में मूर्धन्य ध्वनियों की प्रधानता थी और है, वैदिकपूर्व आर्य-भाषाओं में ये ध्वनियाँ बिल्कुल नहीं थीं, यह नतीजा संस्कृत, ईरानी, लैटिन और ग्रीक की तुलना करने से निकलता है। पर वैदिककाल के

उपरांत भारती आर्य-भाषाओं में मूर्धन्य ध्वनियों (टवर्ग और ष) की उत्तरोत्तर वृद्धि दिखाई देती है। ये नई ध्वनियाँ प्राचीन दंत्य ध्वनियों से ही विकसित हुई हैं। दूसरी भाषा को स्वीकार कर लेने वाला वर्ग कुछ काल तक विदेशी ध्वनियों के स्थान पर अपनी निकट-तम ध्वनियों का प्रयोग करता है और यदि इनकी जनसंख्या भारी हुई और प्रभाव डाल सकी तो यह विजयी वर्ग की ध्वनियों को अपनी विशेष ध्वनियों की ओर विकसित कर लेती है, अन्यथा थोड़े समय के बाद विजयी वर्ग की भाषा पूरे तौर से विजित वर्ग की भाषा को हटा देती है। पर यदि विजित वर्ग विजयी वर्ग से दूर रह कर भी अपना दैनिक व्यवहार कर सकता है, तो वह अपनी भाषाओं को सुरक्षित रख सकता है। यही कारण है कि जंगलों और पहाड़ी प्रदेशों में मुंडा भाषाएँ अब भी मौजूद हैं, और सुदूर दक्खिन में आर्य-सभ्यता को स्वीकार कर लेने पर भी वहाँ के निवासी अपनी भाषाओं को कायम रक्खे हुए हैं। इस प्रकार अलग बसे हुए जनसमुदाय की भाषा की रक्षा अधिक हो पाती है। कश्मीर के उत्तरी-पश्चिमी भाग की बोलियों में अब भी वैदिक भाषा के रूप की रक्षा पंजाब और संयुक्तप्रांत की भाषाओं से अधिक मात्रा में मिलती है। जिप्सी (हबूड़ों की) भाषा में भी भारतीय आर्यभाषा का व्याकरण और ध्वनियाँ मौजूद हैं, यद्यपि शब्दावली अधिकांश में यूरोपीय है।

ध्वनियों का साम्य स्थापित करने के लिए उनकी तद्रूपता अथवा एकरूपता से काम नहीं चलता। इतिहासिक संबंध के लिए चाहिए ध्वनिनियमों के अनुसार ध्वनि-साम्य और ध्वनि-भिन्नता, दोनों मिल कर। ग्रीक *बोउस्*, सं० *गौः*, जर्मन *कू*, अं० *काउ* शब्दों से आदि आर्य शब्द **गाउस्* का अनुमान किया गया है; ग्रीक० *देकृ*, लैटिन *देकेम्*, सं० *दश*, गाथिक *तेहुन*, अं० *टेन्* के आधार पर आदि-आर्य के **देक्मु* की कल्पना हुई है। किन्तु सं० हिं० *पंडित* और अं० *पंडित* के आधार पर कोई पूर्ववर्ती शब्द नहीं बन सकता क्योंकि इनमें ध्वनि एकता है, और स्पष्ट ही अँग्रेजी में *पंडित* शब्द भारतीय आर्यभाषाओं से उधार लिया

हुआ है। सं० *घृत*, जिप्सी *खिल*; सं० *भ्रातृ*, जि० *फ्रल्* भी इन दोनों भाषाओं का संबंध स्थापित करते हैं, क्योंकि संस्कृत के सघोष महाप्राण स्पर्श वर्ण जिप्सी में सर्वत्र अघोष मिलते हैं। दो भाषाओं के बीच के ध्वनिसाम्य को नियमों में घटित करना चाहिए। उस समय जहाँ समता की चूल नियमानुसार नहीं बैठती, वहाँ उन शब्दों को थोड़ी देर के लिए अलग रखकर नियमों का निर्धारण करना चाहिए, और ऐसे निर्धारण के हो जाने पर उन अपवादों को भी उठा-उठा कर जाँचना परखना चाहिए।

इतिहासिक संबंध के लिए प्राय: स्थानिक समीपता से विचार उठता है, शब्दों की समता से विचार को पुष्टि मिलती है, व्याकरण-साम्य से विचार वादरूप हो जाता है, और यदि ध्वनि-साम्य भी निश्चित हो जाय तो संबंध पूरी तरह निश्चय-कोटि को पहुँच जाता है। यदि व्याकरण-साम्य न मिलता हो तो विचार विचार-कोटि से ऊपर नहीं उठ पाता। यह असंभव नहीं कि कोई भाषा विकसित होते होते इतनी भिन्न हो जाय कि व्याकरण की समानता न प्राप्त हो, और दोनों भाषाओं की मध्यवर्ती अवस्थाओं के सूचक लेख भी न मिलें। आज हिन्दी और अँगरेजी के बीच परस्पर सर्वनामों, संख्यावाचकों, पिता माता आदि संबंधों के बोधक शब्दों आदि में समानता प्राप्त है, किंतु दोनों के व्याकरण में समानता का लोप हो गया है। सौभाग्य से इन दोनों भाषाओं की पूर्ववर्ती अवस्थाओं के प्रदर्शक ग्रन्थ दोनों तरफ़ मौजूद हैं जिनसे इतिहासिक संबंध स्थापित हो जाता है। यदि सामग्री उपस्थित न रहती तो हिन्दी और अँगरेजी का संबंध विचार-कोटि तक सीमित रहता।

भाषा के विकास के संबंध में यह देखा गया है कि पहले एक भाषा से कई भाषाएँ निकल पड़ती हैं, यह अलग क्षेत्रों में काम किया करती हैं। उनमें की फिर कोई भाषा प्रधान हो जाती है और दूसरी बोलियों और भाषाओं को दबा देती है। कालांतर में फिर इससे शाखाएँ फूट पड़ती हैं, और फिर उनके स्थान पर कोई भाषा प्रधान बनकर सामान्य हो जाती है। यही क्रम जारी रहता है।

सृष्टि के आरंभ में एक भाषा रही होगी या अनेक, इस कौतूहलपूर्ण प्रश्न का उत्तर तब तक मिलना संभव नहीं जब तक यह निश्चयपूर्वक न मालूम हो जाय कि मनुष्य की सृष्टि एक स्थान पर हुई या पृथ्वी के विभिन्न स्थानों पर। संसार की भाषाओं की वर्तमान अवस्था के अध्ययन से इस सवाल पर कोई रोशनी नहीं पड़ती।

संसार की बहुत-सी जंगली जातियों, विशेषकर अमरीका और अफ्रीका की जातियों की भाषाओं का अध्ययन अभी पूरे तौर से नहीं हो पाया है। जब तक यह न हो पाए तब तक निश्चयपूर्वक यह कहना कि संसार में कितने भाषापरिवार हैं असंभव है। फीडरिक मूलर का अनुमान है कि इस समय प्रायः एक सौ परिवार हैं। कई भाषापरिवार जिनको इस समय तक भाषा-विज्ञानी विभिन्न समझते आए हैं, उनके बारे में इधर कुछ विशेषज्ञों ने इतिहासिक संबंध के पक्ष में मत प्रकट किया है। उराल-अल्ताई और द्राविड़ परिवारों में जो अभी तक प्रायः सर्वसम्मति से भिन्न माने जाते थे, अब परस्पर संबंध जोड़ने की कोशिश हो रही है। इधर कुछ विद्वान भूमध्यसागर के क्रीटद्वीप और उस सागर के पूर्व-तटवर्ती प्राचीन भाषाओं से भी इनका संबंध स्थापित करना चाहते हैं और मोहनजदाड़ो की संस्कृति को द्राविड़ सिद्ध करते हैं। आर्य और सामी परिवारों के बीच भी संबंध स्थापित करने का हिर्त आदि विशेषज्ञों ने उद्योग किया है। इस प्रकार के प्रयास यदि सफल हो जायँ और परिवारों की संख्या कम हो जाय, तो भी वर्गीकरण के जो सिद्धान्त ऊपर निश्चित किए गए हैं उनमें कोई अंतर नहीं पड़ता।

संसार की भाषाओं का विवेचन और वर्णन इस पुस्तक के दूसरे खंड में किया जायगा।

छब्बीसवाँ अध्याय

वाक्य-विचार

हम बहुधा कहते हैं कि भाषा वाक्यों का समूह है और वाक्य पदों का। पद के बारे में विचार करते समय हम देख चुके हैं कि वाक्य का पदों में विभाजन करना व्याकरणकार का काम है, बहुधा अशिक्षित आदमी अपने वाक्य के विभिन्न पदों को अलग अलग नहीं रख पाता। तब भी इतना निश्चय है कि मनुष्य के अंत:करण में पदों की अलग अलग स्थिति है, अन्यथा एक ही मनुष्य एक शब्द में विभिन्न सम्बन्ध-तत्व लगाकर पदों की सिद्धि न कर पाता। माना कि भाषा के स्पष्ट बाहरी रूप में पदों की अलग अलग स्थिति नहीं है, मनुष्य पदों के समूह (वाक्य) को तो समष्टिरूप में बोलता है। लेकिन क्या अशिक्षित मनुष्य व्याकरणकार की तरह अपने वाक्यों को अलग अलग रख सकता है? क्या वह इस बात को समझता है कि बोलते समय 'वाक्य' उसके वक्तव्य का अवयव है?

वाक्य सचमुच है क्या? बातचीत करते समय दो आदमी अलग-अलग अपने-अपने मुँह से कुछ ध्वनियों का उच्चारण करते हैं। ये ध्वनियाँ समष्टिरूप से उनके विचार की प्रतिनिधि हैं। जब एक बोलता होता है, तब दूसरा अधिकतर सुनता रहता है और जब वह बोलता है तब पहला सुनता है। पर यदि बात विवादास्पद होती है, और विचार ठंडे दिल से नहीं हो पाता, तब जब एक बोल रहा होता है, तभी दूसरा बीच में बोल उठता है, या कोई बात पूछ बैठता है। ऐसी दशा में पहला अपने वक्तव्य की धारा को बीच में रोककर इस नई आई हुई बाधा या प्रश्न का मुकाबिला करता है, या अनुनय-विनय से अथवा ज़बर्दस्ती बाधक को चुप करके अपनी बात पूरी करता है। इस तरह यह वक्तव्य

या बात ही एक सम्पूर्ण अवयव है। यह वक्तव्य व्याकरणकार का एक वाक्य हो सकता है अथवा उसके कई वाक्य। जब आदमी बातचीत नहीं करता, केवल कोई वर्णन करता है या कोई कहानी कहता है तब भी उसकी बात या वक्तव्य में व्याकरणकार के बहुतेरे वाक्य रहते हैं। लेखक यही बात लेख द्वारा प्रकट करता है। अपेक्षा-दृष्टि से बातचीत की **बात** का परिणाम छोटा और वर्णन तथा कहानी वाली 'बात' का बड़ा होता है। इस तरह भाषाविज्ञानी की दृष्टि से देखा जाय तो यह '**बात**' या '**वक्तव्य**' ही बहुधा भाषा का अवयव है, व्याकरणकार का वाक्य नहीं। जब हम किसी '**बात**' में मौखिक या मानसिक रूप से व्यस्त होते हैं, तब बीच में अन्य विषय भी आकर बाधा पहुँचा सकते हैं। वाद-विवाद में पड़ी हुई स्त्रियों को रोते हुए बच्चे को बहलाना पड़ता है, लेक्चर देते हुए अध्यापक को क्लासरूम में आ गए चपरासी को विदा करना होता है और व्याख्यान में मस्त वक्ता को बीच में प्यास लगने पर पानी माँगना ही पड़ता है। बीच में आए हुए इन वाक्यों का स्वतन्त्र अस्तित्व अवश्य होता है।

प्रश्न उठता है कि क्या यह **बात** स्वयं सम्पूर्ण होती है? उत्तर में हमें मानना पड़ेगा कि यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो वह सम्पूर्ण नहीं कही जा सकती। उसका, वाच्य पुरुष की पूर्वापर बातों से तथा वक्ता की भी पूर्वापर बातों से संबंध रहता है। इन सब का समष्टि रूप से विचार करने पर ही अर्थ स्पष्ट होता है। इसी तरह लेख के एक पैरा का अन्य पूर्ववर्ती और परवर्ती पैराओं से और अध्याय का अन्य अध्यायों से संबंध रहता है। प्रायः किसी पुस्तक को पढ़कर हमारे मस्तिष्क में उसका भाव समष्टिरूप से दो एक वाक्यों में रहता है। 'भाषाविज्ञान' की पुस्तक पढ़ जाने पर हमारे दिमाग़ में केवल यह भावना रह जाती है कि विषय का प्रतिपादन स्पष्ट हुआ है या नहीं। उसमें यदि कोई महत्वपूर्ण और अति रोचक विवेचन होगा तो उसकी रेखा स्पष्ट रह जायगी, अन्य सब भूला हुआ अनुद्बोधित अवस्था में पड़ा रहेगा। काम पड़ने पर बहुत संभव है कि कुछ बातों का उद्बोध हो सके,

अन्यथा सम्पूर्ण पुस्तक ही का विषय अति संक्षिप्त अवस्था में उपस्थित रहेगा। इस प्रकार हमारी विचारधारा की बात, एक छोटा अवयव मात्र है, उस बृहत्तर विचारधारा का जो हमारी दिन प्रतिदिन की क्रिया है।

मनोविज्ञानी विद्वान कहते हैं कि जब प्रातःकाल हम जगते हैं उस समय से लेकर नींद प्रारम्भ होने तक हमारे मन की क्रिया एक अविच्छिन्न धारा में बहती चलती है। विविध विचार उस धारा में तरंगों के समान हैं, उसी से उठते हैं उसी में विलीन हो जाते हैं। यदि कोई बात अकस्मात् हो गई जिसने उथल-पुथल मचा दी तो वह उस तरंग की तरह है जो धारा में किसी चीज़ के इधर-उधर से गिर पड़ने के कारण ऊँची उठ जाती है। अपनी नित्यप्रति की क्रियाओं को करते समय हमें तत्कालीन तरंग का ही ध्यान रहता है, अन्य तरंगें भूली रहती हैं। और यदि कोई पूर्वकाल की सुखदायक तरंग है तो उसको हम बार-बार उद्बोधित करके (मानसिक) सुख लूटते रहने का व्यसन डाल लेते हैं और यदि कोई प्रबल तरंग दुखदायक है और बार-बार विचारधारा में जाती है तो उसको बलात् हटा देने की कोशिश करते हैं और निर्बल मनवाले उसको हटाने की मदद के लिए मादक वस्तुओं का सेवन करने लगते हैं। मनोविज्ञानियों का दावा तो यहाँ तक है कि हम जगकर विचारधारा को उसी जगह से पकड़ लेते हैं जहाँ उसे पिछली रात को निद्रा के पूर्व छोड़ा था। इसीलिए आत्मिक उन्नति की ओर अग्रसर करनेवाले साधु महात्मा यह उपदेश देते हैं कि सोने के पूर्व और जगने के तुरन्त बाद परमेश्वर का ध्यान और उसके नाम का जप करना चाहिए और स्वाध्याय में चित्त लगाना चाहिए।

इस तरह यह निश्चय होता है कि हमारी अटूट विचारधारा में हमारी बात या वक्तव्य एक तरंग मात्र है, केवल एक अवयव। लिखित भाषा में इस अवयव का विश्लेषण बड़ी आसानी से किया जा सकता है। बातचीतवाली बात में भी आसानी से, पर लेख की अपेक्षा कम। परन्तु मौन विचार की बात का विश्लेषण ज़रा कठिन काम है। तब भी

अभ्यास करने से यह काम थोड़ी-बहुत सफलता से हो सकता है। सफल व्याख्याता इस अभ्यास का आदी हो जाता है।

व्याकरणकार '**वाक्य**' को सम्पूर्ण अवयव मानते हैं, पर ऊपर के विवेचन से हमको यह स्पष्ट मालूम पड़ गया कि वाक्य तो मनुष्य की बात या वक्तव्य का अंशमात्र है। और जब तात्विक दृष्टि से बात ही सम्पूर्ण नहीं, वह विचारधारा की तरंग मात्र है, तब वाक्य क्या सम्पूर्ण होगा? और व्याकरणकार वाक्य का विचार अलग-अलग स्थिति रखने वाले पदों की समष्टि या संग्रह के रूप में करता है। वह वाक्य को सेना के स्क्वाड के रूप में सोचता है जिसमें प्रत्येक सिपाही को लाकर अपनी-अपनी जगह खड़ा कर दिया जाता है। पर वास्तविक बात है इसकी उलटी। हम स्क्वाड की स्थिति को तात्विक पाते हैं और इन सिपाहियों को अपेक्षाकृत काल्पनिक। और कम्पनी की स्थिति स्क्वाड की अपेक्षा अधिक वास्तविक है। इस रूपक को ऊपर बाँधते-बाँधते हम उस सम्पूर्ण सेना तक पहुँचते हैं जो हमारी विचारधारा का प्रतिरूप है।

हमारी यह विचारधारा कोई स्वतंत्र सत्ता की चीज़ नहीं। इस पर हमारे सम्पर्क में आए हुए अन्य प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मनुष्यों की विचारधाराओं का असर पड़ता है, और हमारी विचारधारा का अन्य प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मनुष्यों की विचारधाराओं पर। इस प्रकार हमारी विचारधारा स्वयं एक बृहत्तर विचारधारा का अवयव-मात्र है। विचार की शक्ति तौलने वाले विद्वान और ऋषि तो विचारधारा के प्रभाव को बहुत दूर तक पहुँचाते हैं। योगदर्शन के अनुसार अहिंसा की प्रतिष्ठा में वैरनिरोध अवश्य होता है। बुद्ध भगवान की मेत्ती (मैत्री) का प्रभाव अंगुलिमाल आदि डाकुओं पर ही सीमित नहीं था नालागिरि ऐसे प्रचंड हाथी पर भी हुआ था। ब्रह्मर्षियों के आश्रम में सिंहों के अहिंस्र हो जाने के बहुत से उदाहरण आर्य साहित्य में मिलते हैं, जिनको काल्पनिक कथानक कह कर सर्वथा नहीं टाला जा सकता। सच्चे धार्मिक मनुष्य को विचारधारा के अप्रत्यक्ष प्रभाव में भी विश्वास होता है,

अन्यथा दूसरों के लिए की गई प्रार्थना, पूजा और जप का कोई मूल्य नहीं। और जब थोड़े-से ही अभ्यास से मेस्मरिज्म जाननेवाला आदमी दूसरों के विचारों तक पहुँच सकता है, तब विचार की अपरंपार शक्ति की सहसा अवहेलना नहीं की जा सकती। इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि विचार की केवल एक धारा है जिसके अवयव रूप ही व्यक्तियों की विचारधाराएँ हैं। जिस प्रकार भूत-विज्ञान की आधुनिक दृष्टि सम्बन्धित्ववाद के पक्ष में है और प्रत्येक भूत का अन्यों पर वास्तविक प्रभाव बतलाती है उसी प्रकार विचार के बारे में भी ज्ञान रखना चाहिए।

इस तरह व्यापक दृष्टि से देखने से पता चलता है कि जब हम वाक्य को सम्पूर्ण कहते हैं तब मनोविज्ञान की दृष्टि से, सम्पूर्णता की विडम्बना ही करते हैं। हमारा यह कहना उसी प्रकार का है जिस प्रकार रसिक सहृदय प्रियतमा की आँख की रमणीयता में मस्त होकर उस प्रेम की सत्ता के बाक़ी के अंग भूल बैठता है; या मेडिकल कालेज के चीर-फाड़ के हाल में पड़ी हुई लाश में से एक अंग को लेकर विद्यार्थी उसी के विश्लेषण की धुन में मस्त हो जाता है। हमारी भाषा हमारी विचार-धारा का प्रतिरूप है और वाक्य उसका बहुत छोटा अंश है, बहुत जरा सा, जैसे धारा में एक बूँद।

व्याकरणकार या भाषाविज्ञानी जब इस वाक्य को लेकर अध्ययन के लिए उसका विश्लेषण करने बैठता है तब वह सम्पूर्ण स्थिति के एक अवयव का ही अध्ययन करने बैठता है। और उस अध्ययन के द्वारा, यदि उसकी दृष्टि में व्यापकता और अनुपात का प्रमेय परिज्ञान है तो, उसे अवश्य भाषा के तत्वों का ज्ञान हो जायगा; उसी प्रकार जैसे बूँद की वास्तविकता के जान लेने से जल का, पीपल की गदिया में से निकाले हुए एक बीज के ज्ञान से वृक्ष का अथवा नमकीन पानी की एक बूँद के चखने से नमक का।

वाक्य हमारी बात या वक्तव्य का अवयव है। एक वाक्य को हमेशा अन्य वाक्यों की परिस्थिति में देखना चाहिए। बोल-चाल में बहुधा सभी भाषाओं में छोटे-छोटे वाक्य होते हैं। लिखित भाषा में अपेक्षाकृत

बड़े-बड़े वाक्य होते हैं। बोल-चाल में कभी-कभी वाक्य एक ही शब्द का होता है, जैसे बातचीत में लगे हुए छात्रों से मास्टर कह पड़ता है 'पढ़ो'। पर व्याकरणकार की दृष्टि से यह वाक्य एक शब्द का नहीं है। प्रकरण के अनुकूल इसमें बहुत सी बातें ऐसी अन्तर्हित हैं जो शब्दों में प्रकट नहीं हुई तब भी बोलनेवाला और वाच्यपुरुष सभी समझ गए। इसी प्रकार रसोई में खाते हुए बालक ने यदि केवल *नमक* कहा तो माँ ने यही नहीं किया कि उसको नमक दे दिया बल्कि उसे यह भी ज्ञान हो गया कि किसी चीज़ में या तो उसने नमक डाला नहीं या कम डाल गई। यह सारा प्रकरण शब्दों से ही प्रकट हो यह ज़रूरी नहीं; इंगित और आकार द्वारा अधिकांश ज़ाहिर हो जाता है। अशिक्षित मनुष्य की वर्णनशैली और शिक्षित की वर्णनशैली में भी विशेष अन्तर होता है। शिक्षित आदमी लिखित भाषा से प्रभावित होकर बड़े-बड़े वाक्य बोलता है, अशिक्षित छोटे-छोटे और स्वाभाविक। उदाहरणार्थ अवधी की गुलगुलावाली कथा का यह अंश लें—

एक राजा रहइँ अउ महतारी रहइ। अउ दुलहिन रहइ। महतारी रोजु छप्पन परकाल के भोजन बनावइ अउ अपना खाइ अउ अपने लड़िकन क खवावइ। दुलहिन खातिर एक बेझरि कि रोटी सेंकइ। आधी रोटी अउ लोनु सबेरे देइ अउ आधी साँझ क।

इसी का लिखित भाषा में रूपान्तर कुछ-कुछ इस ढंग का होगा—

एक राजा अपनी माँ और स्त्री के साथ कहीं रहता था। उसकी माँ रोज़ छप्पन प्रकार का भोजन बनाती, स्वयं खाती और अपने लड़के को खिलाती मगर दुलहिन की ख़ातिर बेझरे की एक रोटी सेंकती। उसमें से आधी रोटी नमक के साथ सबेरे देती बाक़ी आधी सन्ध्या को।

इन दो अंशों का परस्पर अन्तर स्पष्ट है। लिखित भाषा का पहला वाक्य ग्यारह शब्दों का है, बोलचाल की भाषा में इसकी जगह तीन छोटे-छोटे वाक्य हैं, दो-दो तीन-तीन पदों के, व्याकरणकार के शब्दों में केवल कर्ता और क्रिया के। ये वाक्य आपस में समुच्चय-बोधक अउ से जुड़े हैं। लिखित भाषा में समच्चय-बोधक पदों का इतना व्यवहार नहीं है।

लिखित भाषा में एक वाक्य का दूसरे वाक्य से सम्बन्ध भी बार-बार सर्व-नामपद (*उसकी, उसमें*) ला लाकर जतलाया जाता है, बोलचाल में इसकी ज़रूरत नहीं पड़ती। बड़े-बड़े वाक्य भाषा के लिए स्वाभाविक नहीं हैं।

वाक्य में सामान्य रूप से दो अंश माने जाते हैं, उद्देश्य और विधेय। हर वाक्य में पूर्ववर्ती वाक्य का कुछ न कुछ अंश दुहराया जाता है और कुछ नया होता है। यही नया अंश अगले वाक्य का दुहराया हुआ अंश हो जाता है और अन्य नया अंश उसके साथ आ जाता है। इस प्रकार वाक्य-परम्परा चलती रहती है। इस कथन का उदाहरण व्याकरण से नितांत अनभिज्ञ लोगों से बात करने से मिल जायगा। उदाहरणार्थ यह अवतरण देखें।

भाई, एक थे राजा। वह राजा रोज सवेरे उठें। उठें तो रोज देखें एक सोने का महल। महल देखकर खुशी से फूल उठें। खुश होकर बुलवावें गरीब अनाथों, विधवाओं और ब्राह्मणों को। बुलवाकर महल के टुकड़े कर करके बाँट दें उनको।

आज हम लिखित भाषा से इतने परिचित हो गए हैं कि स्वाभाविक भाषा को भूल-सा बैठे हैं तब ऊपर दिया हुआ उदाहरण या इसी प्रकार के अन्य अवतरण अटपटे और कृत्रिम से लगेंगे। पर यदि कभी शाम को आपस में किस्से-कहानी कहते हुए अपने ही नौकर-चाकरों की बातें सुनें तो मालूम होगा कि उनकी शैली से हम कितनी दूर जा पड़े हैं। पढ़े-लिखे आदमी का दिमाग़ इतना शिक्षित हो गया है कि उसे बार-बार दुहराए हुए अंशों की ज़रूरत नहीं। ज़रूरत तो दूर, उस पर वे अंश भारी गुज़रते हैं। पर अशिक्षित मनुष्य के लिए इसकी बराबर ज़रूरत रहती है। इसीलिए गाँव में जाकर शहर का जेंटिलमैन चुनाव की स्पीच जब अपनी स्टैंडर्ड शैली में देकर समझने लगता है कि मैंने बाज़ी मार ली तो वह भूल करता है। उसकी बातें सुनकर अधिकांश जनता भौंचक्की-सी बैठी रह जाती है और बाद को गाँव के नेता जब स्पीच का भावार्थ शाम को अलाव पर बैठकर गाँव की भाषा में समझाते हैं तब उस भोली-भाली जनता की समझ में कुछ आता है।

उद्देश्य अधिकतर संज्ञा (कर्ता) के रूप में माना जाता है और विधेय क्रिया के रूप में। यह विभाग हमारी आधुनिक आर्य-भाषाओं के अनुकूल है। पर यह अन्य परिवारों की भाषाओं पर सर्वथा लागू नहीं है। विशेषकर ऐसी भाषाओं में जहाँ संज्ञा, क्रिया आदि पद-विभाग ही नहीं, वहाँ उद्देश्य विधेय के लक्षण ढूँढ़ना असंगत होगा। वहाँ उद्देश्य विधेय केवल दुहराए हुए अंशों और नए आए हुए अंशों के रूप में अवश्य उपस्थित रहते हैं।

वाक्य का एक लक्षण यह भी बताया जाता है कि बहुधा वाक्य को हम एक साँस में बोल जाते हैं। यह लक्षण भी केवल बोलचाल के छोटे छोटे वाक्यों पर ही घटित हो सकता है, साहित्यिक भाषा के वाक्यों पर नहीं। सामान्य रूप से तीन सेकण्ड तक आदमी बिना गहरी साँस लिए बोल सकता है। पर यह कौशल हम प्लैटफ़ार्म पर बोलते समय ही दिखाते हैं। अन्यथा यदि वाक्य बड़ा हुआ तो चार-पाँच शब्दों के बाद साँस ले लेते हैं। इस प्रकार साँस वाला लक्षण केवल बोलचाल के वाक्यों पर ही लगता है। बोलते समय हमारे मस्तिष्क को भी सावधान रहना पड़ता है। कभी-कभी हम सभी ने अनुभव किया होगा कि हम कई वाक्य पढ़ जाते हैं पर अर्थ का कुछ बोध नहीं होता। ऐसी दशा में अवश्य ही हमारा अवधान पढ़ी हुई चीज़ पर न था, था कहीं और। यह अवधान भी अभ्यास की चीज़ है। साधारण मनुष्य को, विशेषकर मेहनत-मज़दूरी करके जीविका-उपार्जन करने वाले को, इसका अभ्यास नहीं। इस कारण से भी बड़े बड़े वाक्य उसकी समझ में नहीं आते।

वाक्य में पदक्रम अलग-अलग भाषाओं का अलग-अलग होता है। उदाहरणार्थ अँगरेज़ी में कर्म का क्रिया के बाद स्थान है, हिन्दी में क्रिया के पूर्व। दोनों भाषाओं में कर्त्ता का स्थान सर्वप्रथम समझा जाता है पर यदि हम बोलचाल की अँगरेज़ी या हिन्दी का परीक्षण करें तो हमें इस नियम के बहुतेरे अपवाद मिलेंगे। इसी प्रकार समस्त पदों के अंशभूत पदों का क्रम भी हर भाषा की परम्परा के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है।

जितनी ही भाषा अयोगावस्था की होगी उतना ही उसमें पदक्रम का महत्व होगा।

हमारे देश में प्राचीन तत्वविदों ने जाति, गुण, क्रिया द्रव्य में शब्दों का विभाग किया था; और व्याकरणकारों ने संज्ञा, सर्वनाम; कृदन्त, तद्धित और अव्यय में। इसी प्रकार ग्रीस के प्राचीन तत्ववेत्ता अरस्तू ने भाषा के चार विभाग माने थे—संज्ञा, विशेषण, क्रिया और अव्यय। बाद को अवान्तर भेद होते-होते ये चार, दस भागों में परिणत हो गए। इनका विचार ऊपर पदव्याख्या का विवेचन करते समय किया गया है और यह बतलाया गया है कि यह वर्गीकरण किसी भी अर्थ में भाषा के लिए मौलिक नहीं कहा जा सकता। सारांश यह कि हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि वाक्य का कोई ऐसा विश्लेषण नहीं किया जा सकता, जो संसार की सभी भाषाओं पर सर्वथा लागू हो सके। वह हमारी 'बात' का अंश है, और हमारी 'बात' हमारी भाषा का अवयव। हमारी भाषा हमारी विचारधारा की प्रतिनिधि है ही।

वाक्य के विभिन्न पदों का समुचित **अन्वय** होना चाहिए। अन्वय का अर्थ है संगति तथा संबंध। योगात्मक भाषाओं में इसका अधिक महत्व है। उदाहरणार्थ, संस्कृत में विशेषण और विशेष्य के लिंग, वचन और विभक्ति, तीनों में अन्वय होना चाहिए तथा कर्मवाच्य की क्रिया का कर्म से और कर्तृवाच्य वाली का कर्ता से। अयोगात्मक भाषाओं में इस प्रकार का बहुत सा काम पद-क्रम से निकाल लिया जाता है। योगात्मक भाषाओं में पद-क्रम का इतना महत्व नहीं यह बात ऊपर कही जा चुकी है।

वाक्य के पदों में परस्पर तीन गुण रहते हैं **आकांक्षा, आसक्ति** और **योग्यता**। इनके बिना वाक्य या तो अपूर्ण रहेगा या अनर्गल प्रलाप। यदि हम केवल *अध्यापक* कह कर चुप हो जायँ और इस पद का सम्बन्ध, प्रकरण न बतावें तो हमें आकांक्षा रहेगी कि *अध्यापक* का क्या हुआ या उसने क्या किया। इस आकांक्षा की पूर्ति अन्य पदों को करनी ही चाहिए। इसी तरह यदि हम सबेरे *खाना* कहें और कुछ देर बाद *नहीं*

मिला कहें तो प्रकरण से निर्देश न होने पर चतुर सेवक भी हमारी बात का कोई अर्थ न निकाल सकेगा। पदों में परस्पर आसक्ति चाहिए। और यदि हम बोलें *'आग से सींचो'* तो *आग* में *सींचने* की योग्यता न होने के कारण लोग हमारे वाक्य को पागल का प्रलाप ही समझेंगे। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि ये तीन गुण वाक्य के लिए आवश्यक हैं।

सत्ताईसवाँ अध्याय

भाषा विज्ञान का इतिहास

भाषा के अध्ययन से हम इस नतीजे पर पहुँचे कि एक ओर प्रत्येक मनुष्य की भाषा, विज्ञान की दृष्टि से, दूसरे मनुष्य की भाषा से भिन्न है, साथ ही दूसरी ओर हम पिछले अध्याय में इस तत्त्व को भी देख चुके हैं कि भाषा विचारधारा की बाह्य प्रतिनिधि है और यह विचारधारा अखंडस्वरूप है। इस प्रकार भाषा भी विश्व के मौलिक एकत्व और अनेकरूपत्व का उदाहरण है।

भाषाविज्ञान का अभिप्राय भाषा का विश्लेषण करके उसका दिग्दर्शन कराना है। मनुष्य भाषा का दर्शन प्राप्त करने की कोशिश जब से उसने होश सँभाला तभी से कर रहा है। इस कोशिश का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। भाषा के विषय में सर्वप्रथम विवेचन हमारे देश में हमारे स्वर्णयुग में हुआ, और इधर दो-ढाई सौ बरस में विशेष रूप से यूरोप में किया गया है।

प्राचीन भारतीय अनुसन्धान

किसी भी जनसमुदाय में अपनी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का सवाल भाषाभेद के कारण उठता है, यह भाषा-भेद आन्तरिक होता है या बाहरी, पहला बोली-विभेद के कारण, दूसरा विदेशी भाषाओं के सम्पर्क से। भारत में वैदिक मंत्रों को अद्वितीय महत्व प्राप्त हुआ, वे दिव्यशक्ति के उपहार माने गए। उनको जैसे का तैसे याद रखना मानव-धर्म का परम कर्तव्य समझा गया। भारतीय धारणा-शक्ति सदा प्रसिद्ध रही है। वैदिक द्विजों ने संहिताओं को कंठस्थ करके स्थिर रक्खा। भाषा सर्वांग में विकसित होती रहती है इसलिए

कालभेद और देशभेद के कारण कंठस्थ मंत्रों के उच्चारण में भेद पड़ जाना अवश्यम्भावी था। ऐसी परिस्थिति में मूल की रक्षा करने के उपाय सोचे गए।

उन उपायों में संहिताओं का **पदपाठ** सर्वप्रथम सफल प्रयास साबित हुआ। पदपाठ के द्वारा मंत्रों का विभाग पदों में करना संभव हो पाया। पदपाठ की युक्ति शाकल्य ऋषि की रची समझी जाती है।

ब्राह्मणकाल में संहिताओं का स्वाध्याय विभिन्न ऋषियों की परिषदों, चरणों और शाखाओं में होता था। कितने ही लगन के द्विजों ने संसारी सुख का मोह छोड़कर अपनी सारी शक्ति इस वैदिक वाङमय के स्वाध्याय में लगा दी। वेद (ब्रह्म) के स्वाध्याय के लिए नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया गया। इसके फलस्वरूप वैदिक भाषा की यथातथा रक्षा हो सकी। पदपाठ के लिए यह आवश्यक था कि **संहिता** (**संधि**), **समास** और **उदात्त**, आदि **स्वरों** का व्यवहार ठीक से समझ लिया जाय। ब्राह्मण-ग्रंथों में जहाँ-तहाँ शिक्षा (ध्वनि) और व्याकरण के सम्बन्ध के तत्व उदाहरणस्वरूप मिलते हैं। इनसे पता चलता है कि ई० पू० आठवीं-नवीं सदी में ही भारतीयों ने भाषा के शास्त्रीय अध्ययन में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर ली थी। विद्वानों का मत है कि इसी काल में विविध शिक्षा-ग्रन्थ बने। इनमें **वर्ण**, **स्वर**, **मात्रा**, **उच्चारण** और **संहिता** के नियमों का विवरण रहा होगा। कुछ समय बाद ही मूल प्रातिशाख्य बने। वर्तमान प्रातिशाख्य इन्हीं मूल प्रातिशाख्यों पर आश्रित हैं यद्यपि हैं पाणिनि के समय के। इधर के मूल प्रातिशाख्यों में पदों का (१) **नाम**, (२) **आख्यात**, (३) **उपसर्ग**, (४) **निपात**, यह चतुर्विभाग, कुछ संज्ञाओं के लक्षण तथा पद का थोड़ा बहुत विश्लेषण करके किया गया होगा। यह सब काम यास्क मुनि के पहले हो चुका था।

निरुक्त के कर्ता **यास्कमुनि** का काल ई० पू० ८००-७०० माना जाता है। यास्क के सामने वेद के शब्दों की सूची, **निघंटु** नाम की, मौजूद थी। इस सूची में पाँच अध्याय हैं। निरुक्त इसी निघंटु की व्याख्या है। निरुक्तकार ने निघंटु के शब्दों को लेकर वैदिक संहिताओं

के उद्धरण देते हुए शब्दों का अर्थ स्थापित करने का उद्योग किया है। अर्थविज्ञान के विषय के अध्ययन का संसार में यह सर्वप्रथम प्रयास है। यास्कमुनि के समय तक भाषाविज्ञान-सम्बन्धी अन्वेषण इस देश में काफ़ी आगे बढ़ चुका था, इसका इसी बात से यथेष्ट प्रमाण मिलता है कि यास्क ने बहुतेरे (आग्रायण, ऐतिहासिक नैरुक्त, वैयाकरण आदि) पक्षों और गार्ग्य, गालव, शाकटायन, शाकल्य आदि पूर्ववर्ती या समकालीन आचार्यों का उल्लेख किया है और उनके मत को उद्धृत किया है। पदों के चतुर्विभाग के अलावा निरुक्तकार संज्ञा और क्रिया के तथा कृदन्त और तद्धित आदि के प्रत्यय-भेदों से भी कुछ न कुछ परिचित थे। भाषाविज्ञान के लिए निरुक्तकार की यह देन है कि प्रत्येक संज्ञा (नाम) की व्युत्पत्ति किसी न किसी धातु से है। अन्य विद्वानों के मत का खंडन करके उन्होंने अपने मत का सर्वथा पोषण किया है।

यास्क के बाद और पाणिनि के पूर्व बहुत से वैयाकरण रहे होंगे। पाणिनि ने प्रथमा, द्वितीया आदि **विभक्तिनामों** का तथा **बहुव्रीहि, कृत, तद्धित,** आदि संज्ञाओं का प्रयोग बिना इनका अर्थ बताए हुए किया है जिससे स्पष्ट है कि उनके समय तक ये संज्ञाएँ सुपरिचित हो चुकी थीं और बहुतेरे व्याकरणकार पदविज्ञान को आगे बढ़ा चुके थे। इनमें से आपिशलि और काशकृत्स्न दो का उल्लेख मिलता है। पाणिनि के पूर्व के वैयाकरणों में इन्द्र का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। तैत्तिरीय संहिता (७-४-७) के अनुसार यही पहले वैयाकरण सिद्ध होते हैं—

वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।

वैयाकरणों का ऐन्द्रसम्प्रदाय पाणिनि के पूर्व से आरंभ होकर उनके बाद भी चलता रहा। वर्तमान प्रातिशाख्य इसी सम्प्रदाय के हैं। कात्यायन भी इसी के थे। ऐन्द्रसम्प्रदाय की परिभाषाएँ सरल और सुबोध थीं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में पूर्ववर्ती वैयाकरणों के सफल कार्य का सार समन्वित है। इन्होंने स्वयं उदीच्य और प्राच्य संप्रदायों का तथा आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य आदि दस वैयाकरणों का उल्लेख किया है।

पाणिनि मुनि के जीवन के बारे में कुछ पता नहीं। कहा जाता है कि यह (अटक के निकट) शालातुर के निवासी उदीच्य ब्राह्मण थे। इनकी माँ का नाम दाक्षी था। यदि पंचतंत्र की गवाही मानी जाय तो इनका देहान्त एक सिंह के द्वारा हुआ। कथासरित्सागर के अनुसार इनके गुरु उपाध्याय वर्ष और सहपाठी कात्यायन, व्याडि और इन्द्रदत्त थे। इन्होंने घोर तपस्या करके चौदह माहेश्वर सूत्रों की प्राप्ति की। अँगरेज़ विद्वान इनका काल ई० पू० चौथी सदी में और जर्मन तथा भारतीय मनीषी ई० पू० ५०० से पूर्व छठी या सातवीं शताब्दी में मानते हैं।

पाणिनि की रचना अष्टाध्यायी है। हर अध्याय में चार पाद हैं। कुल सूत्रों की संख्या क़रीब चार हज़ार के है। अष्टाध्यायी की विशेषता संक्षेप है। इन चार हज़ार सूत्रों में सारी भाषा को ऐसा जकड़ दिया है कि मीन-मेष करना असंभव है। यह प्रत्याहारों के कारण ही संभव हो सका। इसके अलावा संक्षेप के लिए पाणिनि ने **अनुबन्ध, गण, घ, लुक् श्लु,** आदि संज्ञा, **अनुवृत्ति** तथा प्रचलित **गुण, वृद्धि** आदि परिभाषाओं का भी सहारा लिया। अष्टाध्यायी के अलावा उसके सहायक ग्रन्थों में से **धातुपाठ, गणपाठ,** और **उणादिसूत्र** का अधिकांश भाग पाणिनि का ही रचा माना जाता है।

भाषाविज्ञान के लिए पाणिनि की छाप अमिट है। माहेश्वर सूत्रों में ध्वनियों का, स्थान और प्रयत्न के अनुसार, वर्गीकरण ध्वनिविज्ञान के तत्वज्ञान का उत्तम उदाहरण है। प्रति शब्द किसी न किसी धातु से सम्बद्ध है, इस मत की पुष्कल पुष्टि पाणिनि ने न केवल अष्टाध्यायी के सूत्रों से बल्कि उणादिसूत्रों से की। पर सब से महत्व का काम वैदिक (छन्दस्) और लौकिक संस्कृत का तुलनात्मक विवेचन है। यूरोप में जो काम ईसवी १९वीं सदी में किया गया वही इस देश में ईसा पूर्व छठी सातवीं सदी में पाणिनि मुनि कर चुके थे। इस प्रकार पाणिनि ने ध्वनिविज्ञान, अर्थ-विज्ञान और तुलनात्मक व्याकरण के अध्ययन को बहुत आगे बढ़ाया।

वैदिकी प्रक्रिया के अध्ययन से यह बात स्पष्ट मालूम होती है कि पाणिनि के समय तक छन्दस् और भाषा दोनों के बीच काफ़ी अन्तर पड़ गया था। छन्दस् में वैकल्पिक रूपों की बहुतायत थी और इसको प्रकट करने के लिए पाणिनि ने **बहुलं छन्दसि** का बहुत जगह निर्देश किया है। छन्दस् की भाषा बराबर चली आ रही थी। वह अपौरुषेय समझी जाती थी। उसको छेड़ना असंभव था और कोई छेड़ भी सकता तो पाप का भागी होता। पाणिनि मुनि ने भाषा को ही पकड़ा और उसको ऐसा स्टैंडर्ड रूप दिया जो आज ढाई हज़ार वर्ष बाद भी स्टैंडर्ड माना जाता है। इतना सफल व्याकरणकार संसार में कहीं नहीं हुआ।

पाणिनि के उपरांत बहुत से वैयाकरण हुए। उन सबमें वार्तिककार **कात्यायन** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कथासरित्सागर इन्हें पाणिनि का समकालीन बताता है पर यह असंभव है। इनका समय ई० पू० ५००–३५० के बीच में पड़ता है। पतंजलि इन्हें दाक्षिणात्य बताते हैं। और संभव है कि यह व्याकरणकारों की किसी भिन्न शाखा के रहे हों। इन्होंने पाणिनि के ढंग से ही सूत्रों में पाणिनि के मत की आलोचना की है। इनके सूत्रों को **वार्तिक** कहते हैं। इनमें कात्यायन ने पाणिनि के १५०० सूत्र एक-एक कर उठाए हैं और उनमें दोष दिखाकर शुद्ध नियम निर्धारित किए हैं। विद्वानों का विश्वास है कि इस शुद्धीकरण द्वारा वार्तिककार ने विशेष रूप से पाणिनि मुनि के समय से उनके समय तक (अर्थात् डेढ़ दो सौ वर्ष में) भाषा में जो परिवर्तन हो गए थे उन्हीं का समावेश किया है। इसलिए आलोचनात्मक होते हुए भी, वार्तिककार की कृति ने अष्टाध्यायी के अध्ययन के लिए सहायक ग्रन्थ का काम किया।

वाजसनेयी प्रातिशाख्य भी कात्यायन की बनाई समझी जाती है। इसमें छन्दस् (वैदिक) भाषा के नियम दिये हैं जो पाणिनि के सूत्रों के अधिकांश अनुकूल हैं और जहाँ भेद है वहाँ अधिक उपयुक्त।

कात्यायन ने पाणिनि के ही पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है पर जहाँ-तहाँ **स्वर** (अच्), **व्यंजन** (हल्), **समानाक्षर** (अक्),

भवन्ती (लट्) आदि नए शब्द भी दिए हैं। इनके बाद और पतंजलि मुनि के पूर्व अन्य वार्तिककार भी हुए हैं। संभव है कि कोई कात्यायन के पूर्व भी हुए हों।

पतंजलि ने अपने ग्रन्थ महाभाष्य में पुष्यमित्र, साकेत के अवरोध आदि समकालीन व्यक्तियों और घटनाओं का उल्लेख किया है जिससे उनके काल (ई० पू० दूसरी सदी) के निर्धारण में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। इनका उद्देश्य कात्यायन आदि पूर्ववर्ती वैयाकरणों द्वारा की गई पाणिनि के ग्रंथ की आलोचना का बलपूर्वक खंडन करना है। विशेष रूप से इन्होंने कात्यायन के नियमों में दोष दिखाए हैं और पाणिनि के मत का मंडन किया है। इन्होंने जो नियम दिए हैं उन्हें **इष्टि** का नाम दिया है। महाभाष्य का महत्व संस्कृत भाषा के नियम-निर्धारण में उतना नहीं है जितना भाषा के दार्शनिक विवेचन में। ध्वनि क्या है, वाक्य के कौन-कौन से भाग होते हैं, ध्वनि-समूह (शब्द) और अर्थ में क्या संबंध है इत्यादि महत्वपूर्ण विषयों पर पतंजलि ने बहुत सुन्दर विवेचन किया है। इनकी शैली बड़ी ललित और हेतुपूर्ण है और सारे संस्कृत वाङ्मय में शंकराचार्य-कृत शारीरक-भाष्य को छोड़कर अपना सानी नहीं रखती।

पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि ये तीन ऋषि संस्कृत व्याकरण के मुनित्रय कहे जाते हैं। इनके बाद टीकाकारों का समय आता है। टीकाओं में **वामन व जयादित्य** की बनाई **काशिका** सबसे प्रसिद्ध है। यह प्रायः ई० ७वीं सदी की समझी जाती है। काशिका पर की गई टीकाओं में **जिनेन्द्रबुद्धि** का **न्यास** और **हरदत्त** की **पदमंजरी** भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। परन्तु भाषा के दार्शनिक विवेचन और मूलतत्वों के स्थापन के लिए भर्तृहरि का **वाक्यपदीय** सबसे अधिक महत्व का है। इसमें तीन कांड हैं, ब्रह्म (आगमकांड), वाक्यकांड और पद (प्रकीर्णकांड)। **कैय्यट** ने इस तात्विक विवेचन को अपने ग्रन्थ *महाभाष्यप्रदीप* में और आगे बढ़ाया। इस प्रकार के वैयाकरणों में प्रदीप के टीकाकार नागोजि (नागेश) भट्ट का भी उल्लेख कर देना उचित है। विवाहित होने पर

भी यह अखंड ब्रह्मचारी रहे और अपने ग्रन्थों को ही अपनी सन्तान समझते रहे। इन्होंने अन्य शास्त्रों के अलावा व्याकरण के विषय पर ही कई ग्रन्थ लिखे। इनमें से **प्रदीपोद्योत**, **वैयाकरणसिद्धांत** *मंजूषा* और *परिभाषेन्दुशेखर* महत्त्वपूर्ण बताए जाते हैं। वै० सि० मंजूषा भाषा के तात्त्विक विवेचन के लिए अद्वितीय ग्रन्थ है।

टीका-सम्प्रदाय के बाद अष्टाध्यायी के सूत्रों पर ही आश्रित किन्तु उसके क्रम को हटाकर विषयानुकूल क्रम रखनेवाले कौमुदीकारों का समय आता है। इस समय तक व्याकरण का वाङ्मय इतना ज्यादा बढ़ चुका था कि उसको पुराने क्रम से हृदयंगम करना असंभव-सा हो गया था। इसीलिए नवीन क्रम निर्धारित किया गया। इस तरह के ग्रंथों में **विमल सरस्वती** कृत *रूपमाला* सबसे पहला ग्रन्थ समझा जाता है। इनका समय १५०० ई० के पूर्व का माना जाता है। इन्होंने प्रत्याहार, संज्ञा, परिभाषा, सन्धि, सुबन्त, निपात, स्त्री-प्रत्यय, कारक, आख्यात, कृत् और तद्धित इस प्रकार विषयानुकूल क्रम रक्खा। पर इस प्रकार के ग्रन्थों में सर्वप्रचलित और सर्वमान्य **भट्टोजिदीक्षित** कृत *सिद्धान्तकौमुदी* है। इनका समय १६५० ई० के आस-पास समझा जाता है। सिद्धान्त-कौमुदी द्वारा ही संस्कृत के व्याकरण की परिपाटी इतनी लोकप्रिय हुई कि अष्टाध्यायी-काशिका की परिपाटी बिलकुल ख़तम हो गई।

व्याकरणकारों की पाणिनि-शाखा के अलावा चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, कातन्त्र, सारस्वत आदि कई अन्य शाखाएं प्रचलित हुईं। इनमें से एकाध का क्रम पाणिनि के क्रम की अपेक्षा सरल और सुबोध है। पर इनमें से कोई भी पाणिनीय शाखा के आगे चल नहीं पाई। अन्य शाखाओं के वैयाकरणों में *शब्दानुशासन* के लेखक **हेमचन्द्र** और *मुग्धबोध* के कर्ता **बोपदेव** के नाम उल्लेखनीय हैं।

ऊपर, तुलनात्मक व्याकरण के आदिगुरु पाणिनि थे, यह कहा जा चुका है। पतंजलि के समय तक वैदिक भाषा के अध्ययन को थोड़ा बहुत महत्त्व मिलता रहा। उसके बाद प्रायः व्याकरणकारों ने अपना सारा ध्यान लौकिक भाषा पर ही लगाया और तुलनात्मक अध्ययन

स्थगित रहा। यह अध्ययन प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने फिर से उठाया। इन्होंने संस्कृत को *प्रकृति* (आधार) मानकर विविध प्राकृतों का विवरण दिया है। इनमें सर्वप्रथम, *प्राकृत प्रकाश* के कर्त्ता वररुचि हैं। इनको वररुचिकात्यायन भी कहते हैं। कात्यायन वार्तिककार से निश्चय ही यह भिन्न हैं। प्राकृतप्रकाश में बारह परिच्छेद हैं। पहले नौ में संस्कृत को आधार मानकर महाराष्ट्री का विवरण है, दसवें में शौरसेनी के आधार पर पैशाची का, ग्यारहवें में शौरसेनी के ही आधार पर मागधी का और बारहवें में संस्कृत को आधार बताकर शौरसेनी का विवरण दे दिया गया है। शौरसेनी के भेदक लक्षणों को देकर अन्त में ग्रन्थकार ने कह दिया है कि बाक़ी महाराष्ट्री के समान समझना चाहिए।

प्राकृतप्रकाश की ही शैली पर अन्य प्राकृत व्याकरण बाद को बने। प्रायः सभी में प्रचलित प्राकृतों का तुलनात्मक विवरण दिया हुआ है। इनमें से **हेमचन्द्र** और **मार्कण्डेय** के ग्रन्थ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ऊपर कह चुके हैं कि हेमचन्द्र ने *शब्दानुशासन* नाम का संस्कृत का व्याकरण रचा। इसी को *सिद्धहेमचन्द्र* भी कहते हैं। इसके आठवें अध्याय में प्राकृतव्याकरण है। इन्होंने महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका-पैशाची और अपभ्रंश का बड़ा सुन्दर और विस्तृत वर्णन किया है। मार्कण्डेय ने अपने ग्रन्थ *प्राकृतसर्वस्व* में तीन वर्ग स्थापित किए, (१) भाषा, (२) विभाषा और (३) अपभ्रंश। पहले के अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी, दूसरे में शाकारी, चांडाली, शाबरी, आभीरिका और टाक्की (ढक्की) तथा तीसरे में नागर, ब्राचड और उपनागर हैं। इनके अलावा पैशाची का वर्ग अलग माना है और उसके तीन भेद (केकय पैशाचिकी, शौरसेनपैशाचिकी तथा पांचालपैशाचिकी) बताए हैं।

इनके अतिरिक्त पालिभाषा में **कच्चायन** (कात्यायन) और **मोग-ल्लान** (मौद्गलायन) के बनाए हुए व्याकरण प्राचीन और प्रचलित हैं।

वैयाकरणों के अलावा साहित्य-शास्त्रियों तथा नैयायिकों ने भी अपने-अपने शास्त्रों का अध्ययन करते हुए शब्दशक्ति का विशेष विवेचन

किया है। शब्द की अभिधा, लक्षणा, व्यंजना (ध्वनि) तीन शक्तियों के विषय, प्रयोजन आदि का, तथा तात्पर्य, पदार्थ, वाक्यार्थ, अर्थस्फोट आदि का भी सुन्दर विवेचन *ध्वन्यालोक*, *काव्यप्रकाश*, *रसगंगाधर* आदि ग्रंथों में मिलता है। आधुनिक ग्रंथों में **जगदीश तर्कालंकार** का बनाया हुआ *शब्दशक्तिप्रकाशिका* नाम का ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार भारतवर्ष में भाषाविज्ञान के प्रायः प्रत्येक अंग का विवेचन शास्त्रीय शैली से बड़ी लगन से किया गया था। आधुनिक भाषाविज्ञान के पंडितों को यह सामग्री सुलभ नहीं है। वे इससे प्रायः अनभिज्ञ ही हैं। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने ध्वनिविज्ञान के विषय की पुरानी सामग्री का अन्वेषण और अध्ययन करके भारतीय विवेचन को विद्वद्वर्ग के सम्मुख रक्खा है। शेष सामग्री में से महाभाष्य आदि ग्रंथों पर एकांगी विचार यूरोपीय संस्कृत-पंडितों ने किया है। पर भाषाविज्ञान के धुरंधर प्रायः इस सामग्री से अनभिज्ञ ही हैं।

एशिया के अन्य देशों में भी भाषाविज्ञान का थोड़ा बहुत विवेचन हुआ है।

अरब देश में भाषा के अध्ययन की ओर ध्यान मुहम्मद साहब के आविर्भाव के बाद गया। इन लोगों ने कुरान शरीफ़ की भाषा का व्याकरण बनाया और इसी के आदर्श पर मुस्लिम देशों के यहूदियों ने इब्रानी (हिब्रू) का व्याकरण तैयार किया। धातु शब्द का द्योतक यूरोपीय **रूट्** शब्द हिब्रू व्याकरण से लिया गया है।

चीन-देश-वासियों ने भी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था और शब्दकोष बनाए थे।

यूरोपीय खोज

यूरोप में भाषा-संबंधी विवेचन भारत की अपेक्षा बहुत देर में शुरू हुआ। यूरोपीय सभ्यता का मूलस्रोत ग्रीस देश रहा है। इस देश के रहने वाले अन्य देशवालों को बर्बर समझते थे और उनकी भाषा आदि संस्कृति के सभी अंगों की अवहेलना करते थे। अपनी भाषा की विवेचना करना

उनके लिए बेकार था क्योंकि वह प्रत्येक ग्रीक को जन्म से ही प्राप्त थी। भारत की तरह वहाँ कोई अपौरुषेय ग्रन्थ नहीं थे जिनका संरक्षण आवश्यक होता। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि भाषा-तत्त्वों का अन्वेषण वहाँ देर से आरंभ हुआ।

ग्रीस के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता **सुकरात** (४६९–३९९ ई० पू०) को यह भान हुआ कि ध्वनि और विचार में समवाय सम्बन्ध नहीं है, उनका विचार था कि ऐसी भाषा की सृष्टि हो सकती है जिसमें ऐसा सम्बन्ध रहे। **प्लैटो** (४२९–३४७ ई० पू०) ने विचार और भाषा की एकता का अनुभव किया और विचार को भाषा का अन्तरंगरूप निर्धारित किया। उन्होंने ग्रीक भाषा की ध्वनियों का वर्गीकरण **सघोष** और **अघोष** में किया। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत स्वर रक्खे और दूसरे में शेष ध्वनियाँ। दूसरे वर्ग के फिर दो भाग किए, पहले में अन्तःस्थ वर्ण और दूसरे में व्यंजन। **अरस्तू** (३८५–३२२ ई० पू०) ने भाषा का विश्लेषण करके पदों में विभाजन किया। उत्तरकालीन ग्रीक व्याकरण-कारों ने व्यंजनों का विभाग तनु, मध्य और महाप्राण में किया है। यही अभी तक यूरोपीय विद्वान् इस्तेमाल करते हैं। अरस्तू द्वारा किए गए पद-विभाग को बादवाले ग्रीक विद्वानों ने जारी रक्खा। इस दिशा में **स्टोइक वर्ग** के दार्शनिकों ने विशेष काम किया। इन्हीं के रक्खे हुए नाम आज भी यूरोपीय व्याकरणों में किसी न किसी रूप से जारी हैं। ग्रीक भाषा के सर्वप्रथम व्याकरण के बनानेवाले **थ्रैक्स** (ई० पू० दूसरी सदी के) थे। इन्होंने कर्त्ता और क्रिया के परस्पर अन्वय पर तथा लिंग, वचन, विभक्ति, पुरुष, काल और वृत्ति पर प्रकाश डाला।

ग्रीस से जब सभ्यता और प्रभुता का केन्द्र रोम पहुँचा तो लैटिन और ग्रीक दोनों भाषाओं का अध्ययन होने लगा और ग्रीक व्याकरण के आधार पर लैटिन के भी व्याकरण बनने लगे। अवश्य ही तब इन दोनों की समानताओं और विषमताओं पर ध्यान गया होगा। ईसाई धर्म के विस्तार से यहूदी भाषा इब्रानी का भी अध्ययन होने लगा। अब तक यही परमेश्वर और स्वर्गलोक की भाषा समझी जाती थी और इसका

ज्ञान पाकर धार्मिक विद्वान् अपने को कृतकृत्य मानते थे। साम्राज्य में स्थित पड़ोस के देशों की अरबी, सीरी आदि साहित्यिक भाषाओं पर भी थोड़ा बहुत ध्यान गया। पर शीघ्र ही लैटिन के अध्ययन ने सारे यूरोप में महत्त्व प्राप्त कर लिया। वही धर्म और सभ्यता की मूल भाषा मानी जाने लगी और इसलिए उसका यूरोप पर एकछत्र राज्य हो गया। प्रायः १८ वीं ई० सदी के पहले तक सारे यूरोप के विद्यालयों में लैटिन ही पढ़ाई जाती थी। मातृ-भाषा को पढ़ाना बेकार था वह तो स्वयं आ ही जाती थी। उसका कोई विशेष महत्व भी न समझा जाता था। लैटिन व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर लेना ध्येय था और व्याकरण का प्रयोजन केवल शुद्ध लिखना और बोलना था। पढ़ानेवाले आचार्य हर देश के अलग-अलग थे। ये लैटिन पुस्तकों से पढ़ते-पढ़ाते थे। परिणाम-स्वरूप एक देश में पढ़ाई जानेवाली लैटिन दूसरे देश की लैटिन से बहुत भिन्न होने लगी। तत्कालीन जन-साधारण की बोलचाल की भाषाओं की अपेक्षा लैटिन में शब्दों के रूपों का बाहुल्य था। यदि तत्कालीन भाषा को देखना हुआ तो लैटिन के चश्मे से देखा गया। विभिन्न देशों की लैटिन भाषा के उच्चारण में परस्पर बहुत विषमता दिखाई पड़ने लगी। भारत में आज बंगाली संस्कृतज्ञ का उच्चारण बंगला भाषा के उच्चारण से प्रभावित होकर अन्य प्रांतवालों को अटपटा और अस्पष्ट जान पड़ता है। पर लैटिन का यह अटपटापन इससे कई गुना अधिक था।

अठारहवीं सदी के पूर्व यूरोपीय भाषाओं पर जो भी काम हुआ उस पर लैटिन के अध्ययन का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। उच्चरित भाषा की अपेक्षा लिखित भाषा की प्रधानता, रूप विभिन्नता के अभाव में भी उसके अस्तित्व की खोज, कोष-ग्रंथों में व्युत्पत्ति आदि के लिए लैटिन शब्दों का अस्थान सहारा लेना, व्याकरण में लैटिन के नियमों के सदृश नियम खोजना आदि उसी प्रभाव के साक्षी हैं। लोग नवीन संस्कृति (renaissance) से जहाँ अन्य बातों में उन्नति की ओर अग्रसर हुए, वहाँ भाषाओं के अध्ययन में भी दृष्टि विस्तृत हुई और लैटिन के अलावा ग्रीक फिर से पढ़ी जाने लगी तथा इब्रानी और अरबी की ओर भी ध्यान

गया। अमरीका आदि की खोज हो जाने पर वहाँ के मूल निवासियों की शब्दावली इकट्ठी की जाने लगी और पादरियों ने इनके व्याकरण और कोष भी तैयार किए। स्पेनी पादरियों ने १६ वीं सदी में ही यह काम शुरू कर दिया था।

भाषाविज्ञान की नींव

अठारहवीं सदी में कई यूरोपीय विद्वानों का ध्यान भाषा के उद्‌गम की ओर गया। प्रसिद्ध दार्शनिक **रूसो** ने यह मत पेश किया कि आदिम मनुष्यों ने भाषा, एक स्थान पर बैठ कर समझौते से बनाई। **कोंडिकल** ने यह विचार रक्खा कि आदिम मनुष्यों, पुरुषों और स्त्रियों के सहवास और भावातिरेक में निकले हुए नादों के स्तम्भ पर भाषा स्वाभाविक रूप से खड़ी हो गई। पर इस प्रश्न पर इस सदी में सर्वोत्तम गवेषणा **हर्डर** ने की। र्बालिन अकेडमी के लिए इन्होंने एक निबन्ध लिखा जिसमें भाषा के ईश्वरप्रदत्त होने का खंडन किया। इन्होंने कहा कि मनुष्य ने भाषा जानबूझकर नहीं बनाई, वह उसकी प्रकृति से ही निकल पड़ी, उसी प्रकार जैसे गर्भ से बच्चा। इसी सदी के अन्त में **जेनिश** ने 'आदर्श-भाषा' के विषय पर निबंध लिखा जिसमें उन्होंने ऐसी भाषा के लक्षणों का विवेचन किया और उनके अनुसार लैटिन, ग्रीक तथा कई यूरोपीय भाषाओं की तुलनात्मक जाँच की। इस सदी में हर्डर और जेनिश ने अपने विवेचन से भाषाविज्ञान की नींव रक्खी। इस सदी के अन्त में दृष्टि कितनी विस्तृत हो गई थी इसका अन्दाज़ इस बात से हो सकता है कि **पी० एस्० पल्लस** (१७४१-१८११) ने रूस की महारानी कैथरीन की आज्ञा पाकर एक शब्दावली ऐसी तैयार की जिसमें यूरोप और एशिया दोनों की भाषाओं के २८५ शब्द तुलना-स्वरूप दिए गए थे। पाँच साल बाद १७९१ में इसका दूसरा संस्करण निकला जिसमें अस्सी और भाषाओं को समावेश मिल गया।

उन्नीसवीं सदी को भाषाविज्ञान की सदी कह सकते हैं क्योंकि इसी में इसका पूर्ण विकास हुआ। नई-नई भाषाओं का अध्ययन शुरू

हुआ। लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं की भी विवेचना पूर्ववर्ती सदियों की अपेक्षा अधिक गहराई से होने लगी। तुलनात्मक अध्ययन को प्रश्रय मिला। सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि किसी ध्वनि या रूप के केवल भिन्न रूपों से ही संतोष न हुआ, उनका परस्पर इतिहासिक सम्बन्ध अर्थात् विकास ढूँडा जाने लगा। भाषा प्रवाहस्वरूप समझी गई।

भाषाविज्ञान के बनने में सबसे अधिक प्रभाव संस्कृत के अध्ययन से हुआ। अठारहवीं सदी के अन्त में, कलकत्ता की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना करते हुए, सर **विल्यम जोंस** (१७४६-१७९६) ने संस्कृत का महत्त्व बतलाया था और घोषणा की थी कि गठन में यह लैटिन और ग्रीक दोनों के बहुत निकट है और इन तीनों भाषाओं का कोई एक स्रोत है, तथा प्राचीन फ़ारसी, केल्टी और गाथी भी इसीसे सम्बद्ध हैं। इस घोषणा के पूर्व ही (१७६७ में) फ्रेंच पादरी कोर्डो ने संस्कृत की ओर अपने देश के विद्वानों का ध्यान खींचा था और संस्कृत और लैटिन की समानता दिखाई थी, पर उनका लेख सर विलियम जोंस की घोषणा के बाद प्रकाशित हुआ और जो श्रेय कोर्डो को मिलना चाहिए था वह जोंस महोदय को मिला। शुरू के यूरोपीय संस्कृत विद्वानों में **कोलब्रुक** का नाम उल्लेखनीय है।

भाषा विज्ञान के आरम्भ आधुनिक युग

प्राचीन युग

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान **फ़्रीडरिख़ श्लेगेल्** (१७७२-१८२९) ने १८०८ में भारतीय भाषा और ज्ञान के विषय पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किया। इन्होंने चार-पाँच साल तक पेरिस में हैमिल्टन नाम के एक अँगरेज़ सिपाही से संस्कृत पढ़ी थी और संस्कृत भाषा और वाङ्मय के प्रबल समर्थक हो गए थे। प्रथम बार इन्होंने तुलनात्मक व्याकरण का नाम लिया और कुछ ध्वनिनियमों की ओर भी संकेत किया। इन्होंने भाषा को भी दो वर्गों में विभाजित किया, (१) संस्कृत तथा सगोत्र भाषाएँ, (२) अन्य-भाषाएँ। उद्गम के बारे में श्लेगेल् का मत था कि भाषा की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न आधारों पर हुई होगी। उदाहरणार्थ

माँचू भाषा में अनुरणनात्मक शब्दों का बाहुल्य है जिसमें पशु-पक्षी आदि जन्तुओं का प्रभाव स्पष्ट है, पर संस्कृत में ऐसी कोई बात नहीं है। फ़्रीडरिख़् श्लेगेल् के भाई **अडोल्फ़ श्लेगेल** (१७६७-१८४५) भी अपने भाई फ़्रीडरिख़् की तरह ही संस्कृत के अच्छे विद्वान् और समर्थक थे। इन्होंने श्लिष्ट भाषाओं को दो वर्गों, संयोगात्मक और वियोगात्मक, में बाँटा।

उन्नीसवीं सदी के आरंभ में ही, भाषाविज्ञान के संस्थापक, बॉप, ग्रिम और रैस्क के नाम आते हैं। धातुप्रक्रिया पर बॉप की पुस्तक १८१६ में, रैस्क की १८१८ में और ग्रिम का व्याकरण १८१९ में प्रकाशित हुआ। इनमें से बॉप का काम स्वतन्त्र था, पर ग्रिम पर रैस्क का बहुत प्रभाव पड़ा था।

रैज़्मस रैस्क (१७८७-१८३२) लड़कपन से ही वैयाकरण प्रसिद्ध हो गए थे। इन्होंने आइसलैण्ड की भाषा का शास्त्रीय ढंग से अध्ययन किया और प्राचीन नॉर्स भाषा की उत्पत्ति पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ बनाया। इनके मत के अनुसार ग्रन्थों के अभाव में किसी जाति या राष्ट्र का इतिहास उसकी भाषा से जाना जा सकता है; धर्म, कला आदि तो कालचक्र से बहुत बदल जाते हैं पर भाषा अपेक्षा-दृष्टि से स्थिर रहती है; भाषा के अध्ययन के लिए शब्दावली से ज्यादा व्याकरण पर ध्यान देना चाहिए। इन्होंने फ़ीनी-उग्री भाषाओं का बड़ा अच्छा वर्गीकरण किया। यह भारत भी आए थे और सर्वप्रथम ज़ेन्द (अवेस्ती) को आर्य-परिवार में उचित स्थान और महत्त्व दिला सके थे।

यकोव् ग्रिम (१७८५-१८६३) वकील के पुत्र थे और इन्होंने पहले क़ानून पढ़ा। भाषा का अध्ययन इनके जीवन में बाद को आया। अभी तक प्राचीन भाषाओं को महत्त्वपूर्ण माना जाता था। इन्होंने प्रतिपादित किया कि छोटी-से-छोटी भाषा भी विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, और जिस लगन और अध्यवसाय से इंजील की भाषा इब्रानी तथा लैटिन और ग्रीक का अध्ययन होता है उसी से वर्तमान भाषाओं और बोलियों को भी पढ़ना-पढ़ाना शुरू करना चाहिए। इनका बनाया

जर्मन भाषा का व्याकरण (देवभाषा व्याकरण) १८१९ में प्रकाशित हुआ। रैस्क के १८१८ के प्रकाशित ग्रन्थ की इन्होंने बड़ी प्रशंसा की और १८२२ में अपने व्याकरण का परिवर्द्धित दूसरा संस्करण प्रकाशित किया। इसी में ग्रिमनियम का वर्णन है जिसका विवरण जर्मनी भाषाओं के विचार के अन्तर्गत है। ग्रिम ने स्वर-क्रम आदि के लिए पारिभाषिक शब्द गढ़े जो आज भी प्रचलित हैं। जीवन के उत्तरकाल में ग्रिम महोदय बर्लिन में प्रोफ़ेसर हो गए और भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन में लगे रहे।

फ्रान्त्स बॉप ने (१७९१-१८६७) पेरिस जाकर पूर्वी भाषाओं का अध्ययन किया और संस्कृत को विशेष ध्येय बनाया। १८१६ में धातु-प्रक्रिया पर इनकी पुस्तक प्रकाशित हुई और इसी से भाषा के तुलनात्मक अध्ययन की नींव दृढ़ हुई। इस किताब में संस्कृत के रूपों की ग्रीक, लैटिन, ईरानी, जर्मनी के रूपों से तुलना है। १८२२ में यह बर्लिन अकेडमी के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए। १८३३ में इनका दूसरा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसमें संस्कृत, ज़ेन्द, आर्मीनी, ग्रीक, लैटिन, लिथुऐनी, प्राचीन स्लावी, गॉथी और जर्मन भाषाओं का सम्पूर्ण तुलनात्मक व्याकरण था। बॉप ने निश्चयपूर्वक यह बात कही कि इन भाषाओं के विभिन्न रूपों से किन्हीं आदिम रूपों का अस्तित्व सिद्ध होता है। बॉप के पूर्व भी हार्नीटुके आदि विद्वानों ने इस बात की ओर निर्देश किया था कि पर-प्रत्यय किसी समय स्वतन्त्र सार्थक शब्द रहे होंगे, पर बॉप ने इस पर अधिक बल दिया। प्रारंभ में बॉप का विचार था कि संस्कृत में, पच्छिमी भाषाओं के ऍ ऑ के स्थान पर, केवल अकार की स्थिति भारतीय लिपि की अपूर्णता के कारण है, परन्तु बाद को ग्रिम के प्रभाव के कारण इन्होंने अ, इ, उ को ही मूल स्वर माना। यह भ्रम १८८० में तालव्य नियम के स्थापित होने पर दूर हुआ। बॉप ने आर्य धातुओं की सामी धातुओं से विभिन्नता प्रदर्शित की। बॉप के पूर्व ही रैस्क आदि विद्वानों ने पुरुषवाचक प्रत्ययों (*ति*,-*सि*,-*मि* आदि) की सर्वनामों से तद्रूपता बताई थी, बॉप ने इसको सर्वत्र व्यापक किया।

इन्होंने भाषा के तीन वर्ग किए, (१) धातु आदि व्याकरण-नियम रहित, यथा चीनी, (२) एकाक्षर धातुवाली यथा आर्य और (३) द्व्यक्षर धातुवाली यथा सामी। बॉप का विवेचन बहुत-सी भाषाओं पर विस्तृत था, उसमें गहराई और सूक्ष्मता की कमी झलकती है।

विल्हेल्म फॉन हम्बोल्ड्ट (१७६७-१८३५) मुख्य रूप से भाषाविज्ञानी न थे, यह थे राजनीतिक कार्यकर्ता। पर इन्होंने भाषातत्त्वों की भी यथेष्ट विवेचना की है। सामान्य भाषाविज्ञान पर सबसे पहले इन्होंने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इनकी दृष्टि पैनी थी और वस्तु की तह तक पहुँचने की इनकी आदत सी थी। इनका कोई विशेष उल्लेख के योग्य काम है, तो जावा की कविभाषा पर। पर भाषा की विवेचना के सम्बन्ध के इनके विचार बड़े सारगर्भित हैं। इन्होंने इस पर बल दिया कि भाषा प्रवाहस्वरूप है, उसका लक्षण पूर्ववर्ती और परवर्ती अवस्था के संबंध से ही दिया जा सकता है। हम्बोल्ड्ट का मत है कि प्रत्येक भाषा का स्वयं एक व्यक्तित्व है, सामान्य से सामान्य बोली का भी। भाषा से जाति के मनोभाव प्रकट होते हैं। भाषाओं के वर्गीकरण में इन्होंने अश्लिष्ट और श्लिष्ट का भेद निश्चय किया। इनका विचार है कि संसार की भाषाओं की परस्पर विभिन्नता इतनी ज्यादा है कि कोई संतोषप्रद आकृतिमूलक वर्गीकरण पर पाना असंभव है।

बॉप और ग्रिम के देहान्त के पूर्व, १८५५ के क़रीब, भाषाविज्ञान की काफ़ी सामग्री इकट्ठी हो गई थी। आर्य परिवार का अस्तित्व अलग निश्चित हो गया था। इस विज्ञान का अध्ययन अभी तक यूरोप भर में विभिन्न राष्ट्रों और जातियों की संस्कृति और साहित्य के अध्ययन के साथ साथ गौण रूप से होता था। अब उसने स्वतंत्र सत्ता प्राप्त कर ली। इसमें इतिहासिक और तुलनात्मक विवेचन ने विशेष मदद पहुँचाई। उत्साही विद्वान इस नवीन विज्ञान को पदार्थविज्ञान आदि भौतिक विज्ञानों का समकक्ष साबित करने लगे। अब तक के अध्ययन में (१) संस्कृत भाषा का विशेष महत्त्व, (२) भाषाओं की तुलना करते समय सामान्य लक्षणों पर बल, (३) प्रायः सर्वांश में गई-गुज़री

भाषाओं पर अपेक्षाकृत अधिक ज़ोर और समकालीन जीवित भाषाओं की उपेक्षा, (४) लिपिबद्ध भाषाओं के एकान्त अध्ययन से वाणी के स्वाभाविक स्वरूप की अवहेलना, (५) जीवित भाषाओं के थोड़े बहुत विवेचन में पुराने लक्षणों की ही खोज, यही मुख्य बातें थीं।

पॉट (१८०२-८०) नाम के प्रसिद्ध निरुक्तिकार तथा अन्य विद्वान् ग्रिम और बॉप की परिपाटी पर चलकर पुरानी लकीर पीटते रहे।

ग्रिम के समकालीन रैप ने भाषा के शरीर (ध्वनि) पर १८३६-४१ में कई ग्रंथ प्रकाशित किए। इनमें जहाँ ग्रिम के अन्य कार्य की प्रशंसा थी वहाँ साथ ही साथ ध्वनि के विवेचन के बारे में ग्रिम के काम की तीव्र आलोचना थी। इस आलोचना के कारण ही रैप के ग्रन्थों का उचित स्वागत न हो सका पर इतना मानना आवश्यक है कि रैप ने ध्वनि और लेख का परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया। बॉप और ग्रिम ने भाषा की परिवर्तनशीलता (विकास) पर बिल्कुल ध्यान न दिया था। **ब्रेड्स्डोर्फ़** ने १८२१ में एक ग्रंथ प्रकाशित कर इसकी ओर विद्वानों का ध्यान खींचा। रैप और ब्रेड्स्डोर्फ़ दोनों ने भाषाविज्ञान में नवीनता और ताज़गी उपस्थित कर दी।

आगुस्ट श्लाइख़र (१८२१–६८) भाषाविज्ञान के प्राचीन और नवीन युग के सन्धिकाल के प्रतिनिधि हैं। यह अपने को भाषा-विज्ञानी ही घोषित करते थे। इस प्रकार संस्कृत के अध्ययन से इन्होंने संबंध तोड़ा। लिथुऐनी, रूसी आदि कुछ भाषाओं पर महत्त्वपूर्ण विवेचन करके इन्होंने भाषाविज्ञान के मूल सिद्धांत निर्धारित करने में समय लगाया। इस विज्ञान के अलावा, दर्शन और वनस्पतिविज्ञान में भी इनकी अच्छी गति थी। इनके भाषाविज्ञान के विवेचन में हेगेल के दर्शन का और वनस्पतिशास्त्र की परिभाषाओं का पुट बहुत जगह मिलता है। श्लाइख़र का मत है कि मनुष्य-जाति का वर्गीकरण खोपड़ी की गोलाई, लम्बाई आदि के आधार पर न करके, भाषा की विभिन्नता पर करना चाहिए क्योंकि भाषा अधिक स्थिर चीज़ है। इन्होंने भाषाओं का वर्गीकरण अयोगात्मक, अश्लिष्ट योगात्मक और श्लिष्ट

योगात्मक निर्धारित किया। मैक्समूलर और ह्विटनी ने इसको सर्वथा मान लिया। श्लाइख़र का सबसे महत्वपूर्ण कार्य आदिम आर्य भाषा का पुनर्निर्माण है। इसका उल्लेख आर्य परिवार की भाषाओं के विवेचन में मिलेगा। इसके ध्वनिसमूह, पद, वाक्य आदि सभी कुछ सिद्ध किए गए। इन्होंने इस अनुमानसिद्ध भाषा में एक कहानी भी लिख कर प्रकाशित की। अनुमान की भित्ति पर कोई भाषा खड़ी करना असंगत ही नहीं व्यर्थ का प्रयास है, क्योंकि भाषा के विकास की जटिलता इसके विरुद्ध पड़ती है। इसी कारण श्लाइख़र की आदिम भाषा को उत्तरकालीन भाषा-विज्ञानियों ने आगे नहीं बढ़ाया।

गेओर्ग कुर्टिउस् (१८२७-८५) श्लाइख़र के समकालीन थे और उन्हीं की तरह प्राचीन और नवीन युग के सन्धिकाल के। सौभाग्यवश श्लाइख़र का देहान्त उस समय हो गया जब वह प्रसिद्धि और कीर्ति के उच्च शिखर पर थे, कुर्टिउस् अपने दुर्भाग्य से कुछ साल और जीवित रहे और उन्हें प्राचीन युग के विद्वानों की तीव्र आलोचना देखनी और सहनी पड़ी। श्लाइख़र की तरह कुर्टिउस् भी ध्वनि-नियमों के पालन के पक्षपाती थे पर नवीन युग के इस कथन का कि ध्वनि-नियम का कोई अपवाद नहीं हो सकता, इन्होंने प्रतिवाद किया। पदरचना में सादृश्य का भी वह उतना महत्व न समझते थे जितना नवयुगवाले। इसी काल में भिन्न-भिन्न भाषाओं पर अलग-अलग महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निकले। इनमें कुर्टिउस् की ग्रीक भाषा पर **वेस्टरगार्ड** व **बेनफ़ई** की संस्कृत पर, **मिक्लोसिख़** व **श्लाइख़र** की स्लावी पर, तथा **ज़ेउस्** की केल्टी पर, ये कृतियाँ विशेष उल्लेख के योग्य हैं। **मैडविग** लैटिन और ग्रीक के ज्ञान के साथ-साथ, भाषाविज्ञान के मूलतत्त्वों पर विवेचन के लिए प्रसिद्ध हुए।

इस समय तक भाषाविज्ञानी भिन्न-भिन्न भाषाओं की छान-बीन कर-कर ही मूल तत्त्वों के निर्माण में व्यस्त थे, किसी को इतनी फ़ुर्सत न थी कि इन तत्त्वों को जनता के सामने पेश करे और दिखाए कि ये लोग गहरे सागर से नये मोती निकाल कर लाए हैं।

इस काम की ओर **मैक्समूलर** (१८२३–१९००) अग्रसर हुए। इन्होंने १८६१ में भाषाविज्ञान पर व्याख्यान दिए। ये शीघ्र ही पुस्तकाकार प्रकाशित हुए और शैली की रोचकता और प्रसादगुण के कारण बड़े लोकप्रिय साबित हुए। पढ़ी-लिखी जनता का ध्यान इस विज्ञान की ओर जितना मैक्समूलर ने खींचा उतना और किसी ने नहीं। इस पुस्तक का अच्छा प्रचार हुआ। नया संस्करण १८९० में प्रकाशित हुआ। इसमें ग्रन्थकार ने पिछले तीस वर्षों में किए गए अनुसन्धानों का उल्लेख भूमिका में किया है, और अधिकांश में नवीन-युग के सिद्धान्तों को मान-सा लिया है। मैक्समूलर ने भाषाविज्ञान को विज्ञान सिद्ध किया पर वह इसे भूतविज्ञान आदि के समक्ष न ठहरा सके। तुलनात्मक व्याकरण से भी इसका भेद विशद रूप से उन्होंने दिखाया। भाषा का उद्‌गम, वर्गीकरण, विकास, विकास का कारण इत्यादि विषयों पर भी तब तक किए गए काम को संग्रहीत कर इन्होंने जनता के सामने उपस्थित किया। मैक्समूलर प्रधान रूप से साहित्यिक ही थे और प्राच्य विद्याओं के उत्साही समर्थक। इनका ऋग्वेद का संस्करण और प्राच्य प्राचीन ग्रंथों का पचास जिल्दों में अँगरेज़ी में अनुवाद, दोनों इनकी अमर कृति हैं। भाषाविज्ञानी यह गौण रूप से थे। इसी कारण भाषा-विज्ञान-व्याख्यान-माला में यह अन्य साहित्यिकों की तरह थोड़ा-बहुत बहक गए हैं।

ह्विटनी (१८२७-९४) प्रधान रूप से वैयाकरण थे और संस्कृत भाषा के विशेषज्ञ। यह मैक्समूलर के प्रतिद्वन्द्वी समझे जाते हैं। जितनी ख्याति मैक्समूलर को मिली, विशेषकर भारतवर्ष में, उतनी ह्विटनी को नहीं। इसका ह्विटनी को आजन्म खेद रहा। इन्होंने मैक्समूलर के काल्पनिक विचारों की कड़ी आलोचना की। मैक्समूलर ने अन्य साहित्यिकों की भाँति रोचक दृष्टांत उपस्थित कर पढ़ी-लिखी जनता को मुग्ध कर लिया था। उन्हीं दृष्टांतों की दुर्गत ह्विटनी ने अपने ग्रंथों में की। "भाषा और भाषा का अध्ययन" इस विषय का इनका ग्रंथ १८६७ में प्रकाशित हुआ और "भाषा का जीवन और विकास" १८७५

में। मैक्समूलर के ग्रंथ की अपेक्षा ये दोनों भाषाविज्ञान के तत्त्वों का अधिक सुन्दर और शुद्ध विवेचन करते हैं, पर दोनों की शैली मैक्समूलर की शैली से कम रोचक है। ह्विटनी का संस्कृत-व्याकरण भी अपने ढंग का निराला है।

नवीन युग

कुछ बातों में नवयुग के पथप्रदर्शक **स्टाइनथाल** (१८२५-'९९) थे। इनका प्रथम ग्रंथ १८५५ में प्रकाशित हुआ। इसमें व्याकरण, तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान के परस्पर प्रभाव की सुन्दर विवेचना थी। पर इस समय श्लाइख़र का भाषाविज्ञान के क्षेत्र में बोलबाला था। उन्होंने इस प्रकार के ग्रंथों को नौसिखिए वैयाकरणों के ग्रंथ कह कर उनकी खिल्ली उड़ाई। स्टाइनथाल ने सुदूर-पूर्व देश की चीनी आदि तथा नीग्रो आदि भाषाओं पर काम किया था, और निकटवर्ती आर्य-परिवार की भाषाओं का विवेचन पिष्टपेषण समझकर छोड़ दिया था। इस कारण भी यह प्रसिद्धि न पा सके। पर भाषा का अध्ययन मनोविज्ञान के संपर्क और सहायता से करना चाहिए, इस दृष्टि को सामने रखने से इनका काम महत्त्वपूर्ण है। **आस्कोली ने केन्टुम और सतम्** भाषाओं का भेद स्पष्ट रूप से उपस्थित किया।

प्रायः १८७० के क़रीब भाषाविज्ञान ने ऐसी महत्ता प्राप्त कर ली थी कि मैक्समूलर, ह्विटनी आदि मनीषी उस पर गर्व कर रहे थे। उनका गर्व उचित भी था। इस विज्ञान के मूल सिद्धांतों के अलावा तुलनात्मक व्याकरण के सहारे आदिम आर्य-भाषा का ढाँचा खड़ा हो गया था, अनुमानसिद्ध ही सही। और ग्रीक, लैटिन, संस्कृत आदि के प्रायः ९० फ़ीसदी शब्दों की व्युत्पत्ति निश्चित हो चुकी थी।

१८८० में तालव्य-ध्वनि-नियम ढूँड लिया गया जिसके सहारे आदिम आर्यभाषा के तृतीय श्रेणी के कवर्ग की ध्वनियों का संस्कृत में कहीं तो कवर्ग, पर अन्यत्र चवर्ग, यह द्विधा विकास समझ में आ

गया। इसलिए आदिम तीन मूल स्वर (अॅ, एॅ, ओॅ) निश्चित हुए। यह उस धारणा के विरुद्ध हुआ। जिससे संस्कृत सर्वांश में आदिम भाषा के सन्निकट समझी जाती थी। इस नई खोज के कारण स्वरक्रम के निष्कर्षों में भी संशोधन करना पड़ा। और यह निश्चय भी कि धातु का मूल रूप ही मौलिक है और गुण वृद्धि वाले रूप उत्तरकालीन, बदलना पड़ा। आदिम आर्य-भाषा की धातु एकाक्षर थी यह विचार भी बदला। इसी समय वर्नर ने ग्रिम-नियम के अपवादों का सुर के प्रभाव के द्वारा समाधान किया।

अब तक जिन युवकों का मज़ाक़ नौसिखिया कहकर उड़ाया जाता था और जो यह प्रतिपादित करते थे कि ध्वनि-नियमों में अपवाद असंभव है क्योंकि ये अपवाद स्वयं किन्हीं अवान्तर नियमों के अनुकूल हैं उनकी बात आदर से सुनी जाने लगी। इनमें **ब्रुगमन्, डेलब्रुक, ऑस्टोफ़** और **हर्मन पाउल** प्रमुख हैं। इन युवकों ने कुछ नई बातों पर बल दिया और पुरानी पीढ़ी के अन्वेषकों के कुछ उन कार्यों की उपेक्षा की जिनको वे भाषाविज्ञान की जड़ समझते थे। यहाँ पर इन बातों पर विचार कर लेना ज़रूरी है।

पुरानी पीढ़ीवाले व्याकरण के नियमों पर बहुत बल देते थे और शब्दों की व्युत्पत्ति बताते हुए अपवादों को असंगत न मानते थे। वे भाषा में शब्द का अस्तित्व प्रमुख मानते थे। इन नए विद्वानों ने यह दृष्टिकोण बदल दिया। इन्होंने सिद्ध किया कि भाषा के शब्दों को, बोलनेवाला संसर्ग से सीखता है और व्याकरणकार की तरह उसके सामने धातु और प्रत्यय नहीं रहते। वह पूर्व सीखे हुए शब्दों के आधार पर नए शब्दों का प्रयोग करता चलता है और निरन्तर उनको सादृश्य से ढालता रहता है। यदि कहीं विसदृश रूप मिलें तो वे अपवाद नहीं हैं, ग़लत भी नहीं हैं। वे भी शुद्ध रूप हैं, केवल खोजना यह है कि वे किन अन्य पूर्व-स्मृत रूपों के वज़न पर ढले और इनके सदृश न ढल कर उनके सदृश क्यों ढले। *किया* की जगह *करा* या *डालना* की जगह *पड़वाना* ग़लत नहीं है, भाषा के विकास की दृष्टि से ये रूप भी ठीक हैं।

इस प्रकार सादृश्य का महत्त्व पदरचना में अद्वितीय समझा जाने लगा।

इन्हीं नए विद्वानों ने भाषा के दो अंगों को अलग-अलग मानने की परिपाटी चलाई, ध्वनिजात बहिरंग और अर्थ अन्तरंग। ध्वनि-विकास को ऑस्टोफ़ ने शरीर-विज्ञान के अन्तर्गत माना और पद-विकास को मनोविज्ञान के। यद्यपि यह विचार ग़लत साबित हुआ तब भी दोनों के विकास के अन्तर पर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। अर्थविज्ञान पर ब्रील का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ पेरिस से १८८२ में प्रकाशित हुआ।

इन्हीं विद्वानों ने भाषा के बोले हुए रूप का महत्त्व दिखाया और यह सिद्ध किया कि व्याकरणों और कोषों में केवल भाषा की बिडम्बना मिलती है। इसी कारण बोलचाल की भाषाओं के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाने लगा। बोलचाल की भाषा का स्वयं अध्ययन करने-वालों में अँगरेज़ विद्वान **हेनरी स्वीट** का नाम उल्लेखनीय है।

नई पीढ़ी के विद्वानों ने भाषा के उद्‌गम और वर्गीकरण को विज्ञान में बहुत गौण स्थान दिया। पहले को उन्होंने हल करना असंभव समझा। पेरिस की भाषाविज्ञान-परिषद् जो आज भी इस विज्ञान की विवेचना के लिए अद्वितीय महत्त्व रखती है, उसने भाषा के उद्‌गम और सर्वजन-भाषा की सृष्टि इन दो प्रश्नों के विवेचन का अपने नियमों द्वारा ही प्रतिषेध कर दिया। भाषा के वर्गीकरण को भी इन विद्वानों ने कृपादृष्टि से न देखा। इन्होंने बोलियों के मिश्रण की ओर ध्यान खींचा और दिखाया कि पदरचना अथवा ध्वनि-नियम के बहुत से अपवाद, बोलियों और भाषाओं के शब्दों के परस्पर आदान-प्रदान से समझ में आ सकते हैं। इन्हीं विद्वानों ने वाक्य-विज्ञान शाखा के अध्ययन पर भी बल दिया। यह शाखा अभी तक प्रायः अछूती ही पड़ी थी। हर्मन ब्रुगमन और डेलब्रुक दोनों इस दिशा में अग्रसर हुए। पाउल ने सामान्य भाषाविज्ञान के सिद्धांतों की अद्वितीय गवेषणा की और उस पर सुन्दर ग्रंथ लिखे। ब्रुगमन ने आर्य-परिवार की भाषाओं

की पदरचना कर कई जिल्दों में अपना ग्रंथ प्रकाशित किया जो अब भी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। इन्हीं दिनों भाषा की परिवर्तन-शीलता पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया और उसके कारण निर्धारित किए जाने लगे।

वर्तमान प्रवृत्तियाँ

जर्मनी के नवयुवक व्याकरण-पंडितों का बोलबाला प्रायः १८८० से आरम्भ होकर बीसवीं सदी के पहले बीस साल तक रहा। धीरे-धीरे उनका प्रभाव शिथिल पड़ने लगा। इधर पिछले पच्चीस-तीस साल में अमरीका, प्रशान्त महासागर के द्वीपों और अफ्रीका आदि की असाहित्यिक भाषाओं का विशेष अध्ययन किया गया है और फल-स्वरूप भाषा के उद्गम, वर्गीकरण इत्यादि प्रश्नों पर भी जिनको नवयुवक व्याकरण-पंडितों ने अलग रख दिया था विचार किया जाने लगा है। आर्य परिवार की भिन्न-भिन्न भाषाओं पर स्वतंत्र ग्रंथ, तथा अन्य परिवारों की भाषाओं पर भी नए ग्रंथ तैयार हुए हैं। बच्चे की भाषा के विकास को ध्यानपूर्वक देखा जा रहा है और उसके सहारे भाषा के विकास पर प्रकाश पड़ रहा है। मनोविज्ञान के प्रभाव की महत्ता सर्वथा स्वीकार कर ली गई है और अर्थविकास को उसी की मदद से समझा जा रहा है। ज्ञानतन्तुओं को उच्चारण के अवयवों का प्रेरक मान कर शरीरविज्ञान के अध्ययन की सामग्री लेकर ध्वनि-विज्ञान पर इधर पच्चीस-तीस साल के भीतर बहुत अच्छा काम किया जा सका है। इस विषय में प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान की सफलता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शरीरविज्ञान के मनीषियों से लेकर **रोज़ापेल्ली** ने १८७६ में ही कायमोग्राफ़ का ध्वनिविज्ञान में प्रयोग शुरू कर दिया था और दन्तचिकित्सकों से लेकर **ओकले कोट्स्** ने कृत्रिम तालु का प्रयोग १८७१ में। कायमोग्राफ़ से ध्वनियों के घोषत्व, स्फोटकत्व, स्पर्शसंघर्षित्व, संघर्षित्व तथा अनुनासिकत्व का यथातथ्य ज्ञान हो जाता है। कृत्रिम तालु से स्पर्श कहाँ हुआ इसका बिल्कुल

सही ज्ञान प्राप्त होता है। कायमोग्राफ़ द्वारा अंकित ध्वनियों को सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र की मदद से देखने से सुर का भी ज्ञान मिल जाता है।*

भाषाविज्ञान के अध्ययन का केन्द्र सौ डेढ़ सौ साल तक जर्मनी था। तत्पश्चात् वह केन्द्र पेरिस पहुँच गया, यद्यपि जर्मनी के ब्रूड्ट, हिर्त, **लेस्कीन** आदि विद्वानों का काम पेरिस में किए गए **ब्रील, मेइए, वान्द्रियाज़, दउज़ा** आदि के काम से किसी हालत में नीचे दर्जे का नहीं है। अमरीका के कार्यकर्ताओं में **ब्लूमफ़ील्ड,** सैपीर तथा स्तुर्तवों और पाइक के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ध्वनिविज्ञान के विद्वानों में प्रसिद्ध जर्मन प्रोफ़ेसर **स्क्रिप्चर** और अँगरेज **डेनियल जोंस** प्रमुख हैं। सामान्य भाषाविज्ञान तथा इंगलिश भाषा पर विशेष रूप से काम करने वाले डेनिश प्रोफ़ेसर **ऑटो जेस्पर्सन** हैं। इन सभी विद्वानों ने बहुत से विद्यार्थियों को शिक्षा दी। देश-विदेश के विद्यार्थी इनकी 'उपासना' कर स्वदेश लौटे और अपनी-अपनी भाषाओं के अध्ययन में जुटे हुए हैं।

इन नवीन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त भाषाविज्ञान की कई नवीन शाखाएँ इधर हाल में विकसित हुई हैं। इनमें से प्रमुख हैं—सुरविज्ञान (Tonetics) भाषा का दार्शनिक स्वरूप-विवेचन (Metalinguistics) बोलियों का वैज्ञानिक अध्ययन (Dialectology) बोलियों का भौगोलिक वर्गीकरण (Linguistic Geography) तथा भाषा के मौखिक रूप को लिखित रूप में परिवर्त्तित करने का विज्ञान (phonemics)। इन सभी विशेष शाखाओं पर कार्य अधिकतर अमेरिका में हुआ है। मेटालिंग्विस्टिक्स को छोड़कर शेष सब को वर्णनात्मक भाषाविज्ञान (Descriptive Linguistics) कह कर भी पुकारा जाता है। सुरविज्ञान के अंतर्गत विभिन्न भाषाओं के सुर का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

---

*इस सबके विशेष विवरण के लिए इन पंक्तियों के लेखक का 'हिन्दुस्तानी' (प्रयाग) १९३१ की जिल्द में 'ध्वनिविज्ञान में प्रयोग' शीर्षक लेख देखा जाय। उसमें कायमोग्राफ़ और कृत्रिम तालु के चित्र और उनके प्रयोगों के भी चित्र दिए गए हैं।

भाषा के मौखिक प्रयोग में सुर का व्यवहार अधिकांश देशों के निवासी करते हैं। चीनी भाषा में सुर का महत्त्व सुपरिचित है। अन्य भाषाओं में भी प्रधान अथवा गौण रूप से सुर के महत्त्व को पहचाना गया है। इस सुर के वैज्ञानिक विश्लेषण तथा उसे लिखित रूप देने में कई महत्त्वपूर्ण विद्वानों ने सराहनीय कार्य किया है। सुर पर लिखी गई पुरानी पुस्तकों के अतिरिक्त इधर एक नवीन ग्रंथ तैयार किया है। कैनेथ एल० पाइक ने जिसका नाम है 'इंटोनेशन ऑफ अमेरिकन इंग्लिश।' भाषा के दार्शनिक विवेचन संबंधी कुछ कार्य पहले भी हो चुका था। परन्तु इधर विशेष रूप से इस विषय पर गंभीर चिंतन किया गया है। भाषा तथा विचार का पारस्परिक संबंध, भाषा की अनित्यता, ध्वनि की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि आदि कुछ ऐसे विषय हैं जिन पर मेटालिंग्विस्टिक्स के अंतर्गत विचार किया जाता है।

१९वीं शती के नवीन वैयाकरणों ने बोली का महत्त्व प्रतिपादित किया था। परन्तु इसके बावजूद अभी तक संभवतः भाषा वैज्ञानिकों को इतना अवकाश न मिल सका था कि वे भाषा की इन जीवित प्रणालियों का सम्यक् अध्ययन कर सकते। इधर विभिन्न देशों की बोलियों पर विशेष ध्यान दिया गया है। 'डाइलैक्टौलौजी' के अंतर्गत किसी एक प्रदेश की जीवित बोली को लेकर उसे वर्णित किया जाता है, उसके ऐतिहासिक विकास पर उतना बल नहीं दिया जाता। मुहाविरों तथा बिगड़ी हुई बोलियों को भी इस वर्ग के वैज्ञानिकों ने उतने ही आदर से देखा है जितना कि किसी क्लैसिक भाषा को। बोली जाने वाली अँग्रेजी तथा लंदन की कौकनी (cockney) बोली पर कई महत्त्वपूर्ण तथा रोचक ग्रंथ लिखे गए हैं। 'अमेरिकन स्लांग' का भी भलीभाँति विवेचन हुआ है। इसके अतिरिक्त सामाजिक आर्थिक तथा जातिगत आधारों पर बनी बोलियों का भी अध्ययन किया जा रहा है। इस प्रकार "डाइलेक्टौलौजी" अथवा "बोली-विज्ञान" जीवित बोलियों को अधिक महत्त्व देता है, और इन बोलियों का विश्लेषण उनकी मानवीय पष्ठभूमि में करता है। 'लिंग्विस्टिक ज्योग्रॅफी' वस्तुतः

'डाइलैक्टौलौजी' से ही संयुक्त है। इसके अंतर्गत बोलियों की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन किया जाता है, और उसी के अनुसार उनके नक्शे बनाए जाते हैं। 'लिंग्विस्टिक एटलस' संबंधी यह कार्य अभी बहुत नहीं हुआ है, परन्तु जितना कुछ हुआ है, वह काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। फ्रांस में कुछ बोलियों के एटलस तैयार किए गए हैं। सबसे अधिक परिश्रमपूर्ण ढंग से न्यू इंग्लैंड का एटलस बनाया गया है। किसी देश की बोलियों के अध्ययन में तत्संबंधी एटलस कितने सहायक सिद्ध हो सकते हैं यह बताने की आवश्यकता नहीं है।

पिछले वर्षों में भाषाविज्ञान के क्षेत्र में सबसे अधिक ध्यान आकर्षित किया है ध्वनिग्राम-विज्ञान 'फ़ोनीमिक्स' ने। इस विज्ञान की अभी तक पूरी-पूरी रूपरेखा भी तैयार नहीं हो पाई है। पिछली पीढ़ी के अमरीकी विद्वानों, विशेषतः ब्लूमफील्ड तथा एडवर्ड सेपीर ने 'फ़ोनीम' अथवा ध्वनिग्राम का काफ़ी गंभीर विश्लेषण किया था। इस चिंतन की अपार संभावनाओं पर कुछ आधुनिक अमरीकी भाषा-वैज्ञानिकों ने 'फ़ोनीमिक्स' की नींव रक्खी। 'फ़ोनीमिक्स' वस्तुतः अलिखित भाषाओं को लिखित रूप देने का विज्ञान है। इसमें किसी भी प्राचीन अथवा नवीन बोली की ध्वनियों का तात्त्विक विश्लेषण करके उनमें से कुछ ध्वनिग्राम छाँट लिए जाते हैं। इन ध्वनिग्रामों को अंकित करने के लिए व्यवस्थित ढंग से कुछ लिपिचिह्नों का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार वर्णमाला के निर्माण के सिद्धांतों की सम्यक् विवेचना इस विज्ञान में होती है। के० एल० पाइक की 'फ़ोनीमिक्स' शीर्षक पुस्तक मानों इस विज्ञान की इंजील है। इस धारा के अन्य प्रमुख चिंतक हैं—बर्नार्ड ब्लॉख, जी० एल० ट्रेगर तथा ग्लीसन। 'फ़ोनीमिक्स' संबंधी अब तक के सभी महत्त्वपूर्ण प्रयोग अमरीका में हुए हैं।

आधुनिक युग में भाषा-विज्ञान के अध्ययन का केन्द्र जर्मनी तथा फ्रांस के पश्चात् इंग्लैंड होता हुआ, लगता है अमरीका पहुँच रहा है। पिछले वर्षों में भाषा-विज्ञान संबंधी नवीन कार्य अधिकतर अमरीका के विश्वविद्यालयों में संपन्न हुआ है। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की तो

नींव ही अमरीकी विद्वानों के योग से पड़ी है। नवीन युग के ये विद्वान् भाषा के उस रूप का वर्णन तथा विश्लेषण अधिक करते हैं, जिस रूप में वह हमें मिली है; उसके ऐतिहासिक विकास-क्रम की खोज पर उनका ध्यान उतना नहीं है। जो भी हो, भाषाविज्ञान के इतिहास के आदि-युग तथा मध्य-युग में ऐतिहासिक प्रणाली ही विद्वानों के चिंतन का आधार थी। परन्तु इस नवीन युग में वर्णनात्मक प्रणाली का महत्त्व दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है। वस्तुतः भाषाविज्ञान संबंधी सम्यक् परिशीलन के लिए इन दोनों प्रणालियों का उचित समन्वय ही वांछनीय है।

इन नवीन दिशाओं के अतिरिक्त भाषाविज्ञान संबंधी कार्य कुछ अन्य संबंधित क्षेत्रों में भी हुआ है। स्थानों तथा व्यक्तियों के नामों का अध्ययन भाषाविज्ञान पर आधारित होते हुए भी समाज विज्ञान, सांस्कृतिक इतिहास तथा पुरातत्त्व आदि ज्ञान की अन्य शाखाओं को विकसित करता है। इंग्लैंड में स्थान-नामों के अध्ययन को काफ़ी प्रोत्साहन मिला है। विभिन्न क्षेत्रों में इसके लिए अलग-अलग संघ कार्य कर रहे हैं, जिनकी शोध-सूचनाएँ उनके मुख पत्रों में निकलती हैं। इनके विस्तृत वार्षिक विवरण बराबर प्रकाशित होते रहते हैं। इस प्रकार इस विषय से संबंधित एक स्वतंत्र साहित्य ही तैयार हो गया है।

इन महत्त्वपूर्ण उद्योगों से प्रेरित होकर हमारे यहाँ भी कुछ इस प्रकार का कार्य प्रारंभ हुआ है। कुछ दिन हुए प्रयाग विश्वविद्यालय से एक थीसिस 'संयुक्त प्रांत के हिन्दू पुरुषों के नाम' शीर्षक से प्रस्तुत किया गया था। स्थान-नामों के महत्त्व की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित किया गया है। वस्तुतः भारतीय विद्वानों को इस क्षेत्र में अभी बहुत कुछ करना है। जो कुछ काम हुआ है उससे कुछ आशा तो बँधती है, परन्तु संतोष नहीं हो पाता। भाषाविज्ञान में अधिकाधिक बढ़ती हुई रुचि इस बात की ओर संकेत करती है कि इन नवीन दिशाओं में भी हमारे देश के विद्वान महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकेंगे।

भारत भाषाविज्ञान का आदि गुरु था। पर कालचक्र से यही नहीं हुआ कि उसकी पदवी खो गई बल्कि उसके विद्वानों की कृतियों

पर पच्छिम के मनीषियों का उचित ध्यान भी नहीं आकृष्ट हुआ। वर्तमान युग में काम करने वालों में सर्वप्रथम स्वर्गीय **रामकृष्ण गोपाल भंडारकर** का नाम आता है। व्याकरणशास्त्र का विवेचन संस्कृत विद्या के केन्द्रों में परम्परा से चला आया है। भंडारकर ने देशी परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए यूरोपीय विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का भी गंभीर अध्ययन किया और परिणाम-स्वरूप *विलसन व्याख्यान-माला* भारतीय जनता को १८७७ में दे सके। संस्कृत विद्या के प्रगाढ़ पांडित्य के कारण यह ग्रन्थ कुछ बातों में तत्कालीन अन्य भाषाविज्ञानियों की कृतियों से अच्छा ही है। इसी समय भारतीय भाषाओं के अध्ययन में भारत में कुछ यूरोपीय विद्वान लगे हुए थे। इनमें से सिन्धी के लिए **ट्रम्प,** द्राविड़ी के लिए **कैल्डवेल** और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के लिए **बीम्ज** और **होयर्नले** के नाम प्रमुख हैं। इन्हीं दिनों भारतीय सरकार के भाषा-सर्वेक्षण की जिल्दें **जार्ज ग्रियर्सन** की देख-रेख में प्रकाशित हुईं। ये सभी वृद्धजन पुरानी पीढ़ी के मान्य विद्वान थे। इधर बीस साल में **टर्नर** और **ज्यूल ब्लाक** ने सतत परिश्रम से भारतीय भाषाओं पर तुलनात्मक और इतिहासिक विवेचन किया है। **टर्नर** का *नेपाली कोष* व्युत्पत्ति-विज्ञान के क्षेत्र में अपना सानी नहीं रखता। और **ब्लाक** का *मराठी का विकास* तथा *भारतीय आर्य भाषाएँ* दोनों ग्रंथ अद्वितीय महत्त्व के हैं। भारत के वर्तमान भाषा-विज्ञान-सेवियों में बहुतेरे इन्हीं दो महानुभावों के शिष्य हैं। भारत के वर्तमान भाषाविज्ञानियों में सर्वप्रमुख **सुनीतिकुमार चटर्जी** हैं। इनका बंगाली भाषा के विकास के विषय का ग्रंथ आज भी कई अंशों में कोष की महत्ता रखता है। चटर्जी महोदय केवल भाषाविज्ञानी नहीं हैं, इनकी गति पुरातत्व आदि अन्य कई विद्याओं में भी अच्छी है। इस कारण यह भाषाविज्ञान को व्यापक दृष्टि से पढ़ते-पढ़ाते आए हैं। केवल भाषाविज्ञानी प्रसिद्ध हैं **डा० सिद्धेश्वर वर्मा**। इन्होंने दर्दी भाषाओं और बोलियों की बहुत अच्छी खोज की है। इनके अलावा **कत्रे** (कोंकणी), **धीरेन्द्र वर्मा** (ब्रज), **बनारसीदास जैन** (पंजाबी),

वानीकान्त काकाती (आसामी), **बाबूराम सक्सेना** (अवधी) **उदयनारायण तिवारी** तथा **विश्वनाथ प्रसाद** (भोजपुरी), **रामस्वामी ऐयर** (द्राविड़ी) आदि अपने-अपने क्षेत्रों में लब्धप्रतिष्ठ हुए। अपने विश्वविद्यालयों में संस्कृत और प्राकृत पर काम करने वाले बहुत से पंडित हैं। इनमें से **प० ल० वैद्य** तथा **हीरालाल जैन** का नाम अपभ्रंश के लिए उल्लेखनीय है और प्राकृत के तुलनात्मक अध्ययन के लिए सुकुमार सेन का।

भारतीय विद्वान शायद अभी कुछ साल तक भाषाविज्ञान के मूल सिद्धान्तों पर कोई मौलिक कार्य न कर सकें। सभी अपने-अपने सीमित क्षेत्र में संलग्न हैं। यही क्या कम संतोष की बात है कि अपनी भाषाओं के बारे में हमें अब विदेशियों की ओर टकटकी लगाने की ज़रूरत नहीं। मुख्य-मुख्य भाषाओं का सामान्य परिशीलन हो चुका है, पर बोलियों का अभी बाक़ी है। इसमें जितने ही अधिक युवक लगें अच्छा है। ग्रियर्सन का काम उस समय के लिए ठीक था हम उनके अनुगृहीत भी हैं। पर वह सामग्री सदोष है। जंगली जातियों की भाषाओं को भी हमीं को अध्ययन करना चाहिए। **बोडिंग** आदि मिशनरियों का काम अच्छा है, पर जो काम भारतीय कर सकेंगे उसकी तुलना का वह नहीं ठहर सकता। हर्ष की बात है कि नवयुवक इस ओर आ रहे हैं।

भाषाविज्ञान के अध्ययन में इधर अपने देश में यथेष्ट प्रगति हुई है। लिंग्विस्टिक सोसाइटी अरब् इंडिया का कार्य लाहोर में आज से पच्चीस साल पहले प्रारंभ हुआ था। डा० बुलनर के देहान्त के बाद यह संस्था शिथिल हो गई और कार्यालय को कलकत्ता उठा ले जाने पर कार्य ने ज़ोर नहीं पकड़ा। अब डा० कत्रे के विशेष उद्योग से और पाँच साल तक राके फ़ेलर फ़ाउंडेशन की मदद से यह संस्था ही केवल कार्यतत्पर नहीं हो गई बल्कि प्रायः एक हज़ार नवयुवकों को भाषा-विज्ञान का शिक्षण ग्रीष्म कालीन सत्रों द्वारा मिल चुका है। पूना का डेकन कालेज आज भाषा-विज्ञान के अध्ययन का सर्वपूर्ण केन्द्र है।

भारतीय भाषाओं का अध्ययन करते समय हमें अपनी प्राचीन

भाषाओं (संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश) का सहारा भूल से भी न छोड़ना चाहिए, विशेषकर संस्कृत का। संभव है कि वाक्यपदीय आदि प्राचीन ग्रंथों के परिशीलन से हमें कुछ ऐसे सुझाव मिलें जिनके सहारे हम एक बार फिर पच्छिमी विद्वानों को कोई मौलिक चीज़ देकर उऋण और कृतार्थ हो सकें।

भाषाविज्ञान ने भाषा-सम्बन्धी कुछ मूल तत्त्व पकड़ लिए हैं। प्राचीन और वर्तमान भाषाओं का विश्लेषण करने पर ही यह संभव हुआ है। पर अभी तक यह विश्लेषण चरम कोटि तक नहीं पहुँच पाया है। एक-आध सवालों के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मैक्समूलर ने पुरुष और स्त्री के उच्चारण के भेद का दिग्दर्शन कराते हुए कहा था कि पुरुष के स्वर-यन्त्र के तार स्त्री के तारों की अपेक्षा लम्बे होते हैं। संभव है, यह ठीक हो। बच्चों की वाणी में एक प्रकार की कोमलता और मधुरता रहती है, यह लड़कियों में स्थिर रहती है पर लड़कों में क्रमशः (प्रायः १६ वर्ष की अवस्था में) समाप्त हो जाती है। पर दो बहिनों या माता-पुत्री, या भाई-भाई या पिता-पुत्र की बोली में एक विलक्षण समानता मिलती है और कभी-कभी हमको भ्रम होता है कि प्रीति बोल रही है या कीर्ति, या सुबोध बोल रहे हैं या सुधीर। इस समानता का क्या कारण है? यह समानता ध्वनिगुणों के विश्लेषण से नहीं ज्ञात होती। यह कौन चीज़ है? क्या कभी भी हम ज्ञान की उस कोटि को पहुँच सकेंगे जब इस तरह के सवालों का समाधान कर सकेंगे?

आदि में एक भाषा थी या अनेक इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देना हम लोगों के ज्ञान की वर्तमान अवस्था में असंभव है। जब सृष्टि का आदि ही नहीं मिलता तब भाषा की बात क्या कही जाय? क्या कभी ऐसा भी हो सकेगा जब संसार के समस्त मनुष्य एक भाषा-भाषी हो जायँगे? इसका उत्तर यही है कि यदि यह संभव हो जाय कि मनुष्य भेद-भाव छोड़कर देवता बन जायँ तो सर्वजन-भाषा का अस्तित्व भी संभव है। अभी तो यह सब स्वप्न-मात्र है पर स्वप्न ही सही मनन करने और उद्योग करने के लायक है।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

लिपि का इतिहास

मूलरूप से भाषा श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। अपौरुषेय श्रुति को छोड़कर अन्य सभी शब्द को सुनने के लिए वक्ता और श्रोता के समकालत्व और समदेशत्व की अपेक्षा होती है। ऐसी परिस्थिति में अपनी बात और भावना को यदि उत्तरकालीन या भिन्न-देशस्थ मनुष्य तक पहुँचाना अभीष्ट हो तो किसी अन्य उपाय का अवलम्बन करना चाहिए। मनुष्य अपने समय की विशेष घटनाओं की स्मृति छोड़ जाना चाहता है। उनका उल्लेख वह अपने पुत्र-पौत्रों से कर दे, और वे अपने नाती-पोतों से, तो परम्परा से स्मृति बाक़ी रह सकती है। पर सदा यह संभव नहीं कि उसके ये निकटस्थ सम्बन्धी उसके पास हों। यदि उसने कोई बात अन्तस्तल में छिपा रक्खी है और उसके बच्चे छोटे छोटे हैं तो वह अपनी बात की स्थिरता किस प्रकार छोड़ जाय? यदि वह उनको भी अपनी बात का भेद न बताकर दूरस्थ प्रेमीजन के पास भेजना चाहता है तो वह किस उपाय का अवलम्बन करे? आज जब लेख, पत्र, तार, टेलीफ़ोन आदि साधन सभ्य मनुष्य को सुलभ हैं तब इस प्रकार के प्रश्नों पर विचार करना अनर्गल सा मालूम होता है। पर जब ये साधन नहीं मौजूद रहे होंगे तब क्या होता होगा?

लिपि आदि साधनों के रहने पर भी स्मृति आदि के लिए अन्य साधनों का भी उपयोग चल सकता है। हनुमान जी रामचन्द्रजी की मुद्रिका दिखा कर ही सीताजी को यह विश्वास दिला सके कि वह उनके स्वामी के दूत थे। दुष्यन्त ने अपने नाम की अंकित अँगूठी अभिज्ञान-स्वरूप शकुन्तला के पास छोड़ दी थी, ऐसा कालिदास का प्रतिपादन है। आज भी शादी-व्याह के न्योते के रूप में सुपारी भेजने का देश में

रिवाज है। किसी भी मृत्यु की सूचना जिस चिट्ठी द्वारा दी जाती है उसका एक कोना फाड़ दिया जाता है। यदि किसी बात को याद रखना ज़रूरी है और उसे भूल जाने का अन्देशा है तो गाँठ बाँध ली जाती है। अपने देश में वर्षगाँठ भी निश्चय ही स्मृति के साधनस्वरूप है। बच्चा कितने साल का हुआ यह बात डोरी में डाली हुई गाँठों की संख्या से मालूम हो जाती थी। कुछ देशों में, विचित्र रेखाओं से खचित छड़ी को देखकर उन विभिन्न रेखाओं द्वारा स्मृति में आई हुई बातों को दूत बता सकते थे।

इस प्रकार श्रोत्र-ग्राह्य शब्द का प्रतिरूप या उसकी सहायक कोई ऐसी चीज हुई जो नेत्रग्राह्य हो। इस विषय में कुछ जातियों के प्रयत्न उल्लेखनीय हैं। पेरु में कुइपु नाम की डोरियाँ होती थीं। ये दो फुट से अधिक लम्बी होती थीं। इनमें रंग-बिरंगे धागे बँधे रहते थे। इन रंगों और इन धागों में पड़ी गाँठों से विविध अर्थों का संकेत हो जाता था, सफ़ेद धागे से 'चाँदी' या 'शान्ति' का अर्थ निकाला जाता था लाल से 'सोना' या 'युद्ध' का। इसी तरह मृगचर्म में रंग-बिरंगे मोती, मूँगे आदि चीज़ें बाँध कर विविध अर्थों का बोध कराया जाता था। यह तर्कीब भी उत्तरी अमरीका की कुछ जातियों में प्रचलित थीं। ये तर्कीबें संकेत-स्वरूप समझनी चाहिए, उसी प्रकार जैसे एक विशेष आकृति के अक्षरों से एक विशेष शब्द द्वारा किसी विशेष भाव का उद्बोध हो जाता है। भाव के ज्ञान के लिए संकेत के पूर्व ज्ञान की अपेक्षा अनिवार्य है। इस प्रकार संकेतों के लिए किसी विशेष शब्द के माध्यम की ज़रूरत नहीं। तथा विभिन्न जातियों में युद्ध के लिए विभिन्न शब्द रह सकते हैं और तब भी लाल रंग युद्ध का अर्थ बता सकता है।

इन स्मृति-चिह्नों की अपेक्षा, मिस्र देश में प्रचलित चित्रलिपि से भाव का व्यक्तीकरण अधिक आसानी से हो जाता था। दौड़ते हुए बछड़े के पास ही पानी का भी चित्र, प्यास के भाव का उद्बोध कराता था। मनुष्य के चित्र में निकली हुई पसलियों से दुर्भिक्ष का और आँसू ढालती हुई आँखों से दुःख का आभास मिलता था। चीन में दो मिले

हुए हाथों से मित्रता का अर्थ समझा जाता था। इसी प्रकार सूर्य, वृक्ष साँप, भेड़ आदि के चित्रों से उन-उन चीज़ों और जीवों का बोध होता था। चित्र द्वारा स्थूल विषयों का व्यक्तीकरण सुलभ था, सूक्ष्म का अपेक्षाकृत कठिन। उदाहरणार्थ चीन देश में सुनने का अर्थ दर्वाज़े में कान सटाए हुए मनुष्य के चित्र से किया जाता था।

यदि चित्रों द्वारा ही भावों का व्यक्तीकरण होता रहता तो भाषा-विभेद के रहते हुए भी एक जाति या देश के चित्रों से दूसरी जाति या देशवाले भी उन्हीं चिह्नों से उन भावों का बोध कर लेते। पहाड़ या समुद्र के चित्र से हिन्दी भाषा-भाषी को उसी प्रकार उन चीज़ों का बोध होता है जैसे अँगरेज या हब्शी को, यद्यपि इन तीनों की भाषाओं में इन चीज़ों के लिए अलग-अलग शब्द हैं। पर चित्रों का खींचना आसान काम न था, समय भी काफ़ी लगता था। धीरे-धीरे खराब खिंचे हुए चित्रों से भी काम चलता रहा। होते होते ये चित्र अपने मूल-रूप से बहुत दूर हट आए। इन संकेतों को देख कर ही मूल-चित्रों का उद्बोध होता था और उनके द्वारा उन भावों का। चित्रों की स्थिति तक, ये चाहे कितने भी बुरे खिंचे हुए हों भावों का उद्बोध अन्य भाषा-भाषियों को भी हो जाता था, पर अब संकेतों के कारण व्यक्तीकरण उन्हीं तक सीमित रह गया जो उन संकेतों से अभिज्ञ थे।

इस प्रकार यदि आँख के भाव का बोध कराने के लिए आँख के चित्र के स्थान पर केवल बिन्दी रह जाय तो बिन्दी से आँख का भाव केवल उसी को मालूम होगा जो उस संकेत से परिचित हो। चित्र तक तो भाव और चित्रसंकेत में, देखनेवाले को एक प्रकार का समवाय सम्बन्ध मालूम देता था, अब तो केवल ऐसा सम्बन्ध रह गया जो रूढ़ि पर आश्रित था। उदाहरणार्थ चीन देश में, पर्वत का भाव पहले ऐसे चित्र से व्यक्त किया जाता था जिसमें ऊँची-नीची कई चोटियाँ दिखाई पड़ती थीं। धीरे-धीरे ऊपर एक चोटी-सी लकीर और मूल में दो छोटी छोटी खड़ी लकीरों से ही पर्वत का भाव प्रकट किया जाने लगा। मनुष्य के चित्र में पहले सिर, दो बाहें, धड़ और दो टाँगें स्पष्ट थीं,

वाद को धड़ के लिए केवल एक खड़ी लकीर और उसके नीचे उसी से दोनों तरफ़ निकली हुई दो छोटी लकीरें ही दो टाँगों के स्वरूप रह गईं। इसी तरह मिस्र देश में शेरनी का भाव पहले उसके चित्र से प्रकट किया जाता था। बाद को होते-होते केवल इस L चिह्न से उसका बोध कराया जाने लगा।

जब रूढ़ि द्वारा स्थापित इस प्रकार के संकेत विशिष्ट-भाषा-भाषी जाति या देश तक सीमित रह गए तब इन संकेतों से विशिष्ट शब्दों (ध्वनि-समूहों) का ही उद्‌बोध होना स्वाभाविक था। उदाहरणार्थ यदि हिन्दी *जुआ* शब्द के लिए एक ही संकेत हो तो 'द्यूत' और 'युग' दोनों के अर्थ का बोध करावेगा। ऐसी परिस्थिति में कौन से अर्थ का अभिप्राय है, इसको जतलाने के लिए किसी और उपाय की ज़रूरत पड़ सकती है। चीनी भाषा में लिपि की इस अवस्था के कारण समान अर्थ के बोधक दो शब्दों को पास-पास रखकर उनके सामान्य अर्थ का बोध कराया जाता है। इस प्रकार ये विशिष्ट संकेत चित्र से इतने दूर हट आए कि केवल विशिष्ट ध्वनि-समूहों (ध्वन्यात्मक शब्दों) का बोध कराने लगे। चीनी में इसी प्रकार के एकाक्षर ध्वन्यात्मक शब्द हैं। और जब केवल संकेत रह गए तो संकेत विकसित होते-होते किसी भी परिवर्तन को स्वीकार कर सके। इस तरह प्रथम सम्पूर्ण बात या वाक्य का बोध करानेवाले एक चित्र, फिर वाक्य के विभिन्न स्थूल भावों के **अलग-अलग** चित्र, फिर इन चित्रों से विकसित हुए उनके उद्‌बोधक संकेत, और इनसे अक्षर, लिपि के विकास में यह क्रम रहा।

चीनी आदि ऐसी भाषाओं में जिनमें शब्द एकाक्षर हों, संकेतों का अक्षरों के स्थान पर प्रयोग में आना समझ में आता है। ई० पू० २००० तक चीन देश में ऐसी स्थिति पहुँच गई थी। मिस्र में भी इसी तिथि तक यह स्थिति हो गई थी कि ये संकेत चित्रों से दूर रूढ़ि-ग्राह्य हो गये थे। मिस्री भाषा में भी एकाक्षर शब्दों का बाहुल्य था। जब तक एकाक्षर शब्दों को जतलाने का अभिप्राय हो ये संकेत काम के थे।

चीनी भाषा के सवा चार सौ संकेत इसी प्रकार के हैं। पर उसमें अलग-अलग ध्वनियों के द्योतन का कोई उपाय नहीं है, *त* के लिए संकेत है, पर त् और अ के लिए अलग-अलग नहीं। चीनी भाषा का काम चल गया, क्योंकि उसमें न उपसर्ग थे न प्रत्यय। सम्बन्ध-तत्त्व का बोध कराने के लिए भी अलग-अलग एकाक्षर शब्द थे, जिनके लिए संकेत पहले से मौजूद थे। पर मिस्री भाषा की अवस्था इससे भिन्न थी। उसमें एकाक्षर शब्दों के अलावा उपसर्ग, मध्य-विन्यस्त पद और प्रत्यय भी थे। *सोन्* (भाई), *सोन्-अ* (मेरा भाई) *सोन्-क्* (तेरा भाई), *सोन्-फ़* (उसका भाई), *सोन्-उ* (कई भाई), *सोन्-त्* (बहिन) का बोध एक ही संकेत से करना असंभव था। ऐसी दशा में लिखने वाले की बुद्धि में अ-क् फ़्-उ-त् आदि ध्वनियों का भान होना संभव था। एकाक्षर शब्दों के द्योतक संकेतों में क्या उपाय किया जाय कि इन भिन्न भावों का भी बोध हो सके? ध्वनियों का अलग-अलग भास, एक ध्वनि से आरंभ होने वाले संकेत एक ओर, और दूसरी ध्वनियों से आरंभ होने वाले अन्यत्र, इस विभाग से शुरू हुआ होगा। अनुमान है कि ऐसा संकेत जो किसी विशेष ध्वनि से आरंभ होता था, वह उस संकेत द्वारा द्योतित शब्द की आदिम ध्वनि के लिए भी काम में लाया जाने लगा। अलग ध्वनियों के लिए अलग संकेतों की ज़रूरत तो सोन्-क् आदि शब्दों के अस्तित्व से महसूस होती थी। इस प्रकार *अहोम्* (उक़ाब) का संकेत अ के लिए और *रो* (मुख) *लबोइ* (शेरनी) क्रम से ल् और र् के लिए प्रयोग में आने लगे। एक ही ध्वनि से आरंभ होने वाले कई संकेत री रेत र आदि रहे होंगे। और आरंभ में ये सभी उस आदिम ध्वनि आदि के लिए प्रयोग में आते होंगे। बाद को वह संकेत जिसका भाषा के शब्द के लिए अधिक प्रयोग रहा होगा या जो अन्यों की अपेक्षा अधिक आसानी से बन सकता होगा, उसने उस ध्वनि-विशेष का द्योतन करने के लिए दूसरों पर विजय पाई होगी। मिस्री भाषा की पच्चीस ध्वनियों में किसी-किसी के लिए अनेक संकेत पाए जाते हैं। इस तरह मिस्र देश में ध्वनियों के लिए अलग-अलग

चिह्न (वर्ण) काम में आए। कुछ काल तक साथ ही साथ चित्रात्मक और भावात्मक संकेत भी साथ-साथ चलते रहे, जैसा कि प्राचीन लेखों के अध्ययन से मालूम होता है।

चीन महादेश और मिस्र के अतिरिक्त लिपि का विकास, प्राचीन काल में मेसोपोटैमिया में सुमेरी जाति द्वारा किया गया। यहाँ भी भाव-व्यक्तीकरण चित्र द्वारा ही पाया गया है। पर जहाँ मिस्र में अधिकतर ये चित्र पत्थरों पर खुदे हुए मिले हैं, मेसोपोटैमिया के चित्र नरम ईंटों पर कीलों से खोदे जाते थे। तल की नर्मी के कारण केवल लाइनें खिच सकती थीं, गोलाई आदि के प्रदर्शन का कोई साधन न था। उदाहरणार्थ मछली का चित्र केवल तीन-चार लाइनों से खींचा जा सकता था। इस प्रकार ये चित्र आरंभ में ही संकेत से हो गए, और फिर भावों के व्यक्त करनेवाले। सामी पड़ोसियों ने इनको अक्षरात्मक बना दिया। बाद को ईरानी लोगों ने भी इनका प्रयोग करना शुरू किया, और इन्हीं का एक रूप हमें दारा के पुराने कीलाक्षर लेखों में मिलता है।

वर्तमान यूरोप की सभी लिपियाँ **ग्रीक** लिपि से विकसित हुई हैं। ग्रीक के पुराने लेख ई० पू० ९ वीं सदी तक के मिलते हैं। ये थेरा द्वीप में मिले थे। इनमें से कुछ दाहिनी ओर से बाईं ओर को और कुछ बाईं से दाहिनी ओर को लिखे गए हैं। इसके बाद उत्तरी मिस्र के अबूसिम्बेल स्थान पर मिले हुए ७ वीं ई० पू० सदी के, और फिर कोरिन्थ और अथेन के ई० पू० छठी सदी के लेख हैं। ई० पू० चौथी सदी तक इन लेखों के दो विभाग, पूर्वी और पच्छिमी, मिलते हैं। उस समय के इधर के लेखों में एकरूपता दिखाई पड़ती है। ग्रीक लिपि के वर्णों के नाम सामी हैं। रोम के उत्थान के पूर्व इटली और पास-पड़ोस के प्रदेशों में एत्रुस्की भाषा बोली जाती थी। इसके कुछ पुराने लेख मिले हैं। इस लिपि के बारे में विद्वानों का मत है कि यह इटली में ९ वीं सदी ई० पू० में एशिया माइनर से आई। और एशिया माइनर में इन्होंने ग्रीस-देशवासियों से प्राप्त किया था। लैटिन के पुराने से पुराने लेख ई० पू० चौथी सदी के हैं। ये रोम में मिट्टी के बर्तनों पर खुदे मिले हैं। यह

लिपि ग्रीक स्रोत की है, पर इस पर एत्रुस्की लिपि का भी प्रभाव स्पष्ट है। बाद को यही रोमन लिपि कहलाई। आरंभ में इसमें २३ वर्ण थे। बाद को १४वीं १५ वीं सदी में इसमें २६ वर्ण हो गए जो आज तक क़ायम हैं। यूरोप के उत्तरी प्रदेशों की **रूनी** लिपि प्रचलित ग्रीक लिपि से संबंध नहीं रखती। विद्वानों का विचार है कि यह काले सागर पर बसे हुए किसी ग्रीक उपनिवेश से प्रायः ई० पू० ६०० में ली गई। केल्टी की **ओघं** (५वीं सदी) लिपि रूनी से ही निकली है। स्लावी की **सिरिली** और **ग्लेगोलिथी** (९वीं सदी) का विकास तत्कालीन ग्रीक लिपि से माना जाता है।

आर्मीनी लिपि के लेख चौथी सदी ई० के मिलते हैं। कुछ विद्वान् इसे ईरानी स्रोत का और अन्य ग्रीक स्रोत का बताते हैं। ई० पू० पहले सहस्राब्द में एशिया माइनर में कुछ लिपियाँ वर्तमान थीं। ये अरमी की कोई पूर्वकालीन रूप समझी जाती हैं। **अरमी** के सबसे पुराने लेख प्रायः ८०० ई० पू० के उत्तरी सीरिया के सिन्दिली नाम के स्थान में मिले थे। यह उत्तरी सामी की लिपियों में सर्वप्रमुख लिपि थी। इसी से **हेब्रू** लिपि निकली है। **अरबी** लिपि भी अरमी का ही एक रूप है। इसके ५ वीं सदी ई० पू० तक के लेख मिलते हैं। ७ वीं ८ वीं ई० सदी में इसके दो रूप **कूफ़ी** और **नस्ख़ी** मिलते हैं। नस्ख़ी रूप ज़्यादा प्रचलित हो गया और वर्तमान अरबी लिपि उसी का विकसित रूप है। ईरान में हख़्मानी बादशाहों ने कीलाक्षर लिपि का प्रयोग किया था, पर सिकन्दर की विजय के उपरान्त अरमी आ गई। सासानी शाहंशाहों की लिपि **पहलवी** है।

भारत में सर्वप्रथम तिथि पड़े हुए लेख अशोक प्रियदर्शी के हैं। इनकी लिपियाँ **ब्राह्मी** और **खरोष्ठी** हैं। खरोष्ठी के लेख ई० पू० तीसरी सदी से लेकर तीसरी सदी ई० तक के मिलते हैं। ये भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में ही मिले हैं। ई० तीसरी सदी में खरोष्ठी चीनी तुर्किस्तान में भी पहुँच गई थी। खरोष्ठी अरमी का ही भारतीय रूपान्तर समझी जाती है। ब्राह्मी लिपि से ही वर्तमान भारत की सभी

लिपियाँ विकसित हुई हैं। कनिंघम, लैसेन और ओझा आदि विद्वान् इसे भारत की स्वतंत्र उपज समझते हैं, पर यूरोप के बूलर आदि बहुतेरे मनीषी इसे विदेशी (प्रायः सामी) लिपि से ही विकसित बताते हैं। ब्राह्मी का विवेचन आगे किया जायगा।

वर्तमान यूरोप की लिपियों का मूल-स्रोत ग्रीक लिपि है, यह बात ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो गई है। उसके विषय में सवाल उठता है कि ग्रीकवासियों को यह कहाँ से मिली ? क्या यह उन्हीं की निजी चीज़ है ? विद्वानों का मत है कि लिपि ग्रीसवासियों की अपनी चीज़ नहीं है, उन्होंने इसे फ़ोनीशी व्यापारियों से लिया। यूरोपीय भाषाओं में लिपि के लिए अल्फ़ाबेट शब्द है, और इसमें प्रथम दो वर्ण *अल्फ़ा* और *बेटॉ* का समावेश है। ग्रीक लिपि के ये दो वर्ण रोमन में ए और *बी* नाम से पाये जाते हैं। *अल्फ़ा*, *बेटॉ*, *गम्मॉ*, *डेल्टा* शब्द केवल सामी *अलेफ़ बेथ*, *गमेल* और *दालेथ* के रूपान्तर हैं। इन शब्दों का सामी अर्थ है (क्रमशः बैल, मकान, ऊँट, कनात का दर्वाज़ा) ग्रीक में ये निरर्थक हैं। अरबी में मेम (पानी) आदि अन्य वर्णों के नाम भी इसी प्रकार सार्थक हैं। इन वर्णों के आदि रूपों से इन अर्थों का भाव भी झलकता है। ग्रीसवासियों ने इनको लेकर इनमें अपनी ज़रूरत के हिसाब से संशोधन कर लिये। सामी में व्यंजनों के लिए ही वर्ण थे। ग्रीसवालों ने *अलेफ़*, *हे*, और *ऐन* को स्वरों के लिए इस्तेमाल कर लिया। सामी लिपि में २२ ही वर्ण थे। ग्रीक लोगों ने न केवल इतना किया कि कुछ व्यंजन-वाची वर्णों को स्वरवाची बना लिया, बल्कि कुछ ऐसी ध्वनियों के लिए जो उनकी भाषा में थीं पर सामी में न थीं, नए वर्ण गढ़ लिए। कुछ विद्वानों का यह विचार है कि लिपि वास्तव में ग्रीक थी और ग्रीसवासियों से फ़ोनीशी लोगों ने अपनाया। पर यह विचार तर्क की समीक्षा पर नहीं ठहरता। यह कहना कि इन वर्णों के नाम मूल-रूप से ग्रीक निरर्थक शब्द हैं और फ़ोनीशी लोगों ने इनको सार्थक कर लिया युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता। इनकी मूल आकृति भी भावात्मक संकेतों का निर्देश करती है।

विद्वानों का बहुमत इस पक्ष में है कि ग्रीक लोगों ने लिपि फ़ोनीशी

लोगों से ली। इस फ़ोनीशी लिपि का स्रोत क्या है ? इस सवाल के जवाब में कई वाद उपस्थित किए गए हैं। कुछ लोग इसे मिस्र देश के भावात्मक संकेतों से, कोई बेबल की कीलाक्षर लिपि से और कुछ क्रीट की मिनोआ लिपि से निकला हुआ मानते हैं। प्रो० पेटी नामक एक विद्वान् का मत है कि मिस्री, ग्रीक, फ़ोनीशी, एशिया माइनरवाली और दक्खिनी सामी आदि सभी लिपियाँ भूमध्य सागर के आसपास के रहनेवाले लोगों के कुछ संकेतों से निकली हैं जिन्हें वहाँ व्यापारी काम में लाते थे। इस मत का पोषण अन्य विद्वानों ने नहीं किया। ग्रीक लिपि को सामी से सम्बद्ध मानने में सब से बड़ी कठिनाई यह जान पड़ती थी कि यह लिपि बाईं ओर से दाहिनी ओर चलती है और सामी लिपियाँ दाहिनी से बाईं, पर दक्खिनी सामी के कुछ लेख ६ ठी सदी ई० पू० के प्राप्त हुए हैं। नमें से बहुतेरे तो दाईं से बाईं ओर चलते हैं पर कुछ हल की जुताई की तरह दाईं से बाईं, बाईं से दाईं ओर फिर दाईं से बाईं ओर जाते हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि सामी लिपियों में दोनों ओर चलने की प्रथा थी। सामी लिपियों के उत्तरकालीन रूपों में दाईं से बाईं ओर जाने का मार्ग निश्चित हो गया और ग्रीक आदि में बाईं से दाईं ओर। सामी लिपि में ज़ेर, जबर, पेश आदि स्वर-सूचक चिह्न ई० चौथी सदी से लगने शुरू हुए।

सामी जातियों ने लिपि का प्रयोग मिस्र देशवासियों से सीखा, इस मत को अब प्रायः सभी विद्वान् मानने लगे हैं, और सामी से, ऊपर निर्दिष्ट अन्य जातियों ने। अनुमान है कि ई० पू० प्रथम या द्वितीय साहस्री में कुछ सामी जातियाँ मिस्र देश के दक्खिनी भाग के निवासियों के सम्पर्क में आईं और उन्हीं से लिपि का व्यवहार सीखा।

लिपि की अवस्थाओं का विकास, वाक्य-निर्देशक सम्पूर्ण चित्र से भावात्मक चित्र, इन चित्रों से भावात्मक संकेत मात्र, फिर इन संकेतों से उद्बोधित शब्दों के प्रथम अक्षरों से अक्षरात्मक लिपि और उससे ध्वन्यात्मक लिपि, दर्जा-बदर्जा इस प्रकार मालूम होता है। उत्तरी अमरीका के मूलनिवासियों की लिपियाँ, मिस्र की और चीन की लिपियाँ

तथा प्राचीन सुमेरी आदि कीलाक्षर लिपियाँ बहुत काल तक भावात्मक संकेतों की अवस्था की रही हैं। चीनी लिपि अब भी अक्षरात्मक है यद्यपि जापान वालों ने इसे अपने लिए ध्वन्यात्मक भी बना लिया है लिपियों में ध्वन्यात्मक लिपि ही सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है।

भारतीय लिपि सामग्री

भारत में इधर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जो ईसवी सन् से पूर्व कई हज़ार वर्ष पहले की सामग्री मिली है उसमें भी कुछ लेख जहाँ-तहाँ अंकित हैं। ये ऐसी लिपि में हैं जो ब्राह्मी या खरोष्ठी से मेल नहीं खाती और उससे सर्वथा भिन्न हैं। विद्वानों का बहुमत इस पक्ष का है कि यह सारी सामग्री ऐसी सभ्यता की द्योतक है जिसका वैदिक आर्य सभ्यता से कोई सम्बन्ध नहीं। लिपि के सम्बन्ध को सुमेरी से जोड़ने का उद्योग हुआ है। इस सामग्री के अलावा हैदराबाद रियासत के पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष प्रो० यज़दानी ने १९१७ में खुदाई कराते समय प्रागैतिहासिक काल के कुछ मिट्टी के बर्तन प्राप्त किए थे जिन पर कुछ लेख अंकित हैं। इन लेखों की लिपि भी ब्राह्मी से भिन्न है।

इतिहासिक काल की सामग्री में अशोक के शिला-लेखों के पूर्व के केवल दो छोटे-छोटे लेख मिले हैं, एक अजमेर जिले के बड़ली (बर्ली) गाँव में और दूसरा नैपाल की तराई में पिप्रावा नाम के स्थान में। "पहला एक स्तंभ पर खुदे हुए लेख का टुकड़ा है, जिसकी पहली पंक्ति में *'वीर (ा) य भगव (त)'* और दूसरी में *'चतुरासिति'* व *(स)* खुदा है। इस लेख का ८४ वाँ वर्ष जैनों के अन्तिम तीर्थंकर वीर (महावीर) के निर्वाण संवत् का ८४ वाँ वर्ष होना चाहिए। यदि यह अनुमान ठीक हो तो यह लेख ई० पूर्व (५२७–८४) ४४३ का होगा। इसकी लिपि अशोक के लेखों की लिपि से पहले की प्रतीत होती है। इसमें *'वीराय'* का *'वी'* अक्षर है। उक्त *'वी'* में जो *'ई'* की मात्रा का चिह्न है वह न तो अशोक के लेखों में और न उनसे पीछे के किसी लेख में मिलता है, अतएव वह चिह्न अशोक से पूर्व की लिपि का होना चाहिये,

जिसका व्यवहार अशोक के समय तक मिट गया होगा और उसके स्थान में नया चिह्न व्यवहार में आने लग गया होगा। दूसरे अर्थात् पिप्रावा के लेख से प्रकट होता है कि बुद्ध की अस्थि शाक्य जाति के लोगों ने मिल कर उस स्तूप में स्थापित की थी। इस लेख को बूलर ने अशोक के समय से पहले का माना है। वास्तव में यह बुद्ध के निर्वाण-काल अर्थात् ई० पूर्व ४८७ के कुछ ही पीछे का होना चाहिए। इन शिला-लेखों से प्रकट है कि ई० पूर्व की पाँचवीं शताब्दी में लिखने का प्रचार इस देश में कोई नई बात न थी।" (गौ० ही० ओझा कृत प्राचीन लिपि-माला पृ० २, ३)।

भारत में लिपिज्ञान की प्राचीनता

ओझाजी ने ऊपर उल्लिखित ग्रन्थ में भारतवर्ष में लिखने के प्रचार की प्राचीनता के पुष्कल प्रमाण दिये हैं। बौद्ध त्रिपिटक में जहाँ-तहाँ लिखने के उल्लेख आए हैं। ब्रह्मजालसुत्त में बच्चों के खेल *अक्खरिका* का उल्लेख है। "इस खेल में खेलने वालों को अपनी पीठ पर या आकाश में (अंगुलि से) लिखा हुआ अक्षर बूझना पड़ता था।" लिखने की कला का उल्लेख अन्य-सूत्र-ग्रन्थों में भी मिलता है। त्रिपिटक के अधिकांश अंश का संकलन बुद्ध भगवान के निर्वाण के बाद ही हो गया था और यद्यपि इसमें बाद को कई बार संशोधन हुए पर सामग्री की दृष्टि से यह ई० पू० ५ वीं सदी के इधर की चीज़ नहीं। 'अक्षरों' का प्रयोग बच्चों के खेल में भी होने लगा हो, यह अवस्था लिपि के आविष्कार के सैकड़ों साल बाद ही संभव है जब लिखने की कला का काफ़ी प्रचार हो चुका हो।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में *लिपि, लिबि, ग्रन्थ* शब्दों का प्रयोग तथा *लिपिकर* और *यावनानी* शब्दों के बनाने के नियम पाए जाते हैं। *यवनानी* का अर्थ कात्यायन और पतंजलि ने 'यवनों की लिपि' किया है। पाणिनि ने स्वरित के चिह्न का भी उल्लेख किया है। अष्टाध्यायी से यह भी पता चलता है कि "उस समय चौपायों के कानों पर स्रुव, स्वस्तिक

आदि के और पाँच तथा आठ के अंकों के चिह्न भी बनाए जाते थे और उनके कान काटे तथा छेदे भी जाते थे।"

ऊपर भाषाविज्ञान के इतिहास का विवेचन करते समय हम देख चुके हैं कि भारतवर्ष में ध्वनियों और पदों के उच्चारण और रचना की चर्चा ब्राह्मण काल और उपनिषद् काल में काफ़ी पाई जाती है। छान्दोग्य उपनिषद् में 'अक्षर' शब्द मिलता है और ईकार, ऊकार और एकार संज्ञाएँ। तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्ण और मात्रा का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में ॐ अक्षर को अकार, उकार और मकार वर्णों के संयोग से बना हुआ बतलाया है। ये सभी ग्रन्थ यास्क और पाणिनि के पहले के माने जाते हैं। ऋग्वेद में गायत्री, उष्णिक् आदि छन्दों के नाम मिलते हैं। अथर्ववेद में एक जगह छन्दों की संख्या ११ लिखी है और तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक आदि संहिताओं में कई छन्दों और उनके पादों के अक्षरों की संख्या तक गिनाई है।

लिखना न जाननेवाला जनसमुदाय अपनी भाषा के व्याकरण का सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विचार कर ले और छन्दों का भी विश्लेषण कर ले परन्तु बिना लिखने की कला की मदद के, यह संभव नहीं प्रतीत होता।

भारतीय आर्य अंकों का लिखना जानते थे इस बात के तो और भी ज़ोरदार सबूत हैं। ऋग्वेद में हज़ार अष्टकर्णी गायों के दान का उल्लेख आता है। यहाँ अष्टकर्ण शब्द का यही अर्थ संभव है कि जिनके कर्ण पर आठ का अंक अंकित था। प्राचीन ग्रंथों में अयुत, प्रयुत आदि संख्याओं के नाम आए हैं जिनका ज्ञान लिखने के बिना संभव नहीं। समय के मुहूर्त, क्षिप्र आदि सूक्ष्म विभाग को भी लेख की मदद के बिना समझ पाना असंगत ही लगता है।

श्रुति को मौखिक सम्प्रदाय से स्थिर रखने के उपाय के कारण यह समझ लेना कि लिखने की कला का अज्ञान था, ठीक नहीं। आज भी कितनी ही चीज़ों को याद कर रखने का चलन है, यद्यपि लिखना भी साथ साथ मालूम है। बूलर इस अनुमान को मानते हैं कि वैदिक समय में भी लिखित पुस्तकें मौखिक शिक्षा की मदद के लिये काम में लाई

जाती थीं। यहाँ ताड़पत्र, भोजपत्र आदि लिखने की सामग्री प्राचीन काल से ही प्रकृति ने प्रचुर मात्रा में दे रक्खी थी और ई० पूर्व चौथी सदी में रूई से कागज़ बनाया जाने लगा था।

इस विवरण से यही एक निष्कर्ष संभव है कि भारतीय आर्य लोगों को लिखने की कला काफ़ी प्राचीन काल से मालूम थी। यदि ऋग्वेद के अन्तिम मंडल के सूक्तों को ई० पू० १२०० का भी मान लिया जाय तो उस समय भी यह कला भारतीयों को ज्ञात थी।

खरोष्ठी की उत्पत्ति

भारतवर्ष की प्राचीन लिपियाँ ब्राह्मी और खरोष्ठी हैं। अशोक के शहबाज़गढ़ी और मनसेहरा वाले लेख खरोष्ठी में हैं। अशोक के पूर्व का इस लिपि का कोई लेख नहीं मिलता। अशोक के पूर्व इस लिपि का एक-एक अक्षर ईरानी सिक्कों पर मिलता है जो ई०पू० चौथी सदी के माने जाते हैं। अशोक के पीछे भारत में यह लिपि बहुधा विदेशी राजाओं के ही सिक्कों और शिलालेखों में पाई गई है। इस लिपि के लेख ब्राह्मी के लेखों की अपेक्षा बहुत थोड़े हैं। प्रायः यह सभी भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश और पंजाब में ही पाए गए हैं, शेष भाग में ब्राह्मी के लेख हैं। खरोष्ठी दाईं से बाईं ओर को चलती है। इसके ११ अक्षर (क, ज, द, न, व, य, र, व, ष, स, ह, समान उच्चारणवाले अरमइक अक्षरों से बहुत कुछ मिलते हुए हैं। अनुमान है कि "ईरानियों के राज्यत्वकाल में उनके अधीन के हिन्दुस्तान के इलाकों में उनकी राजकीय लिपि अरमइक का प्रवेश हुआ हो और उसी से खरोष्ठी लिपि का उद्भव हुआ हो।" अरमइक में केवल २२ अक्षर थे। स्वरों की अपूर्णता थी और ह्रस्व और दीर्घ मात्राओं के भेद का अभाव। भारतीय भाषाओं की ज़रूरत के अनुसार यहाँ उसमें आवश्यक संशोधन और परिवर्धन कर लिए गए और वह राजकीय और व्यापारी काम-काज की लिपि बना ली गई। इस संशोधन के कर्त्ता शायद कोई खरोष्ठ नाम के आचार्य रहे हों। यह भी संभव है कि तक्षशिला में इसका प्रादुर्भाव हुआ हो। इस लिपि का

प्रचार पंजाब में तीसरी सदी ई० तक थोड़ा बहुत बना रहा। तब से यह यहाँ से सदा के लिये चल बसी।

ब्राह्मी की उत्पत्ति

इस लिपि के लेख इस देश में पाँचवीं सदी ई० पू० से मिलते हैं। भारत में यही सर्वश्रेष्ठ समझी जाती रही है। जैनों के पन्नवणासूत्र में और समवायगसूत्र में १८ लिपियों (बंभी, जवणालिया, दोसापुरिया, खरोष्ठी आदि) के नाम मिलते हैं। ललित-विस्तर सें ६४ लिपियों के नाम आए हैं, जिनमें प्रथम ब्राह्मी और द्वितीय खरोष्ठी है। शुद्धता और संपूर्णता की दृष्टि से ब्राह्मी और खरोष्ठी में आकाश-पाताल का अन्तर है।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों के मत दो विभिन्न धाराओं में बहे हैं, एक पक्ष विदेशी उत्पत्ति को प्रश्रय देता है, दूसरा इसको भारत की ही उपज मानता है। विदेशी उत्पत्ति माननेवाले विद्वानों में बहुत मतभेद है।

(क) विल्सन, प्रिंसेप, आफ्रैड मूलर, सेनार्ट आदि ने ब्राह्मी की उत्पत्ति ग्रीक लिपि या फ़ोनीशी लिपि से मानी थी। सेनार्ट का अनुमान था कि सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीयों ने ग्रीकों से लिखना सीखा। कस्ट का कहना है कि एशिया के पश्चिम भाग में रहनेवाले फ़ोनीशी व्यापारियों का भारत से वाणिज्य-सम्बन्ध था, उन्हीं से भारतीयों ने लिपिज्ञान प्राप्त किया होगा।

(ख) डीके का विचार है कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति असीरी कीलाक्षरों से किसी दक्खिनी सामी लिपि के द्वारा हुई है। कुपेरी नाम के एक फ्रेंच विद्वान का अनुमान था कि भारतीय लिपि चीनी लिपि से निकली होगी। परन्तु असीरी या चीनी लिपि को ब्राह्मी का उद्‌गम मानने के पक्ष में अब कोई विद्वान नहीं है।

(ग) विलयम जोंस, वेबर, टेलर, बूलर आदि विद्वानों ने ब्राह्मी की उत्पत्ति सामी के किसी न किसी (उत्तरी, दक्खिनी) रूप सें बतलाई

है। उत्तरी सामी लिपि के अरमी रूप का सम्बन्ध ईरान से हो गया था, इसको सभी मानते हैं। उसी ओर से यह भारत भी पहुँची होगी, ऐसा अनुमान किया जाता है। बूलर उत्तरी सामी से ही ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं। उन्हीं के मत को अब विदेशी उद्गम माननेवाले विद्वान अधिक श्रेय देते हैं।

खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति सभी लोग विदेशी स्रोत से, सो भी उत्तरी सामी से, समझते हैं। उसी से ब्राह्मी लिपि भी निकली हो जो खरोष्ठी से सर्वथा भिन्न है, और सो भी क़रीब-क़रीब एक ही समय में, यह बात गले नहीं उतरती। खरोष्ठी के वर्ण अधिकतर लम्बी और तिर्छी लकीरों के हैं, विकार की स्थूलता ऊपर के भाग में पाई जाती है, नीचे के भाग में केवल दो वर्णों में। उनमें गोलाकार कोई रूप नहीं है। वर्णों की आकृति और क़द नियमबद्ध से नहीं हैं। ये वर्ण दाईं से बाईं ओर चलते हैं। ब्राह्मी में नियमित लकीरें और गोल आकार हैं। इनमें विकार नीचे के भाग में पाया जाता है, ऊपर के में कम। वर्णों की आकृति सुन्दर और सुगठित है। स्वर-चिन्ह बहुधा ऊपर की ओर बेड़ी पाई से सूचित किए गए हैं। यह बाईं से दाईं ओर चलती हैं। दोनों में समानता का केवल एक लक्षण है, दो व्यंजनों के बीच के स्वर की स्थिति। पर यह समानता स्पष्ट ही खरोष्ठी में ब्राह्मी की नक़ल है। खरोष्ठी को लेखकों और व्यापारियों की लिपि और ब्राह्मी को सुशिक्षित समाज की लिपि बतला कर विभिन्नता का समाधान नहीं हो पाता। एक ही जनसमुदाय एक ही स्रोत से लेकर, लिपि के रूपों में इतने मौलिक भेद नहीं करता। प्रत्येक अक्षर में एक की दूसरे से कुछ तो समानता रहती।

सामी से ब्राह्मी की उत्पत्ति खोजते समय बूलर ने मनमानी अटकल लगाई है। कहा है कि भारतीयों ने कितने ही वर्णों को उलट दिया जिससे ऊपर का हिस्सा नीचे हो गया, कितनों में कोने निकाल दिए हैं और रुख़ बदलने से बहुतों की आकृति बदल गई। इस प्रकार की असंगत कल्पना करके तो कोई भी लिपि किसी अन्य लिपि से निकाली जा सकती है। सम्बन्ध स्थापित करने के लिए समान ध्वनि के लिए

समान संकेत होने चाहिए। खरोष्ठी के सामी से उधार लिए हुए २२ अक्षरों में से आठ (च, द, न, प, ब, र, व, श) उसी की तरह हैं, नौ (क, ख, ग, ज, म, य, ल, ष, ह) कुछ न कुछ मिलते-जुलते हैं, और किन्हीं अविद्यमान रूपों की कल्पना नहीं करनी पड़ती। ब्राह्मी के वर्णों में से केवल एक (ग) की कुछ समानता है, पाँच (अ, त, थ, ल, श) वर्णों में बहुत खींचतान करने से कुछ समानता झलक सकती है, और शेष बिल्कुल भिन्न है। खरोष्ठी के स्वर एक ही सामी अक्षर (अलिफ) पर निर्भर हैं। पर ब्राह्मी में अलग अलग संकेतों से ही स्वरों का बोध कराया गया है। ध्वनियों का सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन कर लेनेवाला आर्य ब्राह्मण इस प्रकार अपनी लिपि में स्वर और व्यंजन का भेद न दिखा सकता और अधपढ़ा खरोष्ठी व्यापारी या लेखक इस ध्वनिविज्ञान के सिद्धान्त को अपनी लिपि में समाविष्ट कर लेता, यह तर्क उपहासास्पद ही हो सकता है।

टेलर दक्खिनी सामी से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं। वह ब्राह्मी व को सामी य, से, घ को सामी ख से ज को ष से, छ को क़ से निकला हुआ कहते हैं। इस प्रकार तो टेलर की निज भाषा की लिपि को देवनागरी से निकाला जा सकता है, और शायद कुछ अधिक सफल तर्कों के द्वारा !

असल बात तो यह है कि ब्राह्मी लिपि "भारतवर्ष के आर्यों की अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वाङ्ग सुन्दरता से चाहे इसका कर्त्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो" और चाहे ब्रह्म (ज्ञान) की रक्षा के लिए सर्वोत्तम साधन होने के कारण इसको यह नाम दिया गया हो। इस देश में इसकी विदेशी उत्पत्ति का सूचक कोई प्रमाण नहीं मिलता। सिकन्दर के समय से ग्रीक, चीनी, अरबी आदि कितने ही विदेशी यात्री आए, किसी ने यह न कहा कि यहाँ की लिपि विदेशी है। ब्राह्मी के इस देश की उपज होने के पक्ष में एडवर्ड टामस, डासन और कनिंघम का मत है। इस पक्ष के समर्थन का पथप्रदर्शन श्रद्धेय मनीषी गौरीशंकर

हीराचन्द ओझा ने किया था। डा० तारापुरवाला का विचार है कि ब्राह्मी लिपि का आदि रूप हैदराबाद में पाए गए प्रागैतिहासिक काल के बर्तनों पर के संकेतों को समझना चाहिए। वह पेट्री के इस मत का कि मिस्र, ग्रीस और अरब आदि की लिपियाँ पूर्ववर्ती व्यापारी संकेतों से निकली हैं, चित्रलिपि आदि से नहीं, समर्थन करते हैं और समझते हैं कि उसी प्रकार ब्राह्मी लिपि भी स्वतंत्र भारतीय संकेतों से विकसित हुई है। पर दोनों में इतना कम साम्य है कि ब्राह्मी को हैदराबाद संकेत चिह्नों से निकालना क्लिष्ट कल्पना ही होगी। जब तक ब्राह्मी लिपि से मिलते-जुलते ई० पू० पाँचवीं सदी से पहले के कोई लेख न मिलें तब तक ब्राह्मी के पूर्वरूप के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना निश्चय है कि किसी भी ज्ञात विदेशी लिपि से नहीं निकली।

पिप्रावा, बड़ली और अशोक की लिपि में परस्पर कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है परन्तु अशोक के समय के बहुत पीछे वाले भट्टिप्रोलु के स्तूप के लेखों की लिपि में पिप्रावा, बड़ली, अशोक की लिपि से बहुत कुछ भिन्नता पाई जाती है। इससे अनुमान होता है कि यह दक्षिण की लिपि उत्तर के लेखों की लिपि से नहीं निकली और उत्तरी तथा दक्खिनी दो लिपिभेद किसी पूर्ववर्ती ब्राह्मी लिपि के परकालीन रूप हैं। संभव है कि यह दक्खिनी लिपि वही हो जिसका नाम ललितविस्तर में द्राविड़ लिपि आया है। भट्टिप्रोलु का स्तूप मद्रास प्रान्त के कृष्णा ज़िले में पाया गया है। जैनसूत्रों और ललितविस्तर में उल्लिखित अन्य लिपियों के लेख अभी तक नहीं मिले, इसलिए उनके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता।

ई० पू० ५०० के निकट से ई० ३५० तक के लेखों को सामान्य नाम ब्राह्मी दिया जाता है। इसके बाद ब्राह्मी लिपि के लिखने के दो प्रवाह दिखाई देते हैं, उत्तरी और दक्खिनी। उत्तरी शैली का प्रचार प्रायः विन्ध्यपर्वत के उत्तर में और दक्खिनी का उसके दक्खिन में रहा है। उत्तरी की नीचे लिखी लिपियाँ हैं।

१. **गुप्त लिपि**—इसका प्रकार ई० चौथी-पाँचवीं सदी में रहा।

गुप्तवंशी राजाओं के लेख इसी में हैं, इसलिये इसका यह नाम रक्खा गया है।

२. **कुटिल लिपि**—यह गुप्त लिपि से निकली और इसका प्रचार छठी से नवीं सदी ई० तक रहा। इसके अक्षरों और विशेषकर स्वरों की मात्राओं की कुटिल आकृति के कारण इसको यह नाम दिया गया है।

३. **नागरी**—उत्तर में इसका प्रचार ई० नवीं सदी के आस-पास से मिलता है पर दक्खिन में आठवीं सदी से ही आरंभ होकर १६ वीं सदी के पिछले भाग तक मिलता है। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से बँगला लिपि निकली। नागरी से ही कैथी, महाजनी, राजस्थानी और गुजराती लिपियाँ भी निकली हैं। दक्खिन में इसको नंदिनागरी कहते हैं।

४. **शारदा**—इस लिपि का प्रचार भारत के उत्तर पच्छिमी भाग (पंजाब कश्मीर) में रहा। ८ वीं सदी तक वहाँ कुटिल लिपि का प्रचार था। बाद को उसी से शारदा बनी। शारदा का सबसे पुराना लेख १० वीं सदी ई० का समझा जाता है। इसी लिपि से वर्तमान कश्मीरी और टाकरी लिपियों की उत्पत्ति हुई और गुरुमुखी के अधिकतर अक्षर भी इसी से निकले हैं।

५. **बँगला**—इसका विकास नागरी लिपि से १० वीं सदी ई० के आस-पास हुआ। इससे **नैपाली,** वर्तमान **बँगला, मैथिली,** और **उड़िया** लिपियाँ निकली हैं।

उत्तरी के अतिरिक्त ब्राह्मी के अन्य रूप निम्नलिखित हैं।

१. **पश्चिमी**—यह लिपि काठियावाड़, गुजरात, नासिक, खानदेश, हैदराबाद, कोंकण, मैसूर आदि के लेखों में ५ वीं से ९ वीं सदी तक मिलती है। पाँचवीं सदी के आस-पास इसका कुछ-कुछ प्रवेश राजपूताना और मध्य भारत में भी पाया गया है। पच्छिमी प्रदेश में मिलने के कारण ही इसका यह नाम रक्खा गया है।

२. **मध्यप्रदेशी**—यह लिपि मध्यप्रदेश हैदराबाद के उत्तरी भाग, और बुंदेलखंड में, ५वीं से लेकर ८वीं सदी ई० तक मिलती है। इस

लिपि के अक्षरों के सिर चौखूँटे या संदूक की आकृति के होते हैं जो भीतर से बहुधा खाली पर कभी-कभी भरे हुए हैं।

३. **तेलगू-कन्नड़ी**—यह लिपि बंबई प्रान्त के दक्खिनी भाग में, हैदराबाद राज्य के दक्खिनी हिस्से में, मैसूर में तथा मद्रास प्रान्त के उत्तर-पूर्वी हिस्से में ५वीं सदी ई० से मिलती है। १४ वीं सदी तक इसके कई रूपान्तर हुए। इसी से वर्तमान तेलगू और कन्नड़ी लिपियाँ निकलीं, इससे यह नाम पड़ा।

४. **ग्रन्थलिपि**—यह लिपि मद्रास में पाई गई। ७ वीं से १५ वीं सदी तक कई रूपान्तर होते होते इससे वर्तमान ग्रंथलिपि बनी और उससे वर्तमान मलयालम् और तुलु लिपियाँ निकलीं। मद्रास के जिन हिस्सों में तमिल लिपि का प्रचार है, वहाँ भी संस्कृत के ग्रंथ इसी में लिखे जाते हैं, इसी से शायद इसका यह नाम पड़ा।

५. **कलिंगलिपि**—इसके लेख ७ वीं से ११ वीं सदी तक मिलते हैं। प्राचीन लेख मध्यप्रदेशी लिपि से और पिछले नागरी, तेलगू, कन्नड़ी और ग्रंथलिपि से मिलते हैं।

६. **तमिललिपि**—७ वीं सदी से बराबर आज तक तमिल ग्रंथ इसी लिपि में मिलते हैं। इसके अक्षर अधिकतर ग्रन्थलिपि से मिलते-जुलते हैं। वर्तमान तमिललिपि इसी से विकसित हुई है। तमिल का ही घसीट का एक रूप बट् टेळुत्तु है। इसका १४ वीं सदी तक प्रचार रहा।

नागरी लिपि

नागरी लिपि की प्रभुता भारतवर्ष में ८ वीं सदी से इधर बराबर रही है। इस उत्तरी लिपि का सर्वप्रथम प्रयोग दक्खिन में मिला यही इसका प्रमाण है। आज संस्कृत के ग्रंथों को लिखने और छापने के लिए सर्वत्र और मराठी तथा हिन्दी भाषाओं के लिए सर्वथा इसी का व्यवहार होता है। नैपाल की यही राजलिपि है। मिथिला और बंगाल में भी इसका आदर है। भारत की यही राष्ट्रलिपि है।

नागरी लिपि में बराबर विकास होता रहा है। १०वीं सदी की लिपि में "अ, आ, घ, प, म, य, ष, स के सिर दो हिस्सों में विभक्त मिलते हैं, पर ११वीं सदी से ये दोनों अंश मिलकर सिर की एक लकीर बन जाते हैं और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लम्बा रहता है जितनी कि अक्षर की चौड़ाई होती है।" ११ वीं सदी की नागरी, वर्तमान नागरी से मिलती-जुलती है और १२ वीं सदी से वर्तमान रूप स्थिर-सा मिलता है, केवल इ और ध की आकृति में पुरानापन नज़र आता है और ए, ऐ, ओ औ की मात्राओं में कुछ अन्तर पाया जाता है। पिछले सौ साल में छापे की सुविधा ने संयुक्त व्यंजनों के ऊपर-नीचे के सम्मिलित रूपों (च्च; क्क, क्व) आदि को हटाकर (च्च, क्क, क्व) आदि आगे-पीछे लिखे हुए रूपों को प्रश्रय दिया है।

वर्तमान नागरी लिपि में वर्णों का अंकन ध्वनियों के क्रम से होता है, केवल इ की मात्रा (ि) और रेफ (र्) अपवाद हैं। उ, ऊ, ऋ की मात्राएँ (ु, ू, ृ) वर्णों के नीचे और ए, ऐ, ओ, औ, की (े, ै, ो, ौ,) मात्राएँ वर्णों के ऊपर लिखी जाती हैं। जिन व्यंजनों (ङ्, छ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, द्, ह्) में खड़ी पाई स्पष्ट अन्तिम अंश नहीं है, उनमें संयुक्त व्यंजनों को ऊपर नीचे लिखने का क्रम अब भी जारी है। रकार के तीन रूप (र, र्, ्र) मिलते हैं। ख का कभी कभी र व से विभ्रम हो जाता है। ह्रस्व एँ, ओं के लिए व्यतिरिक्त वर्ण और मात्राएँ नहीं है। इन त्रुटियों की ओर विद्वानों का ध्यान गया है और इन्हें दूर करने का उद्योग किया जा रहा है।

नागरी नाम की व्युत्पत्ति का अभी तक निश्चय नहीं हो सका है। इसका नागर ब्राह्मणों या नागर अपभ्रंश से संबंध होना सन्दिग्ध ही है। दक्खिन में इसे नन्दिनागरी कहते थे, इससे नन्दिनगर नाम की किसी राजधानी का आभास मिलता है। शाम शास्त्री ने एक "लेख में यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि देवताओं की मूर्तियाँ बनने के पूर्व उनकी उपासना सांकेतिक चिह्नों द्वारा होती थी जो कोई त्रिकोण तथा चक्रों आदि से बने हुए मन्त्र के, जो 'देवनगर' कहलाता था, मध्य में

लिखे जाते थे। देवनगर के मध्य लिखे जानेवाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न कालान्तर में उन-उन नामों के पहले अक्षर माने जाने लगे और देवनगर के मध्य उनका स्थान होने से उनका नाम 'देवनागरी' हुआ।" यह नहीं कह सकते कि यह कल्पना कहाँ तक ठीक है।

उर्दू और रोमन

ब्राह्मी लिपि से विकसित लिपियों के अलावा, हमारे देश में उर्दू और रोमन लिपियाँ भी वर्तमान हैं और दोनों दो विभिन्न राज-सत्ताओं की सूचक हैं। उर्दू लिपि अरबी के फ़ारसी रूपान्तर में आवश्यक भारतीय ध्वनियों के लिए संकेतों का समावेश करके बनी है। इसमें दो गुण हैं, द्रुतगति और दाईं से बाईं ओर चलना। इसलिए लिखने में सहूलियत होती है। पर इसमें पूर्व लिखित अंश के आँखों से छिप जाने की भी संभावना रहती है। द्रुतगति के कारण स्पष्टता में बहुत कमी आ जाती है और कभी-कभी कुछ का कुछ पढ़ लिया जाता है। दो कथित गुणों के होने पर भी उर्दू लिपि में कई दोष हैं। स्वरों को अंकित करने का कोई साधन नहीं। यदि ज़ेर, ज़बर, पेश के चिह्न लगावें तब भी भारतीय भाषाओं के सभी स्वर अंकित नहीं हो पाते और विभ्रम रह जाता है। अच्छी लिपि में एक ध्वनि को अंकित करने के लिए एक ही संकेत होना चाहिए। उर्दू में एक-एक ध्वनि के लिए तीन-तीन, चार-चार वर्ण हैं (स के लिए से, स्वाद और सीन, त के लिए ते, तोय, ह के लिए छोटी हे और बड़ी हे, ज़ के लिए ज़ाल, ज़े, ज्वाद, ज़ोय)। इन वर्णों के प्रतिरूप अरबी भाषा में ध्वनियाँ अलग-अलग हैं, परन्तु उर्दू में नहीं। इन अपूर्णताओं के रहते, उर्दू नागरी के मुकाबिले में नहीं ठहर सकती। इस लिपि का व्यवहार अब सिन्ध, पश्चिमोत्तर प्रदेश, तथा पंजाब में विशेष और संयुक्तप्रान्त के पश्चिमी भाग में थोड़ा बहुत है, अन्यत्र पिछली सदी की फ़ारसी संस्कृति से आक्रान्त कतिपय मनुष्यों में ही यह सीमित है। भारत में यह घट रहा है।

रोमन विगत राजतंत्र की राज-लिपि थी और अभी चल रही है।

इसका विशेष गुण इसकी ध्वन्यात्मकता है (देवनागरी आदि लिपियाँ अक्षरात्मक हैं)। भारतीय भाषाओं को अंकित करने के लिए सुनीति कुमार चटर्जी ने इंडो-रोमन नाम का, रोमन का ही एक संशोधित रूप उपस्थित किया है। पर इसके भारतीय जनता द्वारा स्वीकृत होने की कोई संभावना नहीं जान पड़ती। भारत की राष्ट्रलिपि देवनागरी है। रोमन अथवा उर्दू रियायत के तौर पर थोड़े दिन और भले ही चला दी जायँ।

दूसरा खण्ड

उन्तीसवाँ अध्याय

विविध भाषापरिवार

वर्णन की सुविधा के लिए संसार की भाषाओं को चार चक्रों में बाँटा जाता है—(क) उत्तरी और दक्खिनी अमरीका, (ख) प्रशांत महासागर के द्वीप, (ग) अफ़्रीका और (घ) यूरोप-एशिया। इस अध्याय में पहले तीन चक्रों की भाषाओं का विवेचन किया जायगा।

अमरीका चक्र

इस चक्र के अंतर्गत अमरीका महाद्वीप के सभी (उत्तरी, दक्खिनी और मध्य) भागों के मूल निवासियों द्वारा बोली जाने वाली भाषाएँ आती हैं। ईस्वी १५वीं सदी के अंत में यूरोप से एक जहाज़ भारतवर्ष की खोज करता हुआ, भ्रम से चक्कर खाकर यहाँ पहुँच गया और तभी से यहाँ के मूलनिवासियों का नाम 'इंडियन' पड़ गया। अनुमान है कि कोलम्बस के समय समस्त मूलनिवासियों की संख्या चार-पाँच करोड़ रही होगी, जो अब घटते-घटते डेढ़ करोड़ रह गई है। यूरोपीय साम्राज्य का यही प्रभाव प्रशान्त महासागर के द्वीपों के और अफ़्रीका के मूल-निवासियों पर भी पड़ता रहा है। इन लोगों में लिखने का कोई रिवाज नहीं था। विशेष घटनाओं की याद, रंग-बिरंगी रस्सियों में गाँठें बाँध कर रक्खी जाती थी। पत्थरों, घोंघों पर तथा चमड़े आदि पर भी कुछ भाँति-भाँति के चित्र और निशान बने मिलते हैं पर इनका कोई अर्थ नहीं निकलता। और जो निकलता भी होगा उसे मूलनिवासी बताते नहीं। तथापि नहुअत्ल और मय भाषाओं में अब लिपि मिलती है। मय भाषा की पुस्तकों में बहुधा साथ ही साथ स्पेनी भाषा में अनुवाद भी मिलता है

तुलनात्मक व्याकरण के, और बहुधा अन्य व्योरेवार ग्रन्थों के अभाव में इन भाषाओं के विषय में विशेष विवरण नहीं दिया जा सकता। इनमें क्लिक और महाप्राण ध्वनियाँ मिलती हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन मूलनिवासियों की जातियाँ इधर उधर आती जाती रही हैं और एक-दूसरी पर आधिपत्य पाती रही हैं। इसीलिए भाषा-संबंधी सामान्य लक्षणों के साथ साथ विशेषताओं का बड़ा भारी घोल-मेल मिलता है। कभी-कभी कोई कोई बोली इतनी ज़ालिम साबित हुई है कि उसने जीती हुई जातियों की बोलियों को बर्बाद ही कर दिया है। कोलम्बस के आगमन के पहले, दक्खिनी अमरीका में इंका नाम के साम्राज्य की राजभाषा कुइचुआ थी। स्पेनी विजेताओं ने इसी को मूलनिवासियों के बीच ईसाई धर्म के प्रचार के माध्यम के रूप में इस्तेमाल किया। इसी प्रकार विस्तृत क्षेत्र में होने के कारण गुअर्नी-तुपी का भी प्रयोग ईसाई पादरियों ने धर्म-प्रचार के लिए किया। परस्पर जय-पराजय के प्रभाव-स्वरूप ही करीब और अरोवक भाषाओं की स्थिति है जिसका उल्लेख ऊपर (पृ० १६२ पर) किया जा चुका है। अरोवक जाति पर करीब जाति ने विजय प्राप्त कर ली और उसके पुरुषवर्ग को या तो बीन बीन कर मार डाला या दूर भगा दिया। स्त्रियों को रख लिया। ये बराबर अरोवक ही बोलती रहीं। बाद की पीढ़ियाँ भी इसी प्रकार दोनों भाषाएँ अब तक बोलती चली आ रही हैं और पुरुषवर्ग की **करीब** पर ही स्त्रीवर्ग की **अरोवक** का प्रभाव पड़ता दिखाई देता है।

इन भाषाओं के बारे में अभी विशेष अनुसंधान नहीं हो पाया है तब भी इनको कई परिवारों में बाँट सकते हैं। अनुमान है कि इन परिवारों की संख्या सौ सवा सौ के करीब है। प्रायः इन सभी भाषाओं में एक सामान्य लक्षण प्रश्लिष्ट योगात्मक के रूप में पाया जाता है। इनमें बहुधा पूरा पूरा वाक्य ही एक लम्बे शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है। संस्कृत की तरह विभिन्न पदों को जोड़ कर यह समास के रूप में नहीं होता बल्कि हर पद का एक-एक प्रधान अक्षर या ध्वनि लेकर सबको एक साथ मिला देते हैं। चेरोकी भाषा के पद *नधोलिनिन्* (हमारे लिए

डोंगी लाओ) में इसी प्रकार तीन शब्द *नतेन्* (लाओ), *अमोखोल्* (नाव, डोंगी), और *निन्* (हम को) मिले हुए हैं। कभी कभी इस प्रकार एक दर्जन शब्द तक एक पद के रूप में उपस्थित पाए जाते हैं और उन सभी शब्दों का पदार्थ एक साथ वाक्यार्थ के रूप में श्रोता को मालूम हो जाता है। स्वतंत्र शब्दों का प्रयोग इन भाषाओं में बहुत कम है।

इस चक्र की सभी भाषाएँ जंगली नहीं है। इन जातियों में से किसी किसी ने साम्राज्य स्थापित किए। मेक्सिको के साम्राज्य का अंत सोलहवीं सदी में यूरोप वालों ने पहुँच कर किया। वहाँ की **मय** और **नहुअत्ल** भाषाएँ संस्कार की हुई सी हैं और उनमें साहित्य भी मिलता है।

इस चक्र की भाषाओं का वर्गीकरण प्राय: भूगोलिक आधार पर किया जाता है जो चाहे बिल्कुल यथातथ्य न हो तब भी सुविधा का है।

	देश नाम	भाषा नाम
उत्तरी अमरीका	ग्रीनलैंड	**एस्किमो**
	कनाडा	**अथबस्की** (समूह)
	संयुक्त राज्य	**अलगोनकी** (आदि)
		नहुअत्ल (प्राचीन)
	मेक्सिको	**अज़तेक्** (वर्तमान)
	युकतन	**मय**
दक्खिनी अमरीका	उत्तरी प्रदेश	**करीब, अरोबक**
	मध्य प्रदेश	**गुअर्नी तुपी**
	पच्छिमी प्रदेश	**अरौकन, कुइचुआ** (पेरु और चिली)
	दक्खिनी प्रदेश	**चको, तियरा देल् फूगो**

इसमें से **तियरा देल फूगो** भाषा और उसके बोलने वाले लोग दोनों, संसार में सबसे अधिक संस्कृति-हीन माने जाते हैं। **एस्किमो** के बारे में कुछ विद्वानों का मत है कि यह उराल-अल्ताई परिवार की है।

प्रशांत महासागर चक्र

इस चक्र की भाषाएँ प्रशान्त महासागर और हिन्द महासागर के समस्त द्वीपों में, अफ्रीका के दक्खिन-पूरब में स्थित मडगैस्कर द्वीप से लेकर चाइल के पच्छिम में स्थित ईस्टर द्वीप तक फैली हुई हैं। इनके अंतर्गत भाषा-समूहों के नाम बहुधा भूगोलिक नामों पर रक्खे गए हैं। इन सभी समूहों की पद-रचना और वाक्य-रचना में विचित्र समानता मिलती है और ध्वनि-विभिन्नता भी ऐसी है जिससे भाषा की समानता में कोई बाधा नहीं पड़ती। धातुएँ प्राय: द्वयक्षर होती हैं, बलाघात प्राय: इनमें से प्रथम अक्षर पर दिया जाता है। अनुमान किया जाता है कि द्वयक्षर धातु किसी समय एकाक्षर रही होगी। क्रिया में उपसर्ग, प्रत्यय और मध्यविन्यस्त प्रत्यय मिलते हैं। संज्ञा में न लिंगभेद होता है और न उसके रूप ही चलते हैं।

प्रशान्त महासागर द्वीप-चक्र में बहुत-सी भाषाएँ हैं और उनके अन्तर्गत सैकड़ों बोलियाँ हैं। इनमें से बहुत कम साहित्यिक हैं, केवल मलाया (सुमात्रा, जावा) की भाषा में कुछ साहित्य है। प्राय: ये सभी भाषाएँ योगात्मक अश्लिष्ट आकृति की हैं, जो नहीं हैं और अयोगात्मक अवस्था को पहुँच गई हैं उनकी भी पूर्व अवस्था के योगात्मक होने के प्रमाण मौजूद हैं। सारे चक्र की भाषाओं को पाँच परिवारों में विभाजित किया गया है—(१) **मलायाई** या **इंडोनेशियाई** परिवार, (२) **मलेनेशियाई** परिवार, (३) **पॉलीनेशियाई** परिवार (४) **पापुआई** परिवार, (५) **आस्ट्रेलियाई** परिवार। इनमें से पहले तीन बड़े परिवार हैं और बाक़ी दो छोटे। पहले तीन को कभी-कभी एक वृहत्तर परिवार, **मलाया-पॉलीनेशियाई** नाम से, माना जाता है और कभी-कभी पाँचों को यही **मलाया-पॉलीनेशियाई** नाम या **आस्ट्रो-नेशियाई** नाम दिया जाता है। इन पाँचों का स्रोत एक ही है। पहले तीन आकृति के हिसाब से तीन विभिन्न अवस्थाओं में हैं। मलाया भाषाएँ उपसर्ग और प्रत्यय जोड़ने वाली योगात्मक अश्लिष्ट अवस्था में हैं।

संज्ञा की विभक्तियाँ उपसर्ग जोड़कर बनती हैं। धातु के बीच में भी प्रत्यय जोड़ा जाता है। धातु प्रायः दो अक्षरों की होती है और उसमें एक या अनेक प्रत्यय बीच में जोड़े जा सकते हैं। फ़िलिप्पाइन द्वीप में बोली जाने वाली *टगल* भाषा में *सुलत्* का अर्थ है *लिखना।* इसी धातु से *सुनुलत्* (तुमन्त रूप—लिखना), *सुंगमुलत्* (लिखा) और *सिनुलतन्* (लिखा गया) शब्द बीच में एक या अनेक प्रत्यय जोड़ कर बने हैं। मलेनेशियाई भाषाओं में योगात्मक अवस्था का ह्रास और वियोगात्मक की वृद्धि स्पष्ट दिखाई देती है। इनमें कुछ में उपसर्ग जुड़ते हैं और क्रियाओं के अन्त में सर्वनाम जोड़ कर क्रियापद बनते हैं, पर अधिकांश में स्वतन्त्र शब्दों से भाषा का काम चलता है। पालीनेशियाई भाषाओं को तो योगात्मक कहना अनुचित ही होगा क्योंकि ये प्रायः सम्पूर्णरूप से वियोगात्मक अवस्था को पहुँच चुकी हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मलाया से पालीनेशिया तक पहुँचने में, बीच की पापुआई भाषाओं के प्रभाव के कारण ही अयोगात्मक अवस्था हो गई है।

इन तीनों परिवारों का एक समान लक्षण अभ्यास है। उदाहरण के लिए मलयाई भाषा में *रज* (राजा), *रज-रज* (बहुत से राजा), पॉलीनेशियाई की माओरी भाषा में *हैरे* (जाना), *हैरे हैरे* (ऊपर नीचे चलना) हवाई की भाषा में *हुलि* (ढूँढना) और *हुलि हुलि* अच्छी तरह ढूँढना। तीनों परिवारों का शब्द-समूह भी परस्पर सम्बद्ध है।

मलाया (**इंडोनेशियाई**) परिवार की भाषाओं के बोलनेवालों की संख्या पाँच करोड़ से ऊपर है। इनमें से **मलाया** (मलाया और सुमात्रा में), **जावी** भाषा (जावा के तीन चौथाई अर्थात् प्रायः दो करोड़ लोगों की भाषा), **सुन्दियन** (जावा के बाक़ी एक चौथाई, कोई पौन करोड़ लोगों की भाषा), **दयक** (बोर्नियो की), **टगल** (फ़िलि-प्पाइन की), **फारमोसी** (फ़ारमोसा की) तथा **मलगसी** (जिसे **होवा** भी कहते हैं, मडगैस्कर की) मुख्य हैं। सुमात्रा और मडगैस्कर में

३००० मील से भी ज्यादा का फ़ासला है, तब भी इन दोनों की भाषाएँ समान और एक ही परिवार की हैं, यह बड़े अचरज की बात है। न मालूम कितने हज़ार बरसों का इतिहास इनकी पृष्ठभूमि में है।

जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीप किसी समय भारत के उपनिवेश थे और इनमें संस्कृत भाषा का प्रभुत्व था। यहाँ के नगरों, व्यक्तियों आदि के नाम बहुधा संस्कृत के आश्रय पर बने मिलते हैं। **कवि** का वास्तविक अर्थ है 'कवियों की भाषा'। इस सारे प्रदेश में भाषा के दो, रूप पाए जाते हैं--एक साहित्यिक, राजकीय और उच्चवर्ग का, दूसरा नीचे के वर्ग का। जावा की उच्चवर्गीय भाषा का नाम **क्रोमो** और निम्न वर्गवाली का **न्गोको** है। (देखिए पृ० १८९)। कवि साहित्यिक भाषा है जिसके ई० ८०० तक के पुराने लेख मिलते हैं, यह अब प्राचीन रूप में ही मिलती है। सामान्य रूप से कह सकते हैं कि इंडोनेशियाई भाषाओं में व्यंजनों की स्थिरता वर्तमान है। संस्कृत, अरबी, पुर्तगाली, डच, फ़ारसी, द्राविड़ और चीनी आदि भाषाओं के शब्द इन भाषाओं में पाए जाते हैं। और दो दो भाषाओं के शब्दों का अजीब घालमेल है जैसे *शपथ-मंगमंग* (शाप), *जवाहर-मनिकम* (रत्न)। सुमात्रा, जावा, बाली में सर्वत्र और जावा में विशेष रूप से सैकड़ों व्यक्तियों के और बीसियों स्थानों के नाम संस्कृत से बने हुए मिलते हैं--*सोएरकर्त* (सूर्यहृक्त), *जोग्यकर्त* (अयोध्याकृत), *ब्रोर्मा* (ब्रह्मा), *वोनोसोबा* (वनसभा), *बिरपोएस्तक* (वीर पुस्तक), *बोएदिदर्म* (बुद्धिधर्म), *जसविदग्द* (यशोविदग्ध), *सोकर्नो* (सुकर्ण)। गनती में दशम नियम है। समभिहार के लिए कभी कभी शब्द का कई बार अभ्यास कर दिया जाता है, जैसे--*इगि* (बहुत) से *इगि-इगि-इगि-इगि* (बहुत बहुत अधिक)। लिपियाँ भारतीय (देवनागरी), अरबी और रोमन ही प्रयोग में आती हैं।

मलेनेशियाई परिवार की भाषाएँ प्रशान्त महासागर के फ़ीजी आदि छोटे छोटे द्वीपों में बोली जाती हैं। इस परिवार की कुछ भाषाओं में एकवचन के अलावा द्विवचन और त्रिवचन भी हैं। इनमें फ़ीजी

की भाषा मुख्य है और इसकी गठन मलाया भाषा से बहुत मिलती है। गिनती किसी द्वीप में चार पर, कहीं दस पर और कहीं कहीं बीस पर निर्भर है। लायल्टी द्वीप में 'बीस' और 'मनुष्य' का द्योतक एक ही शब्द होता है क्योंकि मनुष्य के हाथ-पैरों में मिलाकर बीस ऊँगलियाँ होती हैं। सर्वनाम का वाच्य पुरुष को समाविष्ट करने वाला एक रूप और व्यतिरिक्त वाला दूसरा रूप होता है।

पॉलिनेशियाई भाषापरिवार में **माओरी** (न्यूज़ीलैंड की), **टोंगी, समोअई** तथा **हवाई** (हवाई द्वीप की) प्रधान हैं। दूसरों की अपेक्षा इस परिवार की भाषाओं के बोलने वाले लोग अधिक सभ्य हैं। भाषा के अध्ययन की दृष्टि से भी इन भाषाओं का महत्त्व है। पॉलीनेशियाई भाषाएँ मलेनेशिया के पूरब और दक्खिन में पाई जाती हैं। समोआ कुक, न्यूज़ीलैंड, हवाई आदि द्वीपों की भाषाएँ इसी परिवार के अन्तर्गत हैं। पॉलीनेशी परिवार का इंडोनेशी (मलाया) परिवार से घनिष्ठ सम्बन्ध है, पर पॉलीनेशी में प्रायः व्यंजनों का लोप पाया जाता है, जैसे मलाया का *अकर* (जड़), न्यूजीलैंड की माओरी भाषा में *अक* और हवाई में *अअ* पाया जाता है। इस परिवार में संयुक्त (मिश्र) स्वरों तथा संयुक्त व्यंजनों का नितान्त अभाव है। गिनती दशम नियम की है। एकवचन, द्विवचन और बहुवचन होते हैं। सर्वनाम के भी मलेनेशिया की तरह दो रूप होते हैं। पॉलीनेशिया की जनसंख्या निरन्तर कम होती जा रही है।

पापुआई परिवार की भाषाएँ मलाया और पॉलीनेशिया के बीच के न्यूगिनी आदि छोटे-छोटे द्वीपों की हैं और अधिकतर योगात्मक अश्लिष्ट आकृति की हैं। उपसर्ग और प्रत्यय जुड़ते हैं। उदाहरण के लिए न्यूगिनी की मफ़ोर भाषा में *जम्नफ़* (मैं सुनता हूँ), *ब-म्नफ़* (तू सुनता है), *इ-म्नफ़* (वह सुनता है), *सी-स्नफ़* (वे सुनते हैं) *ज-म्नफ़उ* (मैं तेरी बात सुनता हूँ), *सि-स्नफ़ि* (वे उसकी बात, सुनते हैं)।

आस्ट्रेलियाई परिवार की भाषाएँ आस्टेलिया के सभी प्रदेशों

में मूल निवासियों द्वारा बोली जाती हैं और एक ही स्रोत से निकली हैं। ये अंत में प्रत्यय जोड़ने वाली योगात्मक अश्लिष्ट आकृति की हैं इस कारण कुछ लोग इन्हें द्राविड़ भाषाओं से संबद्ध समझते थे। इस परिवार की **टस्मेनिया** भाषा अब समाप्त हो चुकी। और भाषाएँ भी जंगली जातियों की हैं। यूरोपीय उपनिवेशों के कारण इन मूल निवासियों का जीवन संकटमय है और पशु-पक्षियों की तरह ये दिन-प्रति-दिन मौत के गड्ढे में गिरकर विलुप्त होते जाते हैं। सारे आस्ट्रेलिया महाद्वीप की जन-संख्या अस्सी लाख है, इसमें ये मूल निवासी केवल पचास साठ हज़ार रह गए हैं।

अफ़्रीका चक्र

इस महाद्वीप में बुशमैन (गुल्म निवासी) परिवार, बांटू परिवार, सूडान परिवार तथा सामी-हामी परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं।

अमरीका चक्र की भाषाओं की अपेक्षा अफ्रीका चक्र के मूल-निवासियों की भाषाएँ अधिक उन्नत और समृद्ध हैं। इस चक्र में समस्त उत्तर प्रदेश में सामी भाषाओं का आधिपत्य प्रायः दो हज़ार वर्षों से रहा है। और इधर दो-तीन सौ साल से दक्खिन के कोने पर और समस्त पच्छिमी किनारे पर यूरोपीय जातियों ने कब्ज़ा करके इन मूलनिवासियों को महाद्वीप के भीतरी भागों की ओर खदेड़ दिया है। सभ्यता का प्रकाश लाने वाली इन सामी और यूरोपीय जातियों ने इन पूर्व निवासियों को भेड़-बकरी से ज़्यादा नहीं समझा। समस्त अफ्रीका में ये आदि निवासी अब भी इस गई-गुज़री हालत में क़रीब दस करोड़ के हैं। इससे अमरीका चक्र के डेढ़ करोड़ की तुलना से ही यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन अफ्रीका वालों में अधिक स्थामशक्ति है। अनुमान किया जाता है कि पिछले चार-पाँच सौ सालों में इन आदि निवासियों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुए। आज अफ्रीका यूरोपीय साम्राज्य के चंगुल में है। विविध राष्ट्र लूट-खसोट कर रहे

हैं। बढ़िया बढ़िया उपजाऊ धरती छीन रक्खी है, सारा व्यापार हथिया लिया है। इस व्यापार के फलस्वरूप कुछ मिश्रित भाषाएँ, **नीग्रो इङ्गलिश, नीग्रोपुर्तगाली, नीग्रोफ्रेंच** आदि विशेष काम में लाई जाती हैं। उत्तर और मध्य भाग में **अरबी** का बोलबाला है। उसको छोड़ कर अफ्रीका की भाषा **हउसा** भी प्रायः अधिकांश अफ्रीका क्षेत्र में बोली और समझी जाती है। यूरोपीय भाषाएँ तो हैं ही।

बुशमैन परिवार—बुशमैन जाति के लोग दक्खिनी अफ्रीका के मूल निवासी समझे जाते हैं, इनकी बहुत-सी बोलियाँ हैं। ग्रामगीतों और ग्राम-कथाओं को छोड़ कर कोई साहित्य नहीं। आकृति की दृष्टि से ये भाषाएँ अंत में प्रत्यय जोड़ने वाली योगात्मक अश्लिष्ट अवस्था में हैं। इनके कुछ लक्षण सूडान परिवार की भाषाओं से मिलते हैं और कुछ बांटू परिवार की जुलू भाषा से। संभव है कि जुलू की ध्वनियों पर इस परिवार की भाषाओं का असर पड़ा हो। बुशमैन में क्लिक ध्वनियाँ छः हैं—दन्त्य, मूर्धन्य, पार्श्विक, तालव्य और ओष्ठ्य। इन भाषाओं में लिंग पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर निर्भर न होकर प्राणिवर्ग अप्राणिवर्ग पर अवलंबित है। इस बात में द्राविड़ भाषाओं के चेतन और अचेतन लिंग से समता है। बहुवचन बनाने के बहुतेरे ढंग हैं जिनमें अभ्यास मुख्य है।

होटेंटाट भाषाएँ भी बुशमैन के अन्तर्गत समझी जाती हैं, यद्यपि बुशमैन शायद अधिक प्राचीन है। होटेंटाट पर हामी भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। अनुमान है कि किसी समय होटेंटाट जाति वाले बहुत दूर तक फैले हुए थे और हामी के निकट तक पहुँचे थे। होटेंटाट शब्द प्रायः एकाक्षर होते हैं। तीन (एक, द्वि, बहु) वचन होते हैं। उत्तम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन के सर्वनाम के दो रूप, वाच्य-समावेशक और व्यतिरिक्त पाये जाते हैं।

बांटू परिवार—ये भाषाएँ प्रायः सारे दक्खिनी अफ्रीका में भूमध्य रेखा के नीचे के हिस्से में बोली जाती हैं। पूरब में ५० डिगरी देशांतर रेखा तक यही हैं। इनके दक्खिन पच्छिम में होटेंटाट और बुशमैन हैं,

और उत्तर में सूडान परिवार की विभिन्न भाषाएँ। होटेंटाट के उत्तर में इनके बोलने वाले अन्ध महासागर तक फैले हुए हैं। इस परिवार में क़रीब १५० भाषाएँ हैं जो तीन समूहों में बाँटी जाती हैं:—

पूर्वी—प्रधान भाषाएँ **काफ़िर** और **ज़ुलू**

मध्यवर्ती—प्रधान भाषा **सेसुतो**

पच्छिमी—प्रधान भाषा **काँगो**

इन भाषाओं में कोई साहित्य नहीं। जंज़ीबार और पड़ोस के समुद्र तट की भाषा **स्वाहिली** में अरबी लिपि में लिखे कुछ लेख मिले हैं। इसके अलावा इन भाषाओं का ज्ञान हमें पादरियों की बनाई रोमन लपि में लिखी किताबों से ही मिलता है। अनुमान है कि बांटू ने पूर्व-वर्ती होटेंटाट को मार भगाया और अब अँग्रेज़ी, डच आदि का स्वयं शिकार बन रही है।

बांटू भाषाएँ परस्पर सुसंबद्ध हैं और योगात्मक अश्लिष्ट आकृति की हैं। इनका प्रधान लक्षण उपसर्ग जोड़कर पद बनाने का है; अंत में भी प्रत्यय जोड़कर पद बनाए जाते हैं पर उपसर्गों की अपेक्षा कम। उदाहरण के लिए, काफ़िर भाषा में *तन्द्-अ* (प्यार), *तन्द्-इस* (प्यार कराना), *तन्द्-अन* (परस्पर प्यार करना), *तन्द्-इसन* (परस्पर प्यार कराना), *तन्द्-एक* (प्यार किया जाना) इस तरह के पदों में और उराल-अल्ताई अथवा द्राविड़ परिवार की भाषाओं की रचना में कोई अन्तर नहीं दिखता। परन्तु साधारण रीति उपसर्ग जोड़ने की है, जैसे काफ़िर में ही सम्प्रदान कारक का अर्थ कु उपसर्ग से निकलता है—*कुति* (हमको), *कुनि* (उनको), *कुजे* (उसको), बहुवचन—*अब-न्तु* (बहुत से आदमी), *उमु-न्तु* (एक आदमी), *न्गब-न्तु* (आदमियों से)। बांटू भाषाओं में एकवचन के लिए भी उपसर्ग लगता है। काफ़िर में *उम्-*, *उ-*, *इलि-*, *इन्-*, *इसि-*, *उलु-* से एकवचन और इन्हीं के वज़न पर क्रम से *अब-*, *ओ-*, *इ-*, *अम-*, *-इज़िन*, *इज़ि-* से बहुवचन का बोध होता है। बांटू भाषाओं का दूसरा प्रधान लक्षण ध्वनि-सामंजस्य है, यथा—

उमुन्तु बेतु ओमुच्ले उयबोनकल सिम्तन्द

(आदमी हमारा सुन्दर लगता है हम उसे प्यार करते हैं)

अबन्तु बेतु अबच्ले बयबोनकल सिबतन्द

(आदमी हमारे सुन्दर लगते हैं हम उन्हें प्यार करते हैं)

यहाँ एकवचन के उपसर्ग उमु के वज़न पर और शब्दों में भी सामंजस्य के लिए *व्*, *ओमु-*, *उय-*, *म्-* उपसर्ग लगे हैं और बहुवचन में *अब-* के वज़न पर *ब्-*, *अब-*, *बय-* और *ब-* लगाए गए हैं। यह ध्वनि-सामंजस्य उपसर्ग के अनुकूल होता है और उराल-अल्ताई परिवार के स्वर-सामंजस्य से भिन्न है। बांटू भाषाओं का तीसरा लक्षण लिंग का नितान्त अभाव है—सर्वनामों में भी नहीं मिलता।

बांटू भाषाएँ सुनने में मधुर होती हैं। सभी शब्द स्वरांत होते हैं। संयुक्त व्यंजनों का अभाव-सा है, केवल अनुनासिक के बाद ही व्यंजन का संयोग होता है, या *य्*, *व्* के साथ। इसीलिए अन्य भाषाओं से उधार लिये शब्द भी बदल जाते हैं—अँ० *क्राइस्ट* > बाँ० *किरिसित*। स्वर-विभिन्नता से अर्थ-विभिन्नता बहुधा प्रकट की जाती है, जैसे—*होफ़िर्नल्ला* (बाँधना), किंतु *होफ़िर्नाल्ला* (खोलना)।

सूडान परिवार—इस परिवार की भाषाएँ अफ्रीका महाद्वीप में भूमध्यरेखा के उत्तर में बराबर पच्छिम से लेकर पूरब तक फैली हुई हैं। इनके उत्तर में हामी परिवार की भाषाएँ हैं। इस परिवार में कुल ४३५ भाषाएँ हैं जिनमें से केवल पाँच-छः ही लिपिबद्ध पाई जाती हैं। मुख्य भाषाएँ नीग्रोसेनेगल समूह की **वाई**, नीग्रोकमेरून की **मोम** और **कनूरी हाउसा** तथा **प्यूली** हैं। **नूबी** के काप्टी लिपि में लिखे हुए चौथी से सातवीं सदी तक के लेख मिलते हैं। इन भाषाओं की आकृति मुख्य रूप से अयोगात्मक है। एकाक्षर धातुओं के अस्तित्व और उपसर्गों और प्रत्ययों के नितान्त अभाव के कारण चीनी भाषाओं की तरह यहाँ भी अर्थ का भेद सुरों द्वारा मालूम होता है। शब्दों में लिंग नहीं होता, ज़रूरत पड़ने पर नर और मादा के बोधक शब्दों द्वारा लिंग

दिखाया जाता है। बहुवचन का भाव साफ़-साफ़ इन भाषाओं में नहीं झलकता। उसका बोध कहीं अन्य पुरुषवाचक सर्वनाम (हिन्दी वे, उन्हें के समानार्थक) को संज्ञा के साथ रख कर कराया जाता है, और कुछ भाषाओं में स्वर की मात्रा दीर्घ कर देने से भी (जैसे *रोर*—जंगल औह *रॉर*—बहुत से जंगल) हो जाता है। वाक्य ज्यादातर एक संज्ञा और एक क्रिया के छोटे-छोटे होते हैं, जैसे 'वह जहाज़ से समुद्र में कूद पड़ा' इस वाक्य का बोध तीन वाक्यों 'वह कूदा, जहाज़ छोड़ा, समुद्र में गिरा' से कराया जायगा। सूडान भाषाओं में एक तरह के मुहाविरे होते हैं जिन्हें ध्वनिचित्र, शब्दचित्र या वर्णनात्मक क्रिया-विशेषण कह सकते हैं। उदाहरण के लिए ईव भाषा में जो धातु का अर्थ *चलना* होता है और इससे कई दर्जन मुहाविरे बनते हैं, जैसे *ज़ोकक* (सीधे चलना), *ज़ोत्यत्य* (जल्दी-जल्दी चलना), ज़ोसिस (छोटे-छोटे कदम रखकर चलना), *ज़ो त्यो त्यो* (लम्बे आदमी की चाल चलना) *ज़ो लुमो लुमो* (चूहे आदि छोटे जानवरों की तरह चलना)।

सूडान परिवार में चार समूह हैं—**सेनेगल** भाषाएँ, ईव भाषाएँ, मध्य अफ्रीका समूह, और नील नदी के ऊपरी हिस्से की बोलियाँ। इनमें पहले समूह की **बोलोफ़** और दूसरे की **ईव** मुख्य हैं।

सूडान और बांटू दोनों परिवारों में कुछ समान लक्षण पाए जाते हैं। दोनों में संज्ञाओं को विभिन्न गणों में विभक्त करते हैं। इस गण-विभाग के अभाव में संज्ञा और क्रिया का भेद केवल शब्द के वाक्य में स्थान से ही मालूम होता है। सुर भी दोनों में प्रायः मिलता है।

सामी-हामी परिवार—इंजील में दिए गए आख्यान के अनुसार हज़रत नौह के सबसे बड़े पुत्र सेम एशिया के दक्खिन-पच्छिम भाग के बहुत-से लोगों—अरब, असीरिया और सीरिया निवासियों—के आदि-पुरुष थे। यहूदी लोग भी इन्हीं के भाईबन्द थे। सेम के छोटे भाई हेम अफ्रीका के बहुतेरे देशों के निवासियों—मिस्रवालों, फ़ोनीशियम, इथियोपियन, कन्नानाइट आदि लोगों —के आदि पुरुष माने जाते हैं।

इन्हीं दो भाइयों के नाम से इस परिवार के दोनों भागों के नाम पड़े हैं। हामी भाग की भाषाएँ सारे उत्तरी अफ्रीका में फैली हुई हैं और इन भाषाओं को बोलनेवाली कुछ जातियाँ दक्खिन और मध्यवर्ती अफ्रीका में भी घुसती चली गई हैं। सामी भाग की भाषाएँ मुख्य रूप से एशिया में बोली जाती हैं पर उसकी प्रधान भाषा अरबी ने सारे उत्तरी अफ्रीका में भी घर कर लिया है। पच्छिम में मोरक्को से लेकर पूरब में स्वेज़ तक तथा सारे मिस्र में यही सर्वेसर्वा है। अल्जीरिया और मोरक्को की राजभाषा अरबी ही है। कार्थेज, तथा हब्श देश में सामी परिवार की भाषाएँ बहुत प्राचीन काल से रही हैं। हब्शी राजभाषा सामी है। और कई सामी भाषाएँ और बोलियाँ यहाँ बोली जाती हैं।

कुछ भाषाविज्ञानी हामी को सामी से विभिन्न परिवार की मानते हैं पर दोनों में साम्य के लक्षण इतने ज़बर्दस्त हैं कि इनको अलग-अलग परिवार न मानना ही ठीक होगा। दोनों के सर्वनाम एक ही स्रोत से निकले हैं यह स्पष्ट और विवादहीन है संज्ञा के बहुवचन के प्रत्यय दोनों में एक ही से हैं और उनका उद्‌गम समान है, -*त* प्रत्यय दोनों में स्त्रीलिंग का बोध कराता है। दोनों में लिंगभेद भी पाया जाता है और क्रियापद बनाने में दोनों में काल की अपेक्षा क्रिया की संपूर्णता-अपूर्णता का अधिक महत्व है। इन महत्वपूर्ण लक्षणों के कारण दोनों को एक ही परिवार के दो भाग मानने के पक्ष में भाषाविज्ञानी अधिक हैं। सामी परिवार का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण त्रि-व्यंजनधातु और स्वरव्यत्यय से रूपनिर्माण, हामी में नहीं पाया जाता। पर इसका समाधान इस बात से हो जाता है कि दोनों हज़ारों बरस पहले अलग हुईं। सम्भव है कि मिस्र आदि देशों की मूल भाषाओं के प्रभाव के कारण हामी से यह महत्वपूर्ण लक्षण हट गया हो।

इस परिवार के हामी भाग के पाँच मुख्य लक्षण हैं :—

(१) पद बनाने के लिए उपसर्ग और प्रत्यय दोनों लगाये जाते हैं। पदरूप देने के लिए संज्ञाओं में उपसर्ग लगते हैं और क्रियाओं में प्रत्यय। प्रेरणार्थक, समभिहार आदि प्रक्रियाएँ मौजूद हैं और संस्कृत के आत्मने-

पद के वज़न की भी प्रक्रिया है। समभिहार में धातु के अभ्यास के आधार पर रूप बनते हैं—जैसे सोमाली भाषा में *लब्* (तह करना) *लब् लब्* (बार-बार तह करना), *गोइ* (काटना) *गोगोइ* (टुकड़े-टुकड़े कर देना), *गल* (भीतर जाना), *गलि* (भीतर रखना)।

(२) क्रिया के काल का बोध उतना नहीं होता जितना कार्य के पूर्ण हो जाने या अपूर्ण रहने का—एक में परिणाम तक पहुँच हो जाती है दूसरी में नहीं।

(३) आर्यभाषाओं की तरह लिंगभेद पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर निर्भर न होकर कुछ और ही आधार पर आश्रित है। सामान्यरूप से यह कह सकते हैं कि बड़े और शक्तिशाली जीव और पदार्थ (तलवार, बड़ी मोटी घास, बड़ी चट्टान, हाथी, नर हो या मादा, आदि के बोधक शब्द) पुंल्लिग में तथा छोटे और निर्बल जीव और पदार्थ (चाकू, छोटी घास, पत्थर, ख़रगोश आदि के बोधक शब्द) स्त्रीलिंग में होते हैं। लिंगों का भेद शब्द की प्रथम ध्वनि से होता है—पुंल्लिग कंठ्य से और स्त्रीलिंग दन्त्य से। उदाहरणार्थ **गल्ल** भाषा में **कंक** (तेरा) **तंते** (तेरी), **सोमाली** में पुल्लिग के पूर्व **कि** अव्यय लगता है और स्त्रीलिंग के पूर्व ति।

(४) हामी की केवल एक भाषा (**नामा**) में द्विवचन मिलता है अन्यों में नहीं। बहुवचन बनाने के भी कई ढंग हैं। अनाज, बालू, घास आदि छोटी चीज़ों को समूह-स्वरूप, बहुवचन में ही रक्खा जाता है और यदि एकत्व का विचार करना होता है तो प्रत्यय जुड़ता है, जैसे **लिस** (आँसू ब० व०), **लिस्** (एक आँसू), **विल्** (पतिंगे), **बिल** (एक पतिंगा)।

(५) हामी भाषाओं का एक विचित्र लक्षण बहुवचन में लिंगभेद कर देना है। इस नियम को **ध्रुवाभिमुख** कहते हैं, जैसे **सोमाली** में *होयोदि* (माँ), (स्त्री०) *होयो इन-कि* (माताएँ), (पुं०) *लिबिहिह* (शेर) (पुं) *लिबिसह्योदि* (बहुत से शेर) (स्त्री०)। बहुत से शेर स्त्रीलिंग में और बहुत-सी माताएँ पुंल्लिग में!

हामी भाषाओं में विभक्तिसूचक प्रत्यय नहीं पाए जाते। संज्ञा और विशेषण के वचन और लिंग का भेद करने के लिए तथा मध्यम और अन्य पुरुष का बोध कराने के लिए प्रत्यय जोड़े जाते हैं—जैसे **मिस्री** में *सोन्* (भाई), *सोन* (भाई ब० व०), *सोन्त* (बहिन), *उन्नोन्क्* (तू० पुँ० है) *उन्नोन्त्* (तू स्त्री० है,) *उन्नोन्फ़* (वह पुँ० है), *उन्नोन्फ़्* (वह स्त्री० है)।

हामी भाषाएँ परस्पर काफ़ी भिन्न हैं पर सर्वनाम, त् स्त्रीलिंग आदि, एकता-सूचक लक्षण हैं ही। हामी की मुख्य प्राचीन भाषाएँ **मिस्री** और **क़ाप्टी** थीं। मिस्री भाषा के लेख छः हज़ार वर्ष पूर्व तक के मिलते हैं। इसके दो रूप थे, एक धर्मग्रंथों का और दूसरा जनसाधारण का। जनसाधारण की मिस्री की ही एक भाषा क़ाप्टी है जिसके ई० दूसरी से ८वीं सदी तक के लिखे लेख और ग्रंथ, विशेषकर ईसाई-मत-प्रचारक ग्रंथ,मिलते हैं। यह१६वीं सदी तक बोलचाल में थी, अब केवल साहित्य में पाई जाती है। वर्तमान भाषाओं में हब्श देश की **खमीर** पूर्वी अफ्रीका के **कुशी** समूह की, सोमालीलैंड की **सोमाली**, और लीबिया की **लीबी** (या बबर) प्रसिद्ध हैं। वर्तमान काल की मिस्री भाषा गठन में बड़ी सीधी-सादी है। उनकी धातुएँ (मूल शब्द) कुछ एकाक्षर और कुछ अनेकाक्षर हैं। विभक्तियों के लिये प्रत्यय नहीं जुड़ते।

कुछ भाषाविज्ञानी बुशमैन भाषावर्ग को भी (लिंगभेद के लक्षण के कारण) हामी परिवार में शामिल करते हैं पर यह ठीक नहीं।

सामी-हामी परिवार की सामी शाखा का विचार अगले अध्याय में किया जायगा। यूरोप और एशिया में उराल-अल्ताई, चीनी, सामी, काकेशी, द्राविड़ तथा आर्य परिवारों के अलावा कुछ असंबद्ध भाषाएँ भी हैं। इन सबका भी विवेचन अगले अध्याय में होगा।

तीसवाँ अध्याय

यूरेशिया के भाषापरिवार

सामी समूह

सामी भाषाओं के मुख्य लक्षण ये हैं :—

(१) अर्थतत्व का बोध करानेवाला शब्द का भाग धातुरूप, त्रिव्यंजनात्मक होता है। यह तीनों व्यंजन तथा उनका क्रम स्थिर रहता है। इन व्यंजनों में स्वर जोड़कर पद बनाए जाते हैं। इस प्रकार संबंध-तत्व का काम प्रायः सर्वांश में इन स्वरों द्वारा ही लिया जाता है। उदाहरणार्थ :—

क़त्ल् (मारना), क्तब् (लिखना), द्र्ब् (चोट पहुँचाना), व्ज्द् (पा जाना), *क़तूल्* से *क़तल* (उसने मारा), क़ुतिल (वह मारा गया), (य-) क्तुलु (वह मारता है), *क़ातिल्* (मारनेवाला,) *क़त्ल्* (बैरी), *क़िताल्* (परस्पर वध), *मक़्तूल्* (मारा हुआ) आदि।

(२) संबंध-तत्त्व का भाव इन स्वरों के अलावा उपसर्ग और प्रत्यय जोड़कर भी प्रकट किया जाता है। प्रायः क्रिया के रूपों की सिद्धि करने के लिए इनका इस्तेमाल होता है। उदाहरणार्थ अरबी भाषा में *अक्तब* (प्रेरणार्थक, उसने लिखवाया), *तक़्तब* (उसने परस्पर लिखा), *इन्क़तब* (लिखा गया), *इक्ततब* (उसने दूसरे से बोला हुआ लिखा), इस्तक्तब (उसने किसी से लिखने को कहा)।

सामी भाषाओं में एक-एक ही उपसर्ग और प्रत्यय जोड़ा जा सकता है, आर्य परिवार की भाषाओं की तरह प्रत्ययों और उपसर्गों के ढेर के ढेर एक धातु के साथ नहीं लगाए जा सकते।

(३) सामी भाषाओं में लिंग-भेद होता है और स्त्रीप्रत्यय

(**-त् या अत्**) जोड़कर स्त्रीलिंग शब्द बनता है। उदाहरणार्थ असीरी **भाषा** में *मलक* (राजा), *मलकत्* (रानी), अरबी में इब्न् (बेटा) *बिन्त्* (बेटी)। इसी *त* का यहूदी भाषा में विकास *थ*>ह मिलता है और अरबी में ह (*मलकह्*)।

(४) आर्य भाषाओं के समास के वज़न की कोई चीज़ सामी भाषाओं में नहीं मिलती। समास-सी कोई ज़रा-सी चीज़ व्यक्ति वाचक संज्ञाओं (बेन्-*जमिन मलिक-ह-इजराएल*) में मिलती है। यहाँ पदक्रम आर्य भाषाओं से बिल्कुल उल्टा है, यह स्पष्ट दीखता है।

(५) संज्ञा की तीन विभक्तियाँ प्राचीन सामी भाषाओं में मिलती हैं—कर्तृ, कर्म और संबंध (जैसे अब्द्, अब्दी, अब्दा) जो प्रत्यय जोड़कर बनती थीं। पर वर्तमान भाषाओं में ये लुप्त-सी हैं। अब उपसर्ग जोड़कर काम निकाला जाता है। प्राचीन सामी में एक-वचन, द्विवचन और बहुवचन भी प्रत्यय जोड़कर बनते थे।

(६) सामी भाषाओं में दो काल होते हैं—एक पूर्ण दूसरा अपूर्ण। संज्ञा या विशेषण में सर्वनाम जोड़कर क्रिया का बोध कराया जाता है—अपूर्ण में उपसर्ग-स्वरूप और पूर्ण में प्रत्यय-स्वरूप *त-क्तुलु* (वह मारती है), न-क्तुलु (हम मारते है) किन्तु *क़तल्-अत्* (उसने मारा), *क़तल्-ना* (हमने मारा)। मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष की क्रिया में लिंग-भेद भी किया जाता है—*क़तल* (उस पुँ० ने मारा), *क़तलत्* (उस स्त्री ने मारा), *यक्तुलु* (वह मारता है) *तक्तुल* (वह मारती है), *कतब्त* (तू मर्द ने लिखा), *कतब्ते* (तू औरत ने लिखी)।

सामी भाषाएँ परस्पर एक-दूसरी से बहुत भिन्न नहीं हैं। क्रमबद्ध त्रिव्यंजनात्मक भाग ने भाषा को एक स्थिरता-सी प्रदान कर दी है, यद्यपि अस्थिर स्वरों के कारण भाषा संयोगावस्था से बराबर वियोगा-वस्था की ओर बढ़ती रही है। कुछ शब्दों में धातु त्रिव्यंजनात्मक नहीं मिलती (*कुल*—बोली, *काल*—वह बोला)। पर प्रायः ऐसे सभी शब्दों में त्रिव्यंजन से धातु द्विव्यंजन हुई है, ऐसा अनुमान किया जाता है (क् व् ल्>क् ल्)। तब भी कुछ शब्दों (यथा, अब्ब-

पिता, ई० न्—बेटा, य० जाद्—हाथ) में ध्वनिविकास भी धातु की द्विव्यंजनात्मकता का कारण नहीं दे सकता।

संसार की भाषाओं में सामी भाषाएँ बड़े महत्त्व की हैं—इनकी महत्ता यदि कम है तो केवल आर्य भाषा-परिवार से। वस्तुतः आर्य चीनी और सामी यही तीन भाषा-परिवार संसार की सभ्यता के हज़ारों वर्षों से माध्यम रहे हैं।

सामी परिवार को पहले दो वर्गों में बाँट सकते हैं—(क) पूर्वी और (ख) पच्छिमी। और फिर पच्छिमी को उत्तर-पच्छिमी और दक्खिन-पच्छिमी में।

पूर्वी सामी की भाषा अक्कदी प्राचीन बैबिलोनिया (बावेरु) और असीरिया में बोली जाती थी। इसका इतिहास ३८०० ई० पू० तक का मिलता है। प्रो० सेयस के मतानुसार इसका संस्कृत भाषा का-सा महत्त्व है। बावेरु के पतन (५२६ ई० पू०) के बाद अरमी भाषा ने अक्कदी का स्थान ले लिया।

उत्तर-पच्छिमी वर्ग की प्राचीन भाषाएँ **फ़ोनीशी, यहूदी** और **अरमी** रही है। **फ़ोनीशी** के लेख ९०० ई० पू० तक के मिलते हैं। एशिया के भूमध्य सागर के किनारे इसका निवासस्थान था। यहाँ से यह उत्तरी अफ्रीका में पहुँची। इसके बोलने वाले बड़े व्यापार-कुशल थे और अनुमान है कि लिपि के प्रचार में इनका अच्छा ख़ासा हाथ रहा है। इस भाषा को अरमी ने समाप्त कर दिया। यहूदी फ़िलिस्तीन में बोली जाती थी और उसका प्राचीन रूप हमें इंजील के प्राचीन भाग से मिलता है। अनुमान है कि इसके कुछ अंश ईसा से पूर्व एक हज़ार वर्ष तक जाते हैं। ई० पू० पाँचवीं सदी में इंजील प्राचीन के भाग का सम्पादन हुआ जिसमें भाषा भी परिवर्तित हुई होगी। लेखों आदि के परीक्षण से पता चलता है कि अरमी उत्तरी मेसोपोटैमिया में बोली जाती थी। यहीं से वह सीरिया और चैल्डिया में फैली और क़रीब ८०० ई० पू० में इस सारे प्रदेश की भाषा बन बैठी। इन तीन के अलावा इस वर्ग की भाषा **सीरी** भी है जो सीरिया

में १००० ई० तक बोली जाती थी। तब अरबी ने उसे मार भगाया।

दक्खिन-पच्छिम वर्ग की सर्वप्रधान भाषा **अरबी** है। अरब देश के दक्खिन भाग के कुछ लेख ई० पू० आठवीं सदी के मिलते हैं, और उत्तर भाग के दूसरी सदी तक के। पर इस देश की मध्य भाग की भाषा ही प्रमुख रही है। इस मध्यवर्ती भाषा के लेख, ग्रन्थ आदि ईसवी चौथी सदी के पहले नहीं जाते। मुहम्मद साहब और उनके धर्म इस्लाम के आविर्भाव के पूर्व, अर्थात् ई० सातवीं सदी के पहले भी, इस भाषा में अच्छा खासा साहित्य था। क़ुरानशरीफ़ इसी मध्यवर्ती अरबी में है और उस ग्रन्थ की साहित्यिक खूबियों से अनुमान होता है कि इस्लामधर्म के प्रचार के पूर्व भी अरब में साहित्य-सेवा होती थी। क़ुरानशरीफ़ ने अरबी में अद्वितीय जोश भर दिया और उन्होंने सारे संसार में इस्लाम धर्म के प्रचार की ठानी। फलस्वरूप अरबी भाषा बहुत देशों में फैल गई। अरबी आज सारे अरब, उत्तरी अफ्रीका और उत्तर-पच्छिमी अफ्रीका में बोली जाती है। माल्टा में भी यही बोली जाती है। एक समय स्पेन में मूर लोग भी इसी को बोलते थे। फ़ारसी, तुर्की और हिन्दुस्तानी की उर्दू शैली पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा है। विज्ञान और भूगोल संबंधी, योरोपीय भाषाओं के बहुतेरे शब्द (*अल्जेबरा, सिफ़र, ज़ीरो, मैगज़ीन* आदि) अरबी भाषा के हैं। बोलचाल की वर्तमान अरबी भाषा अयोगावस्था की, और बहुत सीधी सादी है। क़ुरान की भाषा का विकसित रूप होते हुए भी यह उस भाषा से भिन्न है, और केवल क़ुरान को पढ़ने के लक्ष्य से अरबी सीखने वाले लोग वर्तमान अरब की विचारधाराओं से बहुत दूर रह जाते हैं।

अबीसीनिया (हब्श) देश की भाषा **हब्शी**, सामी ही की एक शाखा है, जो प्रागैतिहासिक काल में लालसागर को पार कर वहाँ पहुँची। गठन में यह हामी और सामी के बीच की है। इसमें इंजील का अनुवाद (**गीज़** बोली में किया हुआ) ईसवी चौथी सदी का मिलता है।

उराल-अल्ताई समुदाय

इस समुदाय की भाषाएँ बड़े विस्तृत भू-भाग में फैली हुई हैं। वस्तुतः क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से आर्य परिवार के बाद इसी का नम्बर आता है। ये भाषाएँ पश्चिम में तुर्की हंगेरी और फिनलैंड से लेकर पूर्व में ओखोटस्क सागर तक और दक्खिन में भूमध्यसागर से उत्तर में उत्तरी महासागर तक पाई जाती हैं। परिवार की भाषाओं में जो परस्पर साम्य पाया जाता है वह इस समुदाय के भाषा-समूहों में भी परस्पर नहीं मिलता, इसीलिए वर्तमान-कालिक भाषा-विज्ञानियों का विचार इनको दो अलग-अलग परिवारों में बाँटता है—(१) **उराल** परिवार और (२) **अल्ताई** परिवार।

अनुमान है कि उराल और अल्ताई दो पर्वत वे मुख्य स्थान थे जहाँ से इन परिवारों की अंतर्गत भाषाएँ इधर-उधर फैलीं। उराल परिवार में दो भाषा समूह (**फ़ीनी-उग्री** और **समोयेदी**) तथा अल्ताई में तीन (**तुर्की, मङ्गोली** और **तुगूज़ी**) माने जाते हैं। इन दोनों परिवारों में दो तीन ऐसे लक्षण हैं जिनके कारण ही इनकी अंतर्गत भाषाएँ एक सम्मिलित परिवार की समझी जाती थीं—

(क) पदों की सिद्धि के लिए यौगिक प्रतिक्रिया सर्वत्र मिलती है। इसके द्वारा स्थायी मूल (धातु) में एक या अनेक अस्थायी प्रत्यय एक के बाद एक जुड़ते जाते हैं। सभी समूहों में यह प्रक्रिया है ही, पर कुछ में अश्लिष्ट यौगिक से भाषाएँ श्लेष की ओर बढ़ती गई हैं।

(ख) स्वर की अनुरूपता सभी समूहों की भाषाओं में मिलती हैं। इसके द्वारा प्रत्ययों के स्वर, धातु के स्वर के अनुरूप गुरु (भारी) या लघु (हल्के) कर दिये जाते हैं। तुर्की भाषा के उदाहरण *यज़्* से *यज़्मक्* और *सेव्* से *सेव् मेक्* पहले दिये गए हैं। पर स्वर की इस प्रकार की अनुरूपता कुछ इन्हीं भाषाओं की विशेषता नहीं है, बाँटू, परिवार में भी यह मिलती है। और फिर यह अनुरूपता भी कुछ बहुत पुरानी नहीं है।

(ग) शब्दों में संबंध-वाचक सर्वनामों का प्रत्ययरूप जोड़ना भी इन भाषाओं की एक विशेषता है। पर यह भी सामी आदि भाषाओं में पाई जाती है। कुछ विद्वान् सामी परिवार की प्राचीन भाषा अक्कदी को यौगिक होने के कारण उराल-अल्ताई समुदाय में ला धरते हैं पर यह ठीक नहीं।

इसके अलावा इन दो परिवारों में परस्पर शब्दकोष और ध्वनि-समूह का कोई साम्य नहीं मिलता। ऐसी परिस्थिति में इनको अलग-अलग परिवार मानना ही युक्ति-संगत जान पड़ता है।

उराल परिवार में फ़ीनी-उग्री समूह में सारे फ़िनलैंड और स्वीडेन के उत्तरी भाग की **फ़ीनी** (इसे **सुओमी** भी कहते हैं) और पास-पड़ोस की बोलियाँ हैं। वह वल्गा नदी के ऊपर और मध्यभाग के उभयतटवर्ती देशों में बोली जाती हैं और कुछ साइबेरिया की ओबी नदी के तटवर्ती देश में। इनके अलावा हंगेरी की **मगियार** (हंगेरी) भाषा भी इसी समूह में सम्मिलित है। फ़ीनी में १६ वीं सदी से इधर बराबर साहित्य पाया जाता है और यह अब फ़िनलैंड की महत्ता के साथ-साथ स्वयं साहित्यिक महत्व प्राप्त कर चुकी है। शब्दकोष में आर्य परिवार के बहुत से शब्द सम्मिलित हैं। मगियार में १८ वीं सदी से साहित्य मिलता है। फ़ीनी भाषियों की संख्या आधे करोड़ से और मगियार भाषियों की एक करोड़ से कम है। इन दोनों भाषाओं पर जर्मन भाषा का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। न केवल शब्दावली ही काफ़ी ले ली गई है, बल्कि पद रचना भी प्रभावित हुई है। इन भाषाओं में लिंगभेद बिल्कुल नहीं पाया जाता। फ़ीनी-उग्री समूह की भाषाओं की परस्पर समानता यथेष्ट है। उदाहरणार्थ फ़ीनी और मगियार के तीन शब्द ले लें—

फ़ीनी	मगियार	अर्थ
कैसी	*केज़*	हाथ
किवि	*को*	पत्थर
वेसी	*विज*	पानी

इसी परिवार के **समोयेदी** समूह में कुछ बोलियाँ हैं जिनमें से कोई भी प्रमुख बन कर भाषा की सत्ता नहीं पा सकी। इन बोलियों के बोलनेवालों की संख्या केवल बीस-पच्चीस हज़ार है।

अल्ताई परिवार की भाषाओं की समानता के मुख्य लक्षण ध्वनि-साम्य, अक्षरनिर्माण-साम्य तथा शब्दावली-साम्य विशेष हैं, पदरचना की समानता अपेक्षाकृत कम। लिंग किसी में नहीं मिलता। स्वर की अनुरूपता भी सर्वत्र मिलती है।

मंगोली बोलने वालों की संख्या कोई तीस लाख है। चीन देश के उत्तरी भाग में, मंचूरिया का पश्चिम इनका स्थान है। १३ वीं सदी तक के लेख मिलते हैं। साहित्य कोई महत्त्व का नहीं है। मंगोल जाति १३ वीं सदी में चंगेज़ खां के समय में उन्नति की ओर बढ़ी थी पर शीघ्र ही उसकी गति रुक गई। तुंगूज़ी बोलने वालों की संख्या कोई दस लाख ही है। इनकी बोलियाँ मंचूरिया में और साइबेरिया के मध्य भाग में बोली जाती हैं, न कोई बोली प्रधान है और न कोई साहित्य। राज्य और साहित्य दोनों के प्रभाव से मंगोली और तुंगूज़ी दोनों का बड़ा गौण स्थान है, प्रधानता है चीनी भाषा की। अनुमान है कि जैसे मुंडा भाषाएँ हमारे देश में विलोप की ओर जा रही हैं, वैसे ही चीन में मंगोली और तुंगूज़ी। दोनों गठन में बड़ी सीधी-सादी हैं। कुछ विद्वान् तुंगूज़ी के साथ जापानी को शामिल करके अलग ही भाषा-परिवार मानते हैं। चीन में साम्यवाद के आधिपत्य के कारण भाषाओं की परिस्थिति कुछ बदल रही है।

अल्ताई परिवार का प्रमुख भाषासमूह **तुर्की** है, इसको **तुर्क-तातारी** भी कहते हैं। इसमें कुल २८ बोलियाँ हैं। तुर्की देश से लेकर पूर्वी साइबेरिया की लेना नदी तक इनका अस्तित्व है। इनमें लेना तटवर्ती याकूत, तुर्किस्तान की किरगिज़, क्रीमिया के कोसक, रूसियों की **नोगाइर** और तुर्की देश की तुर्की प्रधान हैं। इन सब में भी तुर्की प्रमुख है। इसकी साहित्यिक भाषा को **उस्मानली** कहते हैं। तुर्की समूह की बोलियों के बोलने वालों की संख्या कोई चार करोड़ है।

कोई-कोई लेख ८ वीं सदी तक के मिलते हैं पर साहित्य-निर्माण १४वीं सदी से आरम्भ होता है। इस्लाम धर्म के कारण १९ वीं सदी तक अरबी और फ़ारसी का तुर्की भाषा पर विशेष प्रभाव रहा। पर इधर प्रजातन्त्र-शासन के फलस्वरूप तुर्की में जो जागृति हुई उसके कारण तुर्की ने स्वतंत्र सत्ता प्राप्त कर ली। और २० वीं सदी में मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में अरबी के शब्द बीन-बीन कर हटाए गए और उनका स्थान स्वदेशी शब्दों ने ग्रहण किया। इसके अलावा रोमन लिपि स्वीकार कर ली गई और अरबी लिपि निकाल भगाई गई।

चीनी परिवार

इस परिवार की भाषाएँ चीन महादेश के बड़े भारी हिस्से में, अनाम (कोचिन चीन, कम्बोडिया, टोनकिन), थाई देश (स्याम), तिब्बत और ब्रह्मा में बोली जाती हैं। बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से आर्य परिवार के बाद इसी का नम्बर है। इसमें कई भाषा-समूह हैं—(क) **अनामी** (ख) **थाई** (ग) **तिब्बती-ब्रह्मी** और (घ) **स्वयं चीनी**। ये सभी समूह एक ही परिवार के माने जाते थे, पर अब कुछ विद्वानों को थाई और तिब्बती-ब्रह्मी के इसी परिवार के अंगभूत होने में सन्देह जान पड़ता है। चीनी परिवार की भाषाओं का मुख्य लक्षण पदों की एकाक्षरता और व्याकरण का अभाव है। पर अनामी की एकाक्षर सामग्री चीनी से बहुत कुछ भिन्न है। थाई और तिब्बती-ब्रह्मी में कुछ शब्दों में एकाक्षरता का अभाव है और उपसर्गों का अस्तित्व नज़र आता है। थाई में तो क्रिया की प्रक्रिया के भी कुछ लक्षण हैं। परन्तु हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये दोनों भाषासमूह चिरकाल से भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आ गए हैं। ब्रह्मा और थाई देश की धर्मभाषा पालि है और तिब्बती में भी ई० ७ वीं, ८ वीं सदी से ही संस्कृत और पालि भाषा के बौद्ध ग्रंथों का प्रचुर प्रचार और अनुवाद होने लगा था जो कई सौ साल तक जारी रहा। अन्य समूहों में चीनी का प्रभाव अक्षुण्ण रहा। ऐसी परि-

स्थिति में बहुत संभव है कि थाई और तिब्बती-ब्रह्मी में चीनी से जो भेद दिखाई देता है, वह भारतीय प्रभाव के कारण हो।

चीनी जनश्रुति के अनुसार चीनी धार्मिक और इतिहासिक साहित्य, कोई चार-पाँच हजार साल पुराना है और वह व्यवधान-रहित गति से चला आ रहा है। वहाँ इतिहास लिखे जाने की एक प्राचीन प्रथा चली आ रही है, इन इतिहासग्रन्थों को शुकिंग कहते हैं। इन ग्रन्थों का, जगत्प्रसिद्ध दार्शनिक कनफ़ूशियस ने ई० पू० छठी शताब्दी में सम्पादन किया। बहुत सम्भव है कि उस समय पुरानी भाषा में परिवर्तन कर दिए गए हों। तब भी इस साहित्य के द्वारा हमें थोड़ा-बहुत भाषा-संबंधी विवरण मिल ही जाता है। पद्य तुकान्त होते थे, इसलिए ध्वनियों के विकसित हो जाने पर भी उनके प्राचीन रूप का आभास मिल जाता है। विकास तो अबाधगति से होता ही रहा है, उदाहरणार्थ प्राचीन *तित्, तिप्, तिक्* का वर्तमानकालिक उच्चारण क्रमशः *यि, त, ये* पाया जाता है। साहित्य के कुछ ग्रंथों को जाइल्ज़ ऐसे कट्टर यूरोपियन विद्वान् भी ई० पू० १८०० का अर्थात् कोई पौने चार हज़ार साल पुराना मानते हैं। तिब्बती में ७ वीं सदी से, ब्रह्मी में ११ वीं से और थाई में १३ वीं सदी से लेख और ग्रंथ मिलते हैं।

साहित्य की तरह चीनी लिपि बहुत पुरानी है। लिपि-विकास की दूसरी अवस्था (भावात्मक) से यह अभी आगे नहीं बढ़ पाई। इसमें प्रति शब्द के लिए एक अलग ही संकेत है। चीनी भाषा की एकाक्षरात्मकता और व्याकरण-हीनता ही शायद इस विकास के अभाव का कारण है क्योंकि यदि लिपि ध्वन्यात्मक या वर्णात्मक होती तो भाषा में विभ्रम की संभावना बढ़ जाती। चीनी लिपि के कारण विभिन्न भाषा-समूह जो इस परिवार के अंतर्गत हैं एक दृढ़ सूत्र में बंधे हुए हैं। तिब्बती और ब्रह्मी की लिपियाँ भारतीय लिपियों से निकली हैं।

प्राचीन चीनी भाषा का काल १० वीं सदी तक, मध्यकालीन का १० वीं से १३ वीं तक तथा आधुनिक का १३ वीं से इधर माना

जाता है। भाषा के लक्षणों के हिसाब से पुरानी और नई भाषा में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। मुख्य लक्षण ये हैं—

(क) एकाक्षर शब्द

(ख) शब्दों का अर्थवान् और अर्थहीन में विभाग

(ग) वाक्य में शब्दों के स्थान का महत्त्व

(घ) सुरभेद का बाहुल्य

(ङ) व्याकरण का अभाव

चीनी भाषा की समस्त पूँजी उसके एकाक्षर शब्द हैं। **मन्दारी** बोली सर्वप्रधान है, उसमें कोई सवा चार सौ ही शब्द हैं, **कंटूनी** (कैंटन की बोली) में आठ-नौ सौ ही हैं। अन्य बोलियों में इसी प्रकार कम या ज़्यादा शब्द हैं। पर इनसे प्रायः सौ गुने शब्दों की सिद्धि हो जाती है। मन्दारी में ही कोषसन्निहित बयालीस हजार शब्द हैं। सवाल उठता है कि इतनी कम पूँजी से इतने अधिक शब्द कैसे सिद्ध हो जाते है ? उत्तर मनोरंजक है। यदि केवल यही अक्षर ही होते तो बात असाध्य थी, पर साथ ही साथ है सुर-बाहुल्य और अन्य साधन। एक ही ध्वन्यात्मक शब्द *येन्* के चार अर्थ (धुँआ, नमक, आँख और हंस) सुरभेद के ही कारण होते हैं। यह चार विभिन्न सुरों के कारण ही संभव है। *ब* का उदाहरण ऊपर (पृ० ७९ पर) दिया गया है। *हुओ* का एक सुर से अर्थ है 'भला' और दूसरे से 'प्रेम'। सुर के अलावा दूसरा साधन है—दो शब्दों को पास-पास रख कर उन दोनों के सामान्य अर्थ का बोध कराना। उदाहरण के लिए, *तओ* के अर्थ हैं 'सड़क झंडा, आच्छादन, अनाज आदि' और *लू* के 'सड़क, घुमाव, रत्न, ओस आदि'। अब यदि सड़क का बोध कराना हो तो *तओलु* कहने से अभिप्राय सिद्ध हो जायगा। *येन्* का अर्थ है 'आँख' पर और भी कई एक। अब यदि आँख का बोध कराना हो तो उसके साथ *चिंग* (आँख का तारा) रख कर आँख का अर्थ निश्चित कर लेंगे। यदि *येन्* से नमक का बोध कराना हो तो *पइ* (बारीक) वा *हेइ* (मोटा) जोड़कर अभिप्राय प्रकट कर देंगे।

चीनी के शब्द **अर्थवान** और **अर्थहीन** इन दो विभागों में बाँटे जाते हैं। अर्थहीन शब्द का कर्तव्य केवल इतना होता है कि अर्थवान् शब्द का सम्बन्धतत्त्व हो जाय या उसकी परिस्थिति निश्चित रूप से बता दे। अपने व्याकरण में जो काम उपसर्ग, परसर्ग, समुच्चय-बोधक आदि शब्द करते हैं वही काम चीनी भाषाओं में ये अर्थहीन शब्द देते हैं। उदाहरणार्थ *त्सि* (का), *य* (से), *यु* (को), *लि* पर *त्सुंग* (से–अपादान), *तीं* (बहुत), *शु* (संख्या)। पर इतना ध्यान रखना चाहिए कि ये अर्थहीन शब्द केवल यही काम नहीं करते। ये अर्थवान् भी होते हैं और तब इनका विशेष अर्थ भी होता है। उदाहरणार्थ *त्सि* का अर्थ है 'स्थान', *यु* का 'देना'। कब कौन शब्द अर्थहीन है और कब अर्थवान्, यह बात केवल उसके वाक्य में इस्तेमाल होने पर मालूम होती है। अर्थवान् शब्दों के भी दो हिस्से हैं, **जीवित** और **मृत**। जीवित शब्द किसी क्रिया का बोध कराते हैं और मृत कर्म का। पर यह विभाग भी कोई बहुत निश्चित नहीं है।

चीनी में कोई व्याकरण नहीं मिलता। हम अपने शब्दों को संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि विभागों में बाँटते हैं और इस संज्ञा आदि से इनके विशेष-विशेष प्रयोगों का बोध कराते हैं। पर चीनी में एक ही शब्द कभी संज्ञा, कभी विशेषण और कभी क्रिया आदि का अभिप्राय सिद्ध करता है और प्रकरण ही इसका निश्चय करता है। ऊपर (पृ० १५२ पर) *लओ लओ* का उदाहरण आया है। *त* का अर्थ प्रकरण के अनुसार 'बड़ा होना, बड़ा, बड़ाई, बड़ाई से' हो सकता है। *सु* का अर्थ भी 'मरना, मृत, मार डालना' कोई भी प्रकरण के अनुकूल समझा जायगा। शब्द का वाक्य में जो स्थान होता है वही प्रायः इस बात का निश्चय करता है। कर्त्ता, क्रिया, कर्म यह पद-क्रम है। विशेषण विशेष्य के पहले रक्खा जाता है। उदाहरणार्थ *त जिन्* (बड़ा आदमी) पर *जिन् त* (आदमी बड़ा है) *ङ्गो त नि* (मैं तुम्हें मारता हूँ) और *नि त ङ्गो* (तू मुझे मारता है)।

चीनी भाषाओं में सुर का जितना प्रयोग मिलता है, संसार की अन्य किसी भाषा में नहीं। किसी-किसी चीनी भाषा में आठ सुर माने जाते हैं, मन्दारी में छः वर्तमान हैं। ऊपर कह चुके हैं कि इस सुर-विभेद के कारण ही चार सवा चार सौ एकाक्षर शब्द, प्रयोग में चालीस पैंतालीस हजार हो जाते हैं। यह सुर-विभेद चीनी में प्राचीन काल से चला आता है। अनुमान यही है कि आज जो समानध्वन्यात्मक पर भिन्नार्थ-बोधक शब्द हैं वही किसी पूर्वकाल में भिन्नध्वन्यात्मक रहे होंगे और विकसित होते-होते समानध्वन्यात्मक हो गए हैं। इस विकास के समय में ही इस सुरविभेद का प्रादुर्भाव हुआ होगा। इसी तरह यह संभव है कि ये भाषाएँ हमेशा से ही एकाक्षर नहीं हैं और न इस संपूर्ण अयोगावस्था की।

थाई समूह की कुछ बोलियाँ आसाम के पूर्वोत्तर भाग में और ब्रह्मदेश के कुछ भागों में बोली जाती हैं। इनमें से **शान**, **आहोम** और **खाम्ती** मुख्य हैं। तिब्बती-ब्रह्मी समूह की बोलियाँ तिब्बत (भोट) और ब्रह्मदेश में बोली जाती हैं। ऐसा अनुमान है कि इनका आदि विकासस्थान चीन महादेश का पश्चिमोत्तर भाग था। वहाँ से इनके बोलने वालों के पूर्वज ब्रह्मपुत्र और इरावदी आदि दक्खिन की ओर आने वाली नदियों के किनारे-किनारे आकर हिमालय के दक्खिन भाग, तिब्बत, भूटान, आसाम और ब्रह्मदेश में बस गए। यहाँ इनकी भाषा में इतना अन्तर पड़ गया कि कुछ विद्वानों को इनके चीनी परिवार से सम्बद्ध होने में ही सन्देह है। इस शाखा के मुख्य लक्षण ये हैं––

(क) प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक शब्दों का भेद, (ख) कुछ सर्वनामों में द्विवचन और बहुवचन का अस्तित्व, (ग) उत्तम-पुरुष-वाची सर्वनाम के द्विवचन और बहुवचन में दो-दो रूप, (घ) क्रिया के कुछ रूपों में प्रत्ययों का प्रयोग और (ङ) ऊपर के संख्या-वाची शब्दों में गिनती का दश पर निर्भर न होकर विंशति (बीस) पर निर्भर होना। इनमें से कोई भी चीनी परिवार की अन्य शाखाओं में

नहीं पाया जाता। पर ये सभी लक्षण मुंडा भाषाओं में पाए जाते हैं। और स्पष्ट ही तिब्बती-ब्रह्मा में एतद्देशी प्रभाव-स्वरूप हैं।

तिब्बती भाग की प्रमुख भाषा **तिब्बती** है। जैसा ऊपर कह चुके हैं तिब्बती में अच्छा खासा साहित्य है। इसके अलावा **लद्दाखी** आदि बहुतेरी बोलियाँ हैं। ब्रह्मी भाग की प्रमुख भाषा **ब्रह्मी** है तिब्बती-ब्रह्मी शाखा की १५६ बोलियाँ हैं और बोलनेवालों की संख्या डेढ़ करोड़ से ऊपर। भारत और ब्रह्मदेश में इतनी बोलियाँ बोली जाती हैं, बाहर की तो कितनी ज्यादा होंगी। इस बोली-बाहुल्य का कारण यही है कि इनका क्षेत्र पहाड़ी प्रदेश है जहाँ आदान-प्रदान के साधन बहुत कम हैं।

चीनी भाषा-समूह की मुख्य भाषा **मन्दारी** है। यह पीकिंग के आसपास बोली जाती है और इसी में विस्तृत साहित्य है। यही राज-भाषा है। इसमें कोई शब्द सघोष व्यंजन से नहीं आरम्भ होता और सभी शब्द किसी अनुनासिक व्यंजन (न्, ङ्, ञ्) में अन्त होते हैं। मन्दारी के अलावा फ़ूकियन और कैंटन की बोलियाँ भी मार्के की हैं।

अनामी को कुछ विद्वान् चीनी परिवार से अलग रखते हैं, और उसे थाई भाषा-समूह और आस्ट्री-एशियाई परिवार के बीच की अवस्था का मानते हैं। पर चीनी परिवार के मुख्य लक्षण अनामी में सर्वत्र पाए जाते हैं। चीनी लिपि में लिखे उसके आदि ग्रंथ, १५वीं सदी तक के मिलते हैं। दो सदियों के बाद यूरोपीय प्रभाव के कारण रोमन लिपि का इस्तेमाल होने लगा। सब बातों को ध्यान में रखकर **अनामी** को चीनी परिवार की ही एक शाखा मानना अधिक युक्ति-संगत है।

काकेशी परिवार

काले सागर और कैस्पियन सागर के मध्यवर्ती भूभाग में दो छोटे-छोटे भाषासमूह ऐसे हैं जो पड़ोस के सामी, उराल-अल्ताई या आर्य, किसी के अन्तर्गत नहीं हो सकते। ये हैं काकेशस पर्वत पर के

उत्तरी काकेशी और **दक्खिनी काकेशी**। पहले की बोलियों के भाषी कोई पाँच लाख और दूसरे के पन्द्रह लाख के क़रीब हैं। उत्तरी और दक्खिनी शाखाओं में परस्पर काफ़ी भेद है। उत्तरी शाखा में व्यंजनों का बाहुल्य और स्वरों की कमी है। दोनों में पद-रचना की बेहद जटिलता है। इसका अनुमान इसी से हो सकता है कि **अवर** बोली में संज्ञा की तीस विभक्तियाँ हैं, और **चेचेन** में संज्ञा के छः लिंग माने जाते हैं। क्रिया की प्रतिक्रिया में इतनी जटिलता है कि धातु की खोज कर पाना टेढ़ी खीर है, कौन मालूम कर सकता है कि **अर, उर,** *अइसर* उन्द, *अन्द*, *आ* इन रूपों में धातु **अइ** (बनाना) है? उत्तरी काकेशी में न कोई निजी साहित्य है न लिपि। दक्खिनी शाखा की प्रमुख बोली **जार्जी** है। इसमें १० वीं सदी से इधर बराबर साहित्य मिलता है। इसकी लिपि भी स्वतंत्र है।

विविध समुदाय

ऊपर कई भाषा-परिवारों का वर्णन हो चुका है। भारतवर्ष में बोली जाने वाली भाषाओं के परिवारों (आर्य, द्रविड़ और आस्ट्री-एशियायी) का वर्णन अगले अध्यायों में किया जायगा। पर इनके अलावा कुछ प्राचीन और कुछ अर्वाचीन भाषाएँ ऐसी हैं जो इनमें से किसी भी परिवार के अन्तर्गत नहीं होतीं। इनका भी यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। प्राचीन भाषाएँ (क) **सुमेरी,** (ख) **मितानी, कोत्सी, बन्नी, एलामाइट, हिट्टाइट-कप्पडोसी,** और (ग) **एत्रुस्कन** हैं तथा अर्वाचीन (प) **जापानी** (फ) **कोरियाई** (ब) **ऐनू** (भ) **हाइपर-बोरी** और (म) **बास्क**

(क) **सुमेरी**—इसके लेख ई० पू० ४००० तक के मिलते हैं। यह सामी से भिन्न है और अक्कदी (सामी की एक शाखा) जिसका विचार ऊपर कर चुके हैं उससे बिल्कुल अलग है। सुमेरी बोलनेवाले सभ्यता के शिखर पर पहुँचे हुए, बेबल के शासक थे और फ़ारस की खाड़ी तक फैले हुए थे। कुछ विद्वान सिन्ध के तट पर की सभ्यता जो

मोहनजोदाड़ों और हड़प्पा की सामग्री से प्रकाश में आई है, उसका भी सम्बन्ध सुमेरी बोलने वालों से जोड़ते हैं। इन्होंने अपने बाद आने वाले असीरी लोगों के पास काफ़ी सामग्री अपने साहित्य और भाषा सम्बन्धी छोड़ी है। असीरी भाषा में लिखे सुमेरी के कोष और व्याकरण तथा असीरी-अनुवाद समेत सुमेरी के कई ग्रंथ भी अब मिलते हैं। ईसा के पूर्व कई हज़ार वर्ष तक इन लोगों की फलती-फूलती सभ्यता थी। ई० पू० ३०० तक जब अक्कदी सुमेरी को दूर भगा रही थी, तब तक भी सुमेरी, धर्म और साहित्य की भाषा रही। पर कालचक्र ने इसे हटा दिया। पदरचना के हिसाब से इसे योगात्मक कहना चाहिए। इसीलिए इसे उराल-अल्ताई परिवार में सम्मिलित करते हैं, पर इस सम्बन्ध के लिए आवश्यक प्रमाण नहीं है।

(ख) **मितानी** आदि––मितानी के केवल कुछ व्यक्तियों के नाम तथा एक धार्मिक पुस्तक मिलती है। यह शायद दक्खिनी काकेशी से कुछ संबद्ध है और फ़राद के उत्तरी तट पर बोली जाती थी। **कोस्सी** के कुछ नाम ही मिलते हैं, तथा **बन्नी** के कुछ ई० पू० ८वीं ९वीं सदी के लेख। **एलामाइट** के २६०० ई० पू० तक के लेख मिलते हैं। **हिट्टाइट-कप्पडोसी** बोलियाँ, काले सागर के दक्खिन की ओर कप्पदोशिया प्रदेश में बोली जाती थीं। इनकी कई पुस्तकें लेख आदि मिलते हैं। इनकी ध्वनि-संबंधी और शब्दावली की समानता ऊपर की सभी प्राचीन भाषाओं से तथा सामी और आर्यपरिवार की भाषाओं से दिखती है। पर पदरचना की समानता आर्य-परिवार से विशेष है।

(ग) **एत्रुस्कन**––रोम के उत्थान के पूर्व यह भाषा इटली के उत्तरी और मध्य प्रदेश में बोली जाती थी। इसके कुछ लेख तथा एक पुस्तक प्राप्त हुई है। इसका सम्बन्ध मध्यसागर के साइप्रस, क्रीट आदि द्वीपों तथा उस सागर के किनारे वाले एशिया के भाग की पुरानी भाषाओं से निश्चित है। आर्य-परिवार से यह बिल्कुल अलग है।

(घ) **जापानी**––जापानी भाषा में बहुत अच्छा साहित्य है, और ८ वीं सदी तक पुराना है। लिपि चीनी से संबद्ध है। यह छः करोड़

जनता की भाषा है। टोकियो नगरी १९वीं सदी में राजधानी बनी, तभी से वहाँ की बोली को महत्त्व मिला। लिखित भाषा और बोलचाल की भाषा में काफ़ी अन्तर है, और उच्चवर्ग और नीच वर्ग में भी भेद है। पदरचना में यह प्रत्यय जोड़ने वाली, श्लेष की ओर झुकने वाली भाषा है। बहुवचन को बहुधा अभ्यास करके व्यक्त करते हैं। संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग कम है। ध्वनिसमूह जटिल-सा है। कोरियाई भाषा से कुछ सम्बन्ध मालूम पड़ता है। इसको उराल-अल्ताई अथवा सुमेरी से संबद्ध करने के उद्योग निष्फल साबित हुए हैं। वर्तमान संसार की प्रमुख भाषाओं में गणना पाने पर भी जापानी का अभी तक किसी भी परिवार से ठीक-ठीक युक्तिसंगत संबंध नहीं जोड़ा जा सका है।

(फ) **कोरियाई**---यह कोरिया में बोली जाती है और इसके बोलने वालों की जनसंख्या दो करोड़ के क़रीब है। इसका भी संबंध अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। सदियों तक चीनी प्रभुत्व के रहने के कारण इसमें चीनी शब्दों की बहुतायत है। १५ वीं सदी तक यह चीनी लिपि में लिखी जाती थी। उस समय इसकी अपनी लिपि बनी जो संस्कृत (देवनागरी) पर आश्रित है। यह भी प्रत्ययप्रधान श्लिष्ट भाषा है और जापानी से कुछ मिलती-जुलती है।

(ब) **एनु**—इसमें तीन बोलियाँ हैं। बोलने वालों की संख्या बीस-पच्चीस हज़ार है। साहित्य बिल्कुल नहीं है। जापान के उत्तर में स्थित दो-तीन द्वीपों में इसके बोलने वाले रहते हैं। यह भी योगात्मक अश्लिष्ट भाषा है।

(भ) **हाइपर-बोरी**---ये बोलियाँ साइबेरिया के उत्तर-पूर्व के कोने में तथा उसके पड़ोस के दो-एक द्वीपों में बोली जाती हैं। कई बोलियाँ हैं जो परस्पर असंबद्ध-सी दीखती हैं।

(म) **बास्क**---आर्य भाषाओं से घिरी हुई यह अनार्य भाषा यूरोप में पिरेनीज़ पहाड़ के आसपास बोली जाती है। इसके एक लाख चालीस हज़ार बोलने वाले फ्रांस में और छियासठ हज़ार स्पेन में हैं। इसमें कई (कम से कम आठ) बोलियाँ हैं। ८वीं सदी तक पुराने नाम

मिलते हैं, और १६ वीं सदी से इधर थोड़ा बहुत साहित्य। आकृति अन्तयोगात्मक अश्लिष्ट है। ध्वनि-सामग्री प्रचुर है, और वाक्य-विन्यास जटिल। इस भाषा का संबंध भी किसी प्रचलित भाषा परिवार से नहीं जुड़ता।

अगले अध्याय में आर्येतर भारतीय भाषा-परिवारों का विवरण दिया जायगा।

इकत्तीसवाँ अध्याय

आर्येतर भारतीय परिवार

पूर्ववर्ती अध्यायों में संसार की उन भाषाओं का थोड़ा-सा विवरण दिया गया है, जो अपने देश की नहीं है। अपने यहाँ आर्य, द्राविड़, मुंडा (आस्ट्री) तथा तिब्बती-चीनी परिवारों की भाषाएँ भारतीयों द्वारा बोली जाती हैं। आबादी की १९३१ की रिपोर्ट के अनुसार भारत और ब्रह्मदेश (तब तक ब्रह्मा को अँगरेज़ सरकार ने हमसे जुदा नहीं किया था) दोनों में मिलाकर एशिया के अन्य देशों, तथा अफ्रीका और यूरोप के महाद्वीपों की भाषाओं के बोलने वाले केवल ६½ लाख से भी कम थे। और ये अधिकतर, भारतीय नहीं, भारत में शासन व्यवसाय आदि तरह-तरह के कामों के लिए टिके हुए विदेशी ही थे।

तिब्बती-चीनी भाषाएँ बोलने वालों की संख्या डेढ़ करोड़ के कुछ ऊपर है। इन भाषाओं का अस्तित्व प्रायः ब्रह्मदेश और तिब्बत, भूटान में है। ऊपर चीनी परिवार की भाषाओं का विचार करते समय इनका उल्लेख किया जा चुका है। भारत में इस शाखा की भाषाएँ जहाँ-तहाँ आसाम के उत्तरी और पूर्वी भाग में बोली जाती हैं; इनके बोलने वाले जंगलों और पहाड़ों पर रहते हैं। इनकी बोलियों का अध्ययन हाजसन आदि विदेशी विद्वानों ने किया है। नागा बोलियाँ प्रमुख हैं। विशेष विवरण ग्रियर्सन साहब के सर्वे में मिलेगा।

ऊपर प्रशांत महासागर की भाषाओं का विचार करते समय **मलाया-पालीनेशिया** भाषाओं का उल्लेख आया है। इनका हिन्दी-चीनकी **मोन-ख्मेर** और भारत की **खासी** और **मुंडा** भाषाओं से संबंध है। मोन-ख्मेर जाति किसी समय हिंदी-चीन को जीत कर उस पर राज्य करती

थी। अब तो थाई देश, ब्रह्मदेश और भारत के कुछ जंगली भागों में ही इनके बोलने वाले, आदि निवासियों के रूप में, रहते हैं। भारत में केवल आसाम के पूर्वी प्रदेश में इनके बोलने वाले पाए जाते हैं। और आसाम में ही मोन-ख्मेर भाषाओं से संबद्ध खासी, खासी पहाड़ियों पर, बोली जाती है। यह चारों ओर से तिब्बती-चीनी से घिरी हुई है। सदियों से यह मोन-ख्मेर भाषाओं से दूर पड़ गई है। तब भी इसकी शब्दावली और वाक्यविन्यास दोनों की मोन-ख्मेर से गहरी समानता है। मोन-ख्मेर और खासी के अलावा, अपने देश के एक विस्तृत भाग के जंगली प्रदेशों में मुंडा भाषाभाषी रहते हैं। इन भाषाओं का थोड़ा अधिक विवरण देना ज़रूरी है—न केवल इस नज़र से कि इनके बोलने वाले काफ़ी बड़े भूभाग में फैले हुए हैं, बल्कि इस विचार से भी कि इनका इस देश की अन्य प्रमुख (आर्य, द्राविड़) और अप्रमुख (तिब्बती-चीनी) भाषाओं पर विशेष प्रभाव पड़ा है। मोन-ख्मेर, खासी और मुंडा शाखाओं को मिला कर आस्ट्री-एशियाई परिवार की भाषाओं के बोलने वालों की संख्या अपने देश में क़रीब ५३$\frac{1}{2}$ लाख है। जनसंख्या साहित्य, सभ्यता आदि के हिसाब से आर्य (२५$\frac{3}{4}$ करोड़) और द्राविड़ (७$\frac{1}{4}$ करोड़) से इनका कोई मुक़ाबिला नहीं।

मुंडा

नाम—मुंडा शब्द इस भाषा-परिवार की एक भाषा मुंडारी का है और उसका अर्थ है 'मुखिया, ज़मींदार'। मैक्समूलर ने पहले-पहल इन भाषाओं को द्राविड़ परिवार से भिन्न समझा और उन्होंने इनको मुंडा नाम दिया। इसके पूर्व इनको **कोल** कहते थे। पर यह शब्द अनुपयुक्त है, क्योंकि कोल जाति के अन्तर्गत **ओराओं** भी हैं जो द्राविड़ी भाषा बोलते हैं। इसके अलावा संस्कृत में कोल शब्द का अर्थ 'सुअर' है जिसका प्रयोग अपने ही निजी देशवासियों के प्रति करना अनुचित भी है। संथाली का काल्हा (लोहार) तथा हिंदी के कोरी, कलार, कलवार, करवल आदि इसी से संबद्ध हैं। तमिल में कल्लर और कन्नड़

में कळ्ळस एक आदिवासी जातिविशेष का वाचक है जिनका पेशा चोरी और धानुष्कता है।

क्षेत्र—मुंडा भाषाएँ विशेष रूप से छोटा नागपुर में बोली जाती हैं। इसके अलावा मध्यप्रदेश तथा उड़ीसा के कुछ जिलों में, मद्रास के कुछ भाग में, तथा पच्छिमी बंगाल और बिहार के पहाड़ी और जंगली प्रदेशों में भी मुंडा भाषा-भाषी रहते हैं। इसके अतिरिक्त हिमालय की तराई में बिहार से लेकर शिमला पहाड़ी तक बराबर ये लोग पाए जाते हैं। मध्यप्रदेश और मद्रास में इनके चारों ओर द्राविड़ भाषाएँ हैं और उत्तर भारत में आर्य। ऐसा अनुमान है कि आदि मुंडा भाषाभाषी भारत में सर्वत्र फैले थे। बाद को आने वाले द्राविड़ और आर्य जनसमुदायों ने इनको खदेड़ भगाया और इन्होंने जंगलों और पहाड़ों की शरण ली। हताश हो इन्होंने ऐसे पेशे अपनाए जिनका सभ्य समाज से संघर्ष न था। और इनमें से जो जनगण तेज़ और सरकश थे, उन्होंने डाका, चोरी आदि कर के बसर करना आरंभ किया। मुंडा जाति की ही शाखा 'शवर' थी जिसका उल्लेख रामायण, कादंबरी आदि ग्रंथों में मिलता है।

प्रभाव—मुंडा भाषाएँ आकृति में योगात्मक अश्लिष्ट हैं। इनकी कुछ विशेषताओं का प्रभाव आर्य और द्राविड़ भाषाओं पर स्पष्ट है। तिब्बती-चीनी पर पड़े हुए प्रभाव का उल्लेख ऊपर आ चुका है। मुंडा में क्रिया-रूपों का बाहुल्य है। भोजपुरी, मगही और मैथिली, इन विहारी बोलियों में क्रिया की जटिलता, मुंडा के ही प्रभाव का परिणाम जान पड़ती है। उत्तम पुरुष-वाची सर्वनाम के बहुवचन के दो रूप, एक वक्ता के साथ वाच्य (मध्यम पुरुष) को शामिल करके और एक उसको न शामिल करके, भी मुंडा के प्रभाव से आए जान पड़ते हैं, जैसे हिन्दी की बोली मालवी में *हम हाट जायँगे* और *अपन हाट जायँगे* में भेद है और वह यह कि पहले वाक्य में हाट जाने वालों में जिस से बात कही जा रही है वह शामिल नहीं और दूसरे में वह शामिल है। कोड़ियों में चीज़ों को गिनना भी मुंडा भाषाओं का ही स्पष्ट प्रभाव है।

भाषाएँ—संथाली और मुंडारी भाषाओं का थोड़ा बहुत अध्ययन किया जा चुका है। इनके अलावा हो, कुर्कू, सवर आदि बोलियाँ भी हैं। शिमला की तरफ कनावरी बोली जाती है। संथाली, मुंडारी आदि चार-पाँच को मिलाकर सामान्य नाम खेरवारी देते हैं। मुंडा की कुल सात बोलियाँ हैं, और समस्त आस्ट्री परिवार की इस देश में उन्नीस।

ध्वनिसमूह—मुंडा में स्वर तथा सघोष, अघोष, अल्पप्राण और महाप्राण व्यंजन मौजूद हैं। महाप्राणत्व की मात्रा आर्य-भाषाओं की अपेक्षा अधिक मालूम पड़ती है क्योंकि आर्य भाषाओं के ऐसे शब्द जिनमें महाप्राण हैं, यदि वे मुंडा में ले लिए गए हैं तो वे ही यहाँ अल्पप्राण हो गए हैं। हिंदी के सभी स्वर, स्पर्श वर्ण (पाँचों वर्ग), *य र ल व, ङ, स, ह* मुँडा में पाए जाते हैं, पर इनके अलावा एक प्रकार के अर्धव्यंजन *क, च, त, प* भी हैं जिनका उच्चारण अपने व्यंजनों से भिन्न है। इनके उच्चारण में पहले अन्दर को साँस खींची जाती है, तब स्पर्श होता है और फिर स्फोट। इस स्फोट में साँस कभी-कभी नासिका-विवर से भी निकल जाती है। संथाली के किसी शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजन नहीं आता। द्व्यक्षर शब्दों में यदि अंताक्षर दीर्घ और उसके पहले वाला ह्रस्व हो तो बलाघात अंतिम अक्षर पर ही होता है, नहीं तो उसके पहले वाले पर।

व्याकरण—संज्ञा, क्रिया आदि शब्द-विभाग नहीं दिखाई पड़ता। शब्दार्थ प्रकरण के अनुकूल जाना जाता है। सम्बन्ध-तत्त्व का बोध अधिकतर अन्तयोग और मध्ययोग से होता है, तथा अभ्यास का भी सहारा लिया जाता है। उपसर्ग भी जोड़े जाते हैं। उदाहरणार्थ—*अ* (प्रेरणार्थक) को *सैन* (जाना) में जोड़ कर *असैन* (ले जाना), इसी प्रकार *अ-नूँ* (पिलाना) *प* (समूहवाचक) जोड़कर *संझी* (मुखिया) से मपंझी (मुखियागण), अथवा प- (परस्परवाचक) जोड़कर *दल* (मारना) से *दपल* (आपस में मारना-पीटना), -क- (समभिहारार्थक) जोड़कर *आल्* (लिखना) से *अकाल* (खूब लिखना)। मुंडा

के शब्द एक-एक वस्तु और भाव का बोध कराने के लिए पर्याप्त हैं परन्तु सामान्य भाव का बोध कराने वाले शब्दों की कमी है।

प्रकरण से ही पदविभाग का पता चलता है। ज़रूरत के अनुरूप, एक ही शब्द-रूप संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि का काम दे देता है। विभक्तियों का बोध परसर्गों से कराया जाता है। लिंग का बोध मूल शब्द में पुरुषवाचक या स्त्रीवाचक शब्द जोड़कर कराया जाता है, जैसे *आंडिया* कूल (बाघ), *एंगा* कूल (बाघिन)। कोड़ा (लड़का), कूड़ी (लड़की) आदि शब्दों में लिंग भेद दिखाई पड़ता है, पर ऐसे प्रयोगों की नितान्त कमी है और स्पष्ट है कि यह आर्य भाषाओं का प्रभाव है। चेतन और अचेतन का भेद अवश्य उपस्थित है।

इन भाषाओं में तीन वचन होते हैं। खेरवारी द्विवचन का प्रत्यय कीन् या कीङ है और बहुवचन का को या कू, जैसे—हाड़ (आदमी) *हाड़कीन्* (दो आदमी), *हाड़-को* (कई आदमी)।—परसर्ग काफ़ी हैं—*तै* (को, में, करणवाचक से); रै (में, बीच में); *लगित, लगत* (लिए); *खान, खाच* (से अपादानवाचक); *ठान, ठाच* (निकट)। संबंध-वाचक परसर्ग, चेतन-संबंधी होने पर रैन् और अचेतन होने पर *अक्, अङ्* *रेअक्, रेअङ्* आदि होता है और हिन्दी के विपरीत संबद्ध के अनुसार न बदल कर संबंधी के अनुसार बदलता है।

संथाली के संख्यावाची शब्द मिट (१) *बारेआ* (२) *पैआ* (३), *पोनेआ* (४), *माड़ा* (५), *तरूइ* (६), एआए (७) इड़ाल (८), आरै (९), गैल (१०), इसि (२०) हैं। ऊपर की संख्याएँ बीसियों से गिनी जाती हैं (*पोन इसि*—८०, पै इसि-६०)। दस और बीसके बीच में *खन* (अधिक) या *कम* (न्यून) को जोड़कर काम चलाया जाता है, जैसे—*गैल खन पोनेआ* (१४), *बारेआ कम वरिसि* (१८)।

पुरुषवाचक सर्वनामों में भी द्विवचन और बहुवचन के हम और *अपन* के वजन के दो-दो रूप हैं। आदरवाचक (*आप आदि*) और

संबंधवाचक (जो, जिस आदि) के वज़न के कोई सर्वनाम मुंडा भाषाओं में नहीं मिलते।

क्रिया ऐसी कोई अलग चीज़ नहीं। वही शब्द जो एक जगह संज्ञा-रूप आया है अन्यत्र क्रियारूप हो सकता है, मरङ (बड़ा) *हाड़* अ मरङ अ (आदमी बड़ा है), हें (हाँ) और उसमें *केत* परसर्ग जोड़कर हें केत-अ (हाँ कहा)। यह अ किसी क्रिया या व्यापार की भावात्मकता का बोधक है, और कुछ नहीं। क्रिया के रूप प्रत्यय जोड़-कर सिद्ध होते हैं। किन्तु जब तक यह अ न जुड़े तब तक क्रिया का वास्त-विक अस्तित्व नहीं प्रकट होता। उदाहरण के लिए, *दल्-केत* (मारा) का अर्थ *दल्-केत-अ* से सिद्ध होगा। संशयात्मक क्रियाओं में यह अ नहीं जुड़ता, जैसे *खजुक-अलो-ए-दग* (यदि पानी न बरसे) में यह अ नहीं जोड़ा गया। सहायक क्रिया के रूप क्रियारूपों और भावात्मक अ के बीच में डाल दिए जाते हैं। धातु का अभ्यास दो तरह किया जाता है (क) पूरी धातु को दुबारा लाकर, या (ख) धातु के प्रथम दो वर्णों को दुहरा कर। प्रथम का अभिप्राय उस धातु द्वारा निर्दिष्ट क्रिया का बार-बार करना और दूसरे का उसी क्रिया को ख़ूब करना होता है, जैसे दल् (मारना) से दल्-दल् (बार-बार मारना) और ददल् (ख़ूब मारना)। विशेषकर स्वर से आरम्भ होनेवाली धातुओं में या बह्वक्षर धातुओं में-**क्**-बीच में जोड़कर समभिहार (पौनः पुन्य या भृशार्थ) का बोध कराया जाता है, जैसे *अगु* (ले जाना), *अक्गु* (बार-बार ले जाना या ख़ूब ले जाना)। परस्पर-क्रिया का बोध **-प-** को बीच में जोड़कर और प्रेरणार्थक का अंत में-*ओची* लगाकर किया जाता है। इन प्रक्रियाओं के अलावा इन भाषाओं में क्रिया का एक विशेष रूप होता है जिससे हिन्दी के *सुन रक्खो*, *ले रक्खो* आदि प्रयोगों का अभिप्राय प्रकट होता है, अर्थात् ऐसी क्रिया जिसका भविष्य में कुछ काम पड़े जैसे— *अजम-कक्-मा* (सुन रक्खो)।

पुरुष के अनुसार क्रिया में रूप-विभिन्नता नहीं होती। पर चेतन पदार्थों के विषय में पुरुषवाची सर्वनाम अंत में जोड़ दिए जाते हैं।

क्रिया-रूप में प्रत्यय जोड़कर उन सभी कालों और वृत्तियों का बोध कराया जाता है जो प्रायः संस्कृत और हिन्दी में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त और कई प्रयोग हैं।

मुंडा भाषाओं में अव्यय स्वतंत्र शब्द हैं जिनका अलग ही अर्थ है, जैसे *मैनखन* (लेकिन) का तात्विक अर्थ है 'यदि तुम कहो।'

मुंडा भाषाओं का द्राविड़ी भाषाओं से मौलिक अंतर है। द्राविड़ी में अर्ध-व्यंजन सी कोई चीज़ नहीं। संज्ञाओं का विभाग मुंडा में चेतन-अचेतन का होता है, द्राविड़ी में विवेकी-अविवेकी उच्चजातीय और अजातीय का। मुंडा में गिनती बीस के क्रम से होती है। द्राविड़ में आर्य की तरह दस के क्रम से। मुंडा में तीन वचन होते हैं, द्राविड़ी में दो। मुंडा में मध्यविन्यस्त प्रत्यय होते हैं, द्राविड़ में नहीं।

द्राविड़ी

नाम—भारत में क्या जनसंख्या और क्या साहित्य सभी बातों के विचार से द्राविड़ी भाषाओं का यदि गौणस्थान है तो केवल आर्य भाषाओं से। **दविड़** शब्द संस्कृत **द्रविड़** का रूपांतर है। इसी शब्द का पालि रूप **दमिळ** महावंश में तथा यही जैन प्राकृत ग्रथों में मिलता है। वराहमिहिर ने *द्रमिड़* शब्द का प्रयोग किया हैं। ग्रीक ग्रंथों में *डमरिक, डिमिरिक* शब्द मिलते है। **तमिळ** शब्द दविड़ ही का अन्य रूप है।

सम्बन्ध—द्राविड़ भाषाओं की मुंडा भाषाओं से विभिन्नता ऊपर दिखाई गई है। आर्य भाषाओं से भी ये प्रायः हर एक बात में भिन्न हैं। इनकी अश्लिष्ट योगात्मक अवस्था है। उराल-अल्ताई भाषाओं में जैसी स्वर-अनुरूपता मिलती है वैसी यहाँ भी दिखाई पड़ती है। इसको मुख्यरूप से ध्यान में रखकर कुछ विद्वानों ने इनका उराल-अल्ताई से परिवार-संबंध जोड़ने का प्रयत्न किया है। मोहनजदाड़ो की खुदाई के बाद तो द्राविड़ी, सुमेरी और मोहनजदाड़ों की सभ्यता को एक सूत्र में बाँधने की भी कोशिश हुई है। और यह भी प्रयत्न हुआ

है कि आस्ट्रेलिया की आस्ट्री भाषाओं से इनका संबंध जोड़ा जाय। इस अंतिमवाद को उपस्थित करने वाले विद्वानों का विचार है कि प्रागैतिहासिक काल में *लेमुरी* महाद्वीप मौजूद था जो आज अरब सागर के नीचे पड़ गया है। और इसी पर इस भाषा-समुदाय के बोलने वालों के पूर्वज रहते थे। यदि यह अनुमान ठीक हो तो मडागास्कर द्वीप से लेकर प्रशान्त महासागर के द्वीपों तक की भाषाओं का एक ही सम्बन्ध होना समझ में आ सकता है। ऐसी दशा में उराल-अल्ताई या सुमेरी से द्राविड़ का कोई भी संबंध नहीं ठहर सकेगा और यह विचार भी कि आर्यों की तरह द्रविड़ जन समुदाय भी भारत में पश्चिमोत्तर दिशा से आए और ब्राहुई भाषा-भाषी उनकी अंतिम शाखा हैं, यह युक्तिसंगत न रहेगा। पर द्राविड़ी का आस्ट्री से संबंध होना स्वयं बालू की भित्ति पर खड़ा है क्योंकि जैसा ऊपर दिखा चुके हैं, दोनों में काफ़ी भिन्नता है।

भाषाएँ—द्राविड़ी की कुल १४ भाषाएँ हैं। भाषा-विज्ञानी इनको चार वर्गों में बाँटते हैं—(क) द्राविड़ (ख) मध्यवर्ती (ग) आन्ध्र (तेलुगू) और (घ) पश्चिमोत्तरी (ब्राहुई)। नीचे हर एक वर्ग की जनसंख्या दी जाती है—

(क) द्राविड़	४ करोड़	१५ लाख
(ख) मध्यवर्त्ती		३६ लाख
(ग) आन्ध्र	२ करोड़	६४ लाख
(घ) पश्चिमोत्तरी		२० लाख

इनका अवांतर वर्गीकरण इस तरह किया जाता है—

द्राविड़	तमिळ	तमिळ मलयालम
	कन्नड़	
	तुळु कोडगु टोडा	बडगा टोडा कोटा
मध्यवर्ती	गोंडी कुरुख (ओराओं) कूई (कंधी) कोलामी	कुरुख माल्टो
आन्ध्र	तेलुगू	
पश्चिमोत्तरी	ब्राहुई	

तमिळ—यह मद्रास (तमिलनाड) में और सिंहल (लंका) के उत्तरी भाग में बोली जाती है। इसके उत्तर में तेलुगू और पच्छिम में कन्नड और मलयालम है। समस्त द्राविड़ी भाषाओं में यह प्रमुख है। इसका साहित्य तीसरी सदी तक का मिलता है। बोलियों में परस्पर समानता बहुत अधिक है। स्टैंडर्ड भाषा के दो रूप हैं, शेन और कोडुन। शेन सभ्य समझी जाती है। कोडुन प्रायः बोलचाल की है। तामिळ की मणिप्रवाल नाम की एक साहित्यिक शैली है, जिसमें संस्कृत शब्दों की प्रचुरता है और साथ ही साथ तमिल शब्द भी ख़ूबसूरती से पिरोए हुए हैं। तामिळ साहित्य बहुत उच्चकोटि का है और बंगाली, हिन्दी, मराठी आदि आर्य-भाषाओं का समकक्ष है।

मलयालम—तमिळ की ही एक शाखा समझी जाती है यह तामिल से ९ वीं सदी में अलग हुई। इसका क्षेत्र भारत का दक्खिन-पच्छिमी कोना है। लक्षद्वीप में भी यह भाषा बोली जाती है। शब्दावली

संस्कृत प्रचुर है, पर इस भाषा के मुसल्मान भाषी (मोपला) इस संस्कृत-बहुल भाषा का प्रयोग नहीं करते। ट्रावंकोर और कोचिन राज्यों की संरक्षा में मलयालम साहित्य ख़ूब फूला-फला और उन्नत हुआ है और प्राचीनता में १३ वीं सदी तक जाता है।

कन्नड—मैसूर राज्य की भाषा है। इसमें भी अच्छा ख़ासा साहित्य है। लिपि तेलुगू से मिलती है, (और ये दोनों ८वीं सदी में किसी पूर्वरूप से अलग अलग विकसित हुई हैं) पर भाषा तामिल से। पद्य की भाषा में कृत्रिमता अधिक है। कई बोलियाँ हैं। इसके अभिलेख ५वीं सदी तक के पुराने मिलते हैं। समस्त द्राविड़ी भाषाओं में यही सबसे पुराने हैं।

तुळु का क्षेत्र बहुत परिमित है। भाषा सुथरी हुई है पर कोई साहित्य नहीं। कोडगु, कन्नड़ और तुळु के बीच की है। बड़गा, टोडा और कोटा नीलगिरी पहाड़ पर रहने वाले जंगली लोगों की बोलियाँ हैं।

मध्यवर्त्ती समुदाय की भाषाएँ प्रायः जंगली जातियों की हैं। ये मध्यभारत में, तथा बरार से लेकर उड़ीसा और बिहार तक फैली हुई हैं। बंगाल के राजमहल ज़िले में भी एक जगह गंगातट पर इनके बोलने वालों का निवास है। इन बोलियों में कोई साहित्य नहीं। इनके बोलने वाले प्रायः सब के सब द्विभाषाभाषी होते हैं क्योंकि आसपास के आर्य भाषा-भाषियों से निरन्तर सम्पर्क रहता है। आर्य-भाषाओं की छाप इतनी गहरी पड़ रही है कि इनमें से कुछ छोटी-छोटी टोलियों की बोलियाँ मर-सी रही हैं और संभव है कि आगे-पीछे समाप्त ही हो जायँ।

गोंडी—यह मध्यवर्त्ती वर्ग में सबसे बड़ी है। गोंड हिन्दी प्रान्त में पाए जाते हैं। कुरुख (ओराओं) को मूलरूप से कर्णाट प्रान्त का बताया जाता है जो बाद को बिहार उड़ीसा में छा गई। इसी की एक बोली माल्टो है। कुरुख भाषा-भाषियों का निवासस्थान वही है जो मुंडा का है। दोनों परस्पर एक-दूसरे की भाषा समझते-बूझते हैं, और कुछ जन-समुदाय एक छोड़कर दूसरी बोलने लगे हैं। कूई (कन्धी) का तेलुगू से संबंध है। इसके बोलनें वाले उड़ीसा के जंगलों में रहते हैं।

कोलामी का क्षेत्र विदर्भ के दक्खिन-पच्छिम में आन्ध्र राज्य में है, और संबंध तेलुगू से। यहाँ वह आर्य परिवार की **भीली** भाषा के सम्पर्क में है और लुप्त-सी हो रही है।

आन्ध्र प्रान्त की भाषा तेलुगू बड़े महत्व की है। वर्तमान आन्ध्र राज्य की यही भाषा है। तेलुगू भाषा-भाषी बड़े वीर और सभ्य रहे हैं। मुग़ल राज्यकाल में बराबर यह उत्तर भारत में सैनिकरूप से आते रहे। हिन्दी में *तिलंगा* शब्द सैनिक का पर्यायवाची है। द्राविड़ी भाषाओं में तेलुगू वालों की संख्या सब से अधिक है। इस भाषा का साहित्य १०वीं सदी तक का मिलता है। आधुनिक साहित्य भी बहुत अच्छा और तमिळ की टक्कर का है। संस्कृत से बहुतेरे शब्द तेलुगू में स्वाभाविक रीति से ले लिए गये हैं। इस शब्दावली के कारण बंगाली, हिन्दी आदि आर्य भाषाओं से इसका अन्य द्राविड़ी भाषाओं की अपेक्षा घनिष्ठ संबंध है। भाषा में बड़ा माधुर्य है।

बलोचिस्तान के बीच में चारों ओर से ईरानी भाषाओं से और एक कोने में सिंधी से घिरी हुई द्राविड़ी परिवार की ब्राहुई भाषा है। इसके बोलने वाले सभी मुसल्मान हैं, और मातृभाषा की विभिन्नता से शादी-व्याह आदि सामाजिक व्यवहार में कोई अंतर नहीं पड़ता। परिणाम-स्वरूप ब्राहुई भाषा-भाषी ईरानी भाषा (बलोची या पश्तो) भी मातृ-भाषा सरीखी बोलते हैं। इस भाषा का इस परिस्थिति में टिका रह जाना अचरज की ही बात है।

लक्षण—द्राविड़ी परिवार की भाषाओं के उच्चारण में शब्द के अंतिम व्यंजन के उपरांत एक अतिलघु अकार जोड़ दिया जाता है। तमिळ में *क, श, त, प, ड़* के उपरान्त अतिलघु उकार सुन पड़ता है कन्नड़ और तेलुगू में सभी शब्द स्वरांत होते हैं और अंतिम व्यंजन के बाद उ बोला जाता है। पर बोलचाल की तेलुगू और कन्नड़ में यह बहुत लघु सुनाई पड़ता है जैसे साहित्यिक *गुर्रमु* (घोड़ा), इन भाषाओं में उराल-अल्ताई भाषाओं की सी स्वर-अनुरूपता भी पाई जाती है। सभी भाषाओं में और विशेष कर तमिळ में यह प्रवृत्ति है कि किसी

शब्द के आदि में सघोष व्यंजन नहीं आ सकता, और शब्द के मध्य में आने वाला अकेला व्यंजन या अनुनासिक व्यंजन के बाद आनेवाला व्यंजन सघोष होना चाहिए। इसी प्रवृत्ति से सं० दंत तमिळ में तंदम् हो जाता है। यही प्रवृत्ति तिब्बती-चीनी में पाई जाती है।

संज्ञाओं का विभाग विवेकी और अविवेकी में किया जाता है अथवा इन्हीं को उच्च-जातीय और अजातीय कह सकते हैं। ज़रूरत होने पर पुल्लिग-स्त्री-लिंग का भेद नर और मादा के बोधक शब्दों को जोड़कर दिखाया जाता है। अन्य पुरुषवाची सर्वनामों में ही पुँ० स्त्री० भेद पाया जाता है और ये विशेषणों तथा संज्ञाओं में लिंग-भेद करने के लिए जोड़े जाते हैं। ब्राहुई में यह लिंगभेद नहीं पाया जाता।

दो वचन होते हैं। विभक्तियाँ परसर्ग जोड़कर बनती हैं। पर ये परसर्ग संज्ञा के विकारी रूपों के अनंतर आते हैं, अविकारी के बाद नहीं। विशेषणों के रूप नहीं चलते। गिनती आर्य भाषाओं की तरह दस पर निर्भर है। कुछ विद्वानों का मत है कि भारत में जो सोलह पर निर्भर (रुपए आने की) गिनती पाई जाती है, वह भी द्राविड़ स्रोत की है।

उत्तमपुरुषवाची सर्वनाम में *हम* और *अपन* के वज़न के दो रूप बहुवचन में होते हैं। सम्बन्धवाची सर्वनाम नहीं होता। कुरुख के ये सर्वनाम हैं—*ऍन* (मैं) *एम्* (हम), *नीन्* (तू), *नीम्* (तुम), *तान्* (स्वयं एकवचन), *ताम्* (स्वयं बहुवचन)।

बहुत से शब्द संज्ञा और क्रिया दोनों होते हैं, जैसे ता० *कोन* (राजा), *कोन-एन* (मैं राजा हूँ)। कर्मवाच्य के अलग रूप नहीं होते। सहायक क्रिया से उनका बोध कराया जाता है। क्रिया के रूपों में पुरुष का बोध कराने के लिये पुरुषवाची सर्वनाम का अन्तिम भाग जोड़ा जाता है। काल होते हैं, निश्चित और अनिश्चित, निश्चित भूत और निश्चित भविष्य तथा अनिश्चित वर्तमान या अनिश्चित भविष्य। क्रिया के निषेधात्मक रूप भावात्मक से भिन्न होते हैं। तिङन्त रूपों की जगह कृदन्त रूपों का अधिक प्रयोग होता है।

प्रभाव--भारत में आर्यों के आने के समय यहां मुंडा और द्राविड़ पहले से ही बसे हुए थे। प्रोफेसर चटर्जी के मत के अनुसार मुंडा जाति के लोग कश्मीर तक फैले हुए थे। यह कश्मीर के और भी पच्छिम में बोली जाने वाली **बुरुशस्की** को आस्ट्री परिवार का समझते हैं। शिमला की पहाड़ी तक पर मुंडा की एक शाखा तो वर्तमान है ही। इसी प्रकार द्राविड़ भाषाओं का भी इस देश में आर्यों के प्रवेश के पहले प्रचार था। जब आर्य इनके संपर्क में आए होंगे तो स्वाभाविक ही है कि उनकी भाषा पर इनका प्रभाव पड़ा होगा। दुर्भाग्य से द्राविड़ी के बहुत पुराने लेख या ग्रंथ नहीं मिलते, नहीं तो परस्पर संपर्क के परिणाम का अध्ययन अधिक स्पष्ट हो जाता। तब भी भाषा-विज्ञानियों का अनुमान है कि भारतीय आर्य शाखा में मूर्धन्य ध्वनियों का अस्तित्व और र और ल का व्यत्यय द्राविड़ी प्रभाव के ही कारण से है। परसर्गों का अस्तित्व और सो भी संज्ञा और सर्वनाम के विकारी रूप के बाद द्राविड़ प्रभाव को ही जतलाता है। हिंदी आदि भाषाओं के चेतन पदार्थवाची कर्म का अचेतन कर्म से भेद (*राधा ने कृष्ण को सराहा* पर *राधाने मुरली चुराई*) भी द्राविड़ प्रभाव के कारण समझा जाता है। अन्य आर्य भाषाओं की तुलना में भारतीय शाखा में कृदन्त रूपों का तिङन्त की अपेक्षा अधिकाधिक प्रयोग भी इसी का द्योतक है। यह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। ह्विटनी ने ऋग्वेद की क्रियाओं की तुलना भगवद्गीता की क्रियाओं से की है और इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि भगवद्गीता में तिङन्त रूपों का योग ऋग्वेद की अपेक्षा दसवां हिस्सा ही रह गया है। इसी प्रकार वर्तमान आर्य भाषाओं का सहायक क्रियावाला कर्मवाच्य तथा भविष्यकाल के रूप भी द्राविड़ी प्रभाव के ही परिणाम मालूम पड़ते हैं। शब्दावली का जो परस्पर आदान-प्रदान हुआ है, वह स्पष्ट ही है।

अगले अध्याय में आर्य-भाषाओं का विवेचन किया जायगा।

बत्तीसवाँ अध्याय

आर्य परिवार

इस परिवार की भाषाएँ मुख्य रूप से हमारे देश के अधिकांश में, ईरान में आर्मीनिया में, प्रायः सारे यूरोप महाद्वीप में, सकल अमरीका महाद्वीप में तथा अफ्रीका के दक्खिन-पच्छिमी कोने में और आस्ट्रेलिया में बोली जाती हैं। बोलने वालों की संख्या, क्षेत्र विस्तार, साहित्य आदि सभी बातों को देखते हुए इस परिवार का संसार के भाषापरिवारों में सर्वप्रमुख स्थान है। वस्तुस्थिति तो यह है कि इसी परिवार की कुछ भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से भाषाविज्ञान का आविर्भाव हुआ।

नाम—इस परिवार का नाम सबसे पहले **इन्डोजर्मनिक** पड़ा। पिछले दो सौ वर्षों से जर्मन विद्वान बराबर इस विज्ञान के अध्ययन में लगे रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट देखा कि ये परस्पर संबद्ध भाषाएँ एक ओर पूर्व दिशा में भारत (हिन्द) में बोली जाती हैं और दूसरे, पच्छिम छोर पर जर्मनी में (ब्रिटेन आदि जर्मनी के पच्छिम वाले देशों में अँगरेजी, डच आदि भाषाएँ जर्मनी शाखा की ही हैं)। स्वाभाविक ही था कि उन्होंने इनका नाम इं० ज० रख दिया। पर आयर्लैंड और वेल्ज़ में बोली जाने वाली केल्टी शाखा की भाषाएँ जर्मनी शाखा की नहीं थीं, इसलिए इं० ज० नाम अनुपयुक्त समझा गया और इंडो-केल्टिक सुझाया गया। यह नाम बिल्कुल न चल सका। परिवार की मुख्य भाषा संस्कृत के कारण **संस्कृतिक** भी सोचा गया, पर इस निश्चय के कारण कि संस्कृत सभी का आदिस्रोत नहीं है, यह छोड़ दिया गया। इंजीली सम्प्रदाय के अनुसार सामी, हामी के वज़न पर हज़रत नौह के तीसरे बेटे जैफ के नाम पर **जैफाइट** भी रखने का विचार हुआ, पर यह भी आगे न बढ़ सका। इनके अलावा

दो नाम और पेश किए गए, **आर्य** और **इन्डोयूरोपियन**। इंग्लैंड, फ्रांस आदि देशों के विद्वानों ने इं० यू० नाम पसंद किया और इसी का व्यवहार करते हैं। उनका कहना है कि भारत और यूरोप इन्हीं दो महादेशों में ये भाषाएँ गौरव को पहुँची इसलिए यह नाम ठीक है। पर जर्मनी वाले अब भी इं० ज० शब्द का ही प्रयोग करते हैं, उनका विश्वास है कि इं० ज० नाम का बहिष्कार उस नाम की अनुपयुक्तता के कारण इतना नहीं हुआ है जितना जर्मनी नाम तक के द्वेष के कारण। आर्य शब्द के व्यवहार के विरुद्ध यूरोप के विद्वान दो तर्क उपस्थित करते हैं--(१) इस नाम से इस परिवार की भाषाओं और उनके बोलने वालों की जाति का समकक्षत्व होता है अर्थात् यह भ्रम होता है कि इस परिवार की भाषाओं के बोलने वाले आर्यजाति के हैं (२) आर्य शब्द का व्यवहार इस परिवार की शाखा हिंद-ईरानी के लिए अधिक उचित है क्योंकि इन दोनों देशों वाले अपने को आर्य कहते हैं और इस शब्द का निरन्तर प्रयोग अपने साहित्य में पाते हैं। पहला तर्क बिल्कुल लचर है। यदि सामी हामी आदि भाषाओं के नामों से सामी आदि जातियों के विषय में भ्रम नहीं पैदा होता तो आर्य नाम से ही क्यों होने लगा? दूसरे तर्क में कुछ सार है। अवश्य ही भारत और ईरान में आर्य शब्द, परम्परा से मौजूद है और हम उसका गौरव भी मानते हैं। ईरान ने तो इस गौरव का प्रत्यक्ष प्रमाण फ़ारस शब्द को त्याग कर और *ईरान<अइराण<आर्याणाम्* को प्रयोग में लाकर दे दिया है। पर हिंदी-ईरानी के लिये आर्य शब्द का प्रयोग बहुत उचित नहीं। अन्य शाखाओं के नाम उन देशों के नाम पर रक्खे गए हैं जिनमें वे मुख्य रूप से उपस्थित हैं। इसलिए जब तक भारत और ईरान को प्राचीन आर्य देश न स्वीकार किया जाय, तब तक इस नाम के बारे में क्यों दूसरी नीति बर्ती जाय? यूरोप में भी आर्य शब्द का गौरव माना गया है। हिटलर उसी का दम भरता था। जर्मनी में प्राचीन आर्य चिन्हों (स्वस्तिक आदि) की पूजा होती रही। इसके अलावा इंडोयूरोपियन नाम बड़ा भारी है। आर्य छोटा है और उच्चारण

सुगम, सामी हामी, चीनी, बाँटू आदि की तरह। इसीलिए जेस्पर्सन ने भी इसे पसन्द किया है। हमारी समझ में हमें सम्पूर्ण परिवार के लिए आर्य, हिंद-ईरानी शाखा के लिए हिं० ई० और ईरानी के लिए ईरानी तथा भारतीय के लिए भारतीय या भारतीय-आर्य शब्दों का यथा-समय व्यवहार करना चाहिए। साथ ही साथ हमें यूरोपीय विद्वानों द्वारा किए गए आर्य, इं० यू० और इं० ज० नामों के प्रयोग और अर्थ पर भी ध्यान रखना चाहिए।

आदिम भाषा

इस परिवार की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं का सूक्ष्म अध्ययन करके यह कल्पना की जाती है कि इन भाषाओं का मूल-स्रोत कोई आदिभाषा रही होगी। संस्कृत, अवेस्ती, ग्रीक और लैटिन के सबसे पुराने लेखों द्वारा इन भाषाओं का जो स्वरूप मिलता है उससे ही इस आदिभाषा की कल्पना हो सकी है। इन भाषाओं की परस्पर तुलना की गई, और फलस्वरूप यह मालूम हुआ कि आदिम आर्य-भाषा में अमुक-अमुक ध्वनियाँ रही होंगी, अमुक-अमुक सन्धि-नियम रहे होंगे, संज्ञा सर्वनाम आदि के रूप इस प्रकार चलते होंगे, क्रिया के ये रूप रहे होंगे, इत्यादि। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी।

संस्कृत *पितर*, ग्रीक *पतॅर*, लैटिन *पतॅर्*, अँगरेजी *फ़ाँदर्*, अथवा सं० *प्र*, ग्री० *प्रो*, लै० *प्रो*, गाथी *फ्रा*, या सं० *नपात्*, लै० *नेपोस्*, अँ० *नेफ़्यू* आदि शब्दों को देखकर यह अनुमान किया गया कि आदिम भाषा में प् ध्वनि रही होगी। इन उदाहरणों से मालूम होता है कि सं० प्=ग्री० प्=लै० प्=जर्मन समूह वाली भाषाओं में फ़्। यही ध्वनि नियम बना। पर शीघ्र ही देखा गया कि सं० *स्पश्*, लै० *स्पेकिओ* से ही सम्बद्ध प्राचीन जर्मन भाषा में *स्पेहोन्* शब्द है और अँगरेजी में *स्पाइ*। निश्चित किया हुआ ध्वनि-नियम गड़बड़ा गया क्योंकि इन जर्मनी भाषाओं के शब्दों में सं० प्, फ़् के समकक्ष न मिल कर प् मिली, और उसमें संशोधन की ज़रूरत पड़ी। इसी तरह सं०

भ् (*भरामि*),=ग्री॰ फ् (फ़ेरो),=लै॰ फ् (फ़ेरो)=अँ॰ ब् (बेयर) की बराबरी सिद्ध हुई, और आदिम भाषा में भ् के अस्तित्व का अनुमान किया गया। पर सं॰ बन्ध्, और बाइंड की तुलना से सं॰ ब्, अँ॰ ब के बराबर मालूम पड़ी, यद्यपि अन्य उदाहरणों से सं॰ भ् की बराबरी अँ॰ ब् से और सं॰ ब् की बराबरी अँ॰ प् के साथ सिद्ध होती थी। कुछ और उदाहरणों की समीक्षा करके अन्तिम निश्चय यह हुआ कि अँगरेजी आदि जर्मनी भाषाओं की ब् आदिम की भ् के ही बराबर है, जहाँ संस्कृत की ब् अँ॰ की ब के बराबर दिखाई देती है, वहाँ निश्चय ही आदिम भाषा में भ् रही होगी जो बाद को संस्कृत के निजी नियमों के कारण इसमें ब् हो गई। इसी से सं॰ बन्ध् के आदिम भाषा के स्वरूप* *भेन्ध* की कल्पना हुई। इसी तरह पहले इस आदिम भाषा में अ, इ, उ (ह्रस्व) और आ, ई, ऊ (दीर्घ) मूलस्वरों की कल्पना की गई थी, पर बाद को यह निष्कर्ष निकला कि सं॰ और अवेस्ती में के अ के समकक्ष लै॰ ग्री॰ में तीन स्वर अ, ऍ, ऑ मिलते हैं। वे तीनों आदिम भाषा में रहे होंगे जो हिं॰ ई॰ में एक रूप (अ) में पाए जाते हैं। इस प्रकार परस्पर तुलना से निर्धारित आदि भाषा का स्वरूप कल्पित ही है, अनुमान-सिद्ध; इसके बारे में निश्चयपूर्वक यह कह देना कि उस आदि भाषा में फ़लाँ शब्द की जोड़ी का फ़लाँ रूप था, असंगत है। हम केवल इतना कह सकते हैं कि तुलनात्मक अध्ययन से हम अनुमान करते हैं कि अमुक रूप रहा होगा। परन्तु इतना निश्चितप्राय है कि यह आदिम भाषा अवश्य वर्तमान थी और इसी की शाखाओं के रूप में हमें प्राचीन और अर्वाचीन भाषाएँ प्राप्त हैं।

ध्वनियाँ—प्राचीन भाषाओं के तुलना-स्वरूप जो आदिम भाषा निश्चित की गई है, उसकी नीचे लिखी ध्वनियाँ थीं।

कवर्ग—	(१)	क्'	ख्'	ग्'	घ्'
	(२)	क़्	ख़्	ग़्	घ़्
	(३)	क्व्	ख्व्	ग्व्	घ्व्

तवर्ग—	त्	थ्	द्	ध्		
पवर्ग—	प्	फ्	ब्	भ्		
ऊष्म—	स्					
अस्त:स्थ (व्यंजन)	य्	र्	ल्	व्	न्	म्
अत:स्थ (स्वर)	इ	ऋ	लृ	उ	न̥	म̥
स्वर (मूल ह्रस्व)	अ	ऍ	ऑ			
स्वर (मूल दीर्घ)	आ	ए	ओ			
स्वर (मिश्र ह्रस्व)	अइ	अऋ	अलृ	अउ	अन̥	अम̥
	ऍइ	ऍऋ	ऍलृ	ऍउ	ऍन̥	ऍम̥
	ऑइ	ऑऋ	ऑलृ	ऑउ	ऑन̥	ऑम̥
स्वर (मिश्र दीर्घ)	आइ	आऋ	आलृ	आउ	आन̥	आम̥
	एइ	एऋ	एलृ	एउ	एन̥	एम̥
	ओइ	ओऋ	ओलृ	ओउ	ओन̥	ओम̥
स्वर उदासीन	अ (ə)					

प्रथम श्रेणी के कवर्ग का उच्चारण तालुस्थान की गौण सहायता से किया जाता था और संभवत: क्य् ख्य् ग्य् घ्य् सा रहा होगा। द्वितीय श्रेणी का उच्चारण वस्तुत: कंठ्य था जो अपने (वर्तमान हिंदी के) कवर्ग के उच्चारण से भिन्न था और अरबी क़् आदि के समान। तृतीय श्रेणी के उच्चारण में ओठों की गौण सहायता ली जाती थी, इनके उच्चारण में कवर्ग ध्वनि मुख्य और व् ध्वनि बहुत ही अल्प और गौण रहती थी। ऊष्म स् यदि दो स्वरों के बीच में आती थी तो उसका उच्चारण सघोष (ज़्) होता था। अनुनासिक ध्वनियाँ व्यंजनरूप में म् और न् ही थीं, पर अनुमान किया जाता है कि प्रथम श्रेणी के कवर्ग वर्णों के पूर्व न् का उच्चारण ञ् और बाकी दो के पूर्व ङ् होता होगा। यही न् और म् शब्दों में विशेष स्थान पर आने की अवस्था में स्वर-रूप न̥ म̥ हो जाते थे। इसी प्रकार य् र् ल् व् भी शब्द में अपनी स्थिति के अनुकूल स्वरूप (इ उ ऋ लृ) धारण कर लेते थे। आदिम

भाषा के *म* *न्* की जगह संस्कृत में *अ* मिलता है। आदिम भाषा में ये अन्तःस्थ वर्ण तीन प्रकार से प्रयोग में आते थे—

(क) व्यंजनरूप—(१) जब अन्तःस्थ वर्ण शब्द के आदि में किसी स्वर या स्वररूप से प्रयुक्त हुए अन्तःस्थ वर्ण के पूर्व आता था, या (२) दो स्वरों के बीच में होता था, या (३) किसी व्यंजन और स्वर के वीच में आता था, या (४) स्वर और उदासीन स्वर के बीच में आता था।

(ख) मिश्रस्वर के द्वितीय भाग के रूप में; यह अवस्था तब होती थी जब अन्तःस्थ वर्ण स्वर और व्यंजन के बीच में आता था।

(ग) स्वररूप—(१) जब शब्द के आदि में किसी व्यंजन के पूर्व आता था या (२) जब वह दो व्यंजनों के बीच में आता था। इनके अलावा (३) कुछ विशेष परिस्थितियों में शब्द के आदि वाला अन्तःस्थ वर्ण उसके बाद में स्वर होने पर भी, स्वयं स्वर हो जाता था।

संस्कृत में अन्तःस्थ वर्णों की यह तीन तरह की स्थिति प्रायः वैसे ही बनी हुई मिलती है, जैसी आदिम आर्य भाषा में थी, उदाहरणार्थ (क) *यज्, युवा, इयाज, मध्य* (ख) *एति, वेद गौः, अवोचम्* (ग) (*इदम्, दिक्, उक्तम्, श्रुतम्, ऋक्षः, मृतम्, वृकः* (ज० वुल्फ), *पृथुः* (ग्री० प्लतुस), *शतम्* (लै० कैन्टुम्), *गतम्, मतिः* (गा० मुनस्), *हतम्*।

इतना ध्यान रखना चाहिए कि इ, उ, ऋ, ऌ मूल रूप से स्वर न थे किन्तु स्वर-स्थानीय अन्तःस्थ वर्ण।

उदासीन स्वर का ठीक उच्चारण आदिम भाषा में क्या था इसका पता नहीं। यूरोप के विद्वान् इसको **श्वा** (Schwa) कहते हैं। संस्कृत और अवेस्ती में इसको हम-**इ** रूप में पाते हैं (*पिता, जनिता*)। यही उदासीन स्वर, यदि स्वर-रूप से प्रयुक्त अन्तःस्थ वर्ण और तदनन्तर प्रयुक्त अन्तःस्थ वर्ण दोनों के बाद आता था, तो यह उदासीन स्वर और इसके पहले वाला अन्तःस्थ दोनों मिलकर दीर्घ अन्तःस्थ स्वर हो जाता था जिसके हमें संस्कृत

में इ, ऊ, ऋ रूप मिलते हैं, और दीर्घ म् न् के स्थान पर आ मिलता है।

आदिम भाषा में दो या अधिक व्यंजन एक साथ आ सकते थे, पर दो या अधिक मूलस्वर (अ, आ, ऍ, ए, ऑ, ओ) एक साथ नहीं। अन्तःस्थ वर्ण (स्वर या व्यंजन के रूप से अन्य व्यंजनों या स्वरों) के साथ में आ सकते थे। सानुनासिक स्वरों (अँ, आँ, इँ, आदि) का अभाव था। समीकरण आदि सन्धि-नियम भी अस्तित्व में थे। सामान्यतः दो व्यंजनों के संयोग में, यदि दूसरा सघोष हो तो दोनों सघोष और यदि दूसरा अघोष हो तो दोनों अघोष हो जाते थे।

पदरचना—आदिम आर्य भाषा के पद में तीन अंश हो सकते थे—धातु, पूर्वप्रत्यय, परप्रत्यय (सुप् तिङ)। इन अंशों में से धातु तो प्रतिपद में अवश्य होती थी, और बहुधा परप्रत्यय भी परन्तु पूर्वप्रत्यय एक या अनेक संख्या में धातु और परप्रत्यय के बीच में रह सकते थे। उदाहरणार्थ *दिश्* (दिशा), *भुक्* (खाने वाला) में केवल धात्वंश है और वैयाकरणों ने ऐसे पदों में धातु के साथ सुप् प्रत्यय के अस्तित्व की कल्पना की है और फिर उसके तत्कालीन लोप की; *सरित्*, *विद्वस्*, *मनस्* आदि में दो अंश हैं धातु और पूर्वप्रत्यय, इनमें भी परप्रत्यय के अस्तित्व और लोप की कल्पना करनी पड़ी है। *दिशः*, *भुजौ* आदि में धातु और परप्रत्यय मौजूद हैं, और *स्वप्नः*, *मनसा*, *गम्यमानम्* आदि में तीनों अंश। आदिम भाषा में उपसर्ग अर्थात् शब्द के आरंभ में धातु से पूर्व जुड़ने वाले अंश नहीं होते थे, संस्कृत अवेस्ती ग्रीक और आर्मीनी भाषाओं में पाया जाने वाला अ-(*अगच्छत्*, *अगमत्* आदि वाला) अन्य शाखाओं में नहीं मिलता, इसलिए आदिम भाषा में उसका होना निश्चित नहीं है। संस्कृत *प्र*, *परा* आदि उपसर्ग-संज्ञा वाले शब्द वस्तुतः स्वतंत्र पद थे और प्राचीन (वैदिक) संस्कृत में उनकी स्थिति क्रिया से दूर भी रह सकती थी। आदिम आर्यभाषाओं में मध्यविन्यस्त-प्रत्यय भी प्रायः नहीं थे। केवल रुधादि कुछ गणों में धातु की ध्वनियों के बीच में कुछ मध्यविन्यस्त प्रत्यय-सा दीखता है

जैसे (*रुध् रुएाध्*)। सारांश यह कि आदिम भाषा के पद में बहुधा धातु और परप्रत्यय दो अंश होते थे, और यदि उन दो के बीच में कुछ आ सकता था तो पूर्वप्रत्यय, एक या अनेक।

पद के इन तीन अंशों में से कोई भी एकाक्षर या अनेकाक्षर हो सकता था, किंतु किसी भी अंश में एक से अधिक मूलस्वर (अ ए ओ, *आ ए ओ*) नहीं हो सकते थे। हाँ एक ही अंश में एक मूलस्वर के साथ उदासीन स्वर या अन्तःस्थ स्वर रह सकता था। धातु का सादा रूप या अभ्यास-प्राप्त रूप पदों में आता था। अभ्यास करने में पूरी धातु या उसका थोड़ा अंश दुहराया जाता था। इसके अलावा धातु के स्वर-क्रम के अनुरूप कई रूप हो सकते थे, उदाहरणार्थ संस्कृत के *कृत, करति, कारयति* इन तीन पदों में से पहले में धातु का स्वर केवल अन्तःस्थ (*ऋ*) है मूल नहीं, दूसरे में ह्रस्व मूलस्वर है और उसके साथ अन्तःस्थ, और तीसरे में दीर्घ मूलस्वर और उसके साथ अन्तःस्थ। धातु का कौन रूप पद में प्रयोग में आएगा, इस बात का निर्णय उसके बाद आने वाले पूर्वप्रत्यय को देख कर किया जाता है। उदाहरणार्थ कर्तृवाचक तृच (**तर्*) प्रत्यय के पूर्व धातु का पूर्ण रूप आता था (*कर्ता, नेता, श्रोता*) किंतु *निष्ठा-क्त (तो)* प्रत्यय के पूर्व धातु का संक्षिप्त रूप (*कृत, नीत, श्रुत*)। पद के तीन अंशों में से उसी अंश में कुछ विकार हो सकता था जो परप्रत्यय के तुरन्त पहले हो, उसके पूर्व अंश स्थिर रहते थे, उदाहरणार्थ *जनि-ता, जनिता-रम् जनि-त्रा, जति-तुः* आदि में *जनि*-स्थिर है, विकार केवल तृच् प्रत्यय में हो सका है जो परप्रत्यय के पूर्व है। इसी प्रकार *जिगमिषुः, जिगमिषवः जिगमिषुएा* आदि रूप भी उदाहरण हैं। संस्कृत के वैयाकरणों ने पूर्वप्रत्यय के दो विभाग किए हैं, कृत् और तद्धित। कृत् केवल वे पूर्वप्रत्यय हैं जो धातु के अनन्तर ही आते हैं और तद्धित वे जो कृदन्त आदि सिद्ध रूपों के बाद। जिनको यहाँ परप्रत्यय की संज्ञा दी गई है उन्हें संस्कृत वैयाकरण सुप् तिङ कहते हैं। इनमें से सुप् कृदन्त या तद्धितान्त शब्दों के बाद और तिङ (क्रियार्थ) धातु के अनन्तर आए

हैं। परप्रत्यय आदिम भाषा में विभिन्न रूप का होता था, कोई केवल एक स्वर, कोई केवल एक व्यंजन, कोई केवल अन्तःस्थ कोई एकाक्षर या द्व्यक्षर या कोई केवल शून्य।

संज्ञा के बाद लगनेवाले परप्रत्यय क्रिया वाले परप्रत्ययों से बिल्कुल भिन्न पाए गए हैं, इससे सिद्ध होता है कि आदिम आर्यभाषा में संज्ञा और क्रिया में मौलिक भेद था। संज्ञा और क्रिया दोनों में तीन वचन (एक, द्वि, बहु) थे। क्रिया में तीन पुरुषों का भेद था। आदिम भाषा में संज्ञा की आठ विभक्तियाँ थीं और तीन लिंग। नपुंसकलिंग का भेद केवल प्रथमा, द्वितीया और संबोधन विभक्ति में था, अन्यत्र उसके रूप पुल्लिग के ही होते थे। आदिम भाषा की क्रिया में काल की विचारधारा गौण थी, क्रिया किस प्रकार की गई और उसका फल कैसा था और किसको मिला इत्यादि बातों का ज़्यादा ध्यान था।

संज्ञा (विशेषण और सर्वनाम सहित) और क्रिया के अलावा आदिम भाषा में क्रिया-विशेषण, उपसर्ग और समुच्चयादि-बोधक अव्यय थे। इन सबके रूप स्थिर मिलते हैं। पर अनुमान है कि ये सब भी पहले विकारी रहे होंगे, धीरे-धीरे अविकारी हो गए। वैदिक संस्कृत में *स्वस्तये, स्वस्तिना* आदि रूप मिलते हैं, उत्तरकालीन संस्कृत में *स्वस्ति* अव्यय हो गया, वैदिक संस्कृत में तुमन्त शब्द की विभक्तियाँ होती थीं (*गन्तवे* आदि), उत्तरकालीन में वह अव्यय-रूप ही मिलता है। आदिम भाषा के पद पर सामान्य नजर डालने से भी इतना पता चल जाता है कि उसमें अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का पूरा घाल-मेल था, अधिकांश शब्दों में दोनों को अलग करके रख देना टेढ़ी खीर है। इससे सिद्ध है कि आदिम आर्य भाषा श्लिष्ट योगात्मक अवस्था की थी।

आदिम आर्यभाषा में तीन बातें और थीं, समास, स्वर-क्रम और सुर। सुर के अलावा बलाघात का भी अनुमान किया जाता है। सुर पद के किसी भी (धातु, पूर्वप्रत्यय या परप्रत्यय) अंश में हो सकता था। दो या अधिक पदों का समास करके अन्तिम पद को छोड़ कर

बाक़ी के पदों से परप्रत्यय का अंश उड़ा दिया जाता था। पदरचना में स्वर-क्रम बड़ी सहायता करता था। आदिम आर्यभाषा के तीन मूल (अ, ऍ, ऑ ह्रस्व और दीर्घ आ, ए, ओ) के स्थान पर संस्कृत में केवल अकार (ह्रस्व और दीर्घ) मिलता है, इसे स्वरक्रम समझने में कठिनाई पड़ती है। पर संस्कृत में स्वयं गुण और वृद्धि के रूप में एक प्रकार का स्वरक्रम मौजूद है। आदिम भाषा में स्वरक्रम के मुख्य स्वर थे ए ओ। ग्रीक और लैटिन में तीनों मूलस्वर पाए जाते हैं। ग्रीक पदों में ऍ वर्तमानसूचक और ऑ भूतकाल-सूचक है। आदिम भाषा में मूलस्वर वर्तमान सूचक पदों में और शून्य (मूल-स्वर-राहित्य) बहुधा भूतकालवाची पदों में रहता था, *बिभर्ति*, भृतः उदाहरण हैं। स्वरक्रम के अनुसार ही श्रु (*क्ʼलु) के ये विभिन्न रूप मिलते हैं—

आदिम	संस्कृत	आदिम	संस्कृत
*क्ʼलॅउ-	श्रो-(त्र)	*क्ʼलॉव-	
*क्ʼलॅव्-	श्रव् (श्रः)	*क्ʼलोउ-	
*क्ʼलेउ-	(अ-) श्रौ-(षीत्)	*क्ʼलोव्-	
*क्ʼलेव्	(अ-) श्राव्-(इ)	*क्ʼलु	श्रु-(त)
*क्ʼलॉउ-	(शु) श्रो-(थ)	*क्ʼलव्	*(शु-)श्रवुः

आदिम भाषा का पद स्वयं अपना सम्बन्ध अन्य पदों से सूचित कर देता था, इसलिए समास के अलावा अन्यत्र पदक्रम का महत्व नहीं के बराबर था। ऋग्वेद में नपुंसक बहुवचन के साथ एकवचन की क्रिया बहुत स्थलों पर आई है, ग्रीक भाषा में भी नपुंसक बहुवचन के साथ एकवचन ही की क्रिया लगाने का नियम है। इससे जान पड़ता है कि ऐसे स्थलों पर बहुवचन केवल एक समूह का ही द्योतक होता था।

सिंहावलोकन करने से आदिम आर्यभाषा में, श्लिष्ट योगात्मक अवस्था, परप्रत्ययों का बाहुल्य और उनके द्वारा संबंध-तत्व का बोधन, पद के तीन अंश, धातु का अभ्यास, उपसर्ग और मध्य-प्रत्यय का अभाव, समास, स्वर-क्रम और सुर, ये मुख्य लक्षण दिखाई पड़ते हैं।

मूल निवासस्थान—वर्तमान और प्राचीन आर्यभाषाओं की विज्ञानी तुलना से ही आदिम आर्यभाषा की पुनः रचना हुई है। अनुमान है कि उस समय जब वह सुसंगठित भाषा के रूप में थी और उसकी बोलियों में परस्पर मार्के के कोई भेदक लक्षण नहीं पैदा हुए थे तव अर्यभाषा-भाषी किसी एक स्थान पर रहते थे। यह स्थान कौन था इस सवाल को हल करने के लिए अनेक विद्वानों ने विविध वाद उपस्थित किए हैं। भारतीय आर्य-ग्रंथों में कहीं यह उल्लेख नहीं मिलता कि आर्य कहीं बाहर से आए। भारतीय आर्य की कल्पना में अपने देश के अलावा स्वर्ग, पाताल, देवलोक आदि का अस्तित्व अवश्य था। देवताओं का निवास मेरु पर्वत पर था, वहाँ प्रकाश और सुख का सर्वदा अस्तित्व, और अन्धकार तथा दुःख का नितान्त अभाव रहता था। भारतीय आर्य प्राचीनता के पुजारी थे, उनको पितरों पर उतनी ही श्रद्धा थी जितनी देवों पर। संभव है कि इस देव-भूमि और पितृभूमि की कल्पना में आर्यों के आदि देश की झलक हो। भारतीय विचारधारा के अनुसार आर्यों के आदि देश का प्रतिबिम्ब संभवतः उनकी आदि सृष्टि की कल्पना में भी छिपा हुआ हो। कहते हैं कि मनुष्य का प्रथम सृजन त्रिविष्टप (तिब्बत) में हुआ। जो हो, मेरु पर्वत का हमें पता नहीं, तिब्बत मालूम है। वैदिक संहिताओं में पुरानी ऋचाओं में सप्तसिंधु प्रदेश का और उनकी अपेक्षा अर्वाचीन ऋचाओं में और पूरब के प्रदेशों का उल्लेख मिलता है। इसी आधार पर सर्वश्री अविनाशचन्द्र दास और सम्पूर्णानन्द ने भारत के ही उत्तरी भाग को आर्यों का आदि देश माना है। स्वर्गीय लोकमान्य बाल-गंगाधर तिलक ने कुछ ऋचाओं के भारी-भारी दिन और रात तथा उषाकाल के वर्णन के आधार पर उत्तरी ध्रुव प्रदेश को आर्यों का आदि देश ठहराया था।

आदिम आर्यभाषा, संस्कृत, अवेस्ती (तथा प्राचीन फ़ारसी), ग्रीक, जर्मनी, लैटिन, केल्टी, स्लावी, बाल्टी, आर्मीनी, अल्बेनी, तोखारी और हिट्टाइट इन सभी भाषाओं का आदि स्रोत समझी जाती है।

इसलिए आदि आर्य भाषा-भाषियों के तथा उनके मूलस्थान के विषय में विचार करते समय इन सब का ध्यान रखना चाहिए न कि केवल भारतीय आर्यों का। इन सबको उचित महत्व देकर कुछ यूरोपीय विद्वानों ने कुछ सुझाव पेश किए हैं। आज से प्रायः सौ साल पहले मैक्समूलर ने मध्य एशिया को मूलस्थान माना था। पर उनकी धारणा के विरोध में तुरन्त ही वाद उपस्थित किए जाने लगे और एशिया में नहीं बल्कि यूरोप में ही कहीं मूलस्थान माना जाने लगा। यूरोप के पूर्वी हिस्से का कोई प्रदेश (हंगेरी और रूस के बीच का प्रदेश, पूर्वी या दक्खिनी रूस, उत्तरी जर्मनी, स्कैंडीनेविया, पोलैंड, लिथुएनिया आदि) आर्यों का आदि देश था यह वाद बहुत दिनों से चला आ रहा है। अपने देश को आर्य-मूलस्थान साबित कर देने से देश-प्रेम और स्वजाति-प्रेम की कुछ अनुचित अधिकता भी किसी-किसी वाद की तह में दिखाई पड़ती है। इतिहास में आर्य जाति का आविर्भाव अन्यों (मिस्री, सुमेरी, अक्कदी, असीरी, चीनी आदि) की अपेक्षा अर्वाचीन है। अनुमान है कि आदिम आर्यों का प्रथम संपर्क उत्तरी मेसोपोटैमिया की तत्कालीन सभ्य जातियों से, ईसा के पूर्व तेईसवीं या बाईसवीं सदी में हुआ, ईसा पूर्व २००० वर्ष के आस-पास उनकी स्थिति मेसोपोटैमिया में पाई जाती है। प्रायः १४०० ई० पू० के बोगाज़ कोई लेख में आर्यों का प्रथम सर्वथा स्पष्ट उल्लेख है। इसमें मितानी जाति के शासक-वर्ग *मयन्नि* (सं० *मर्य*), तथा इन्दर (इन्द्र), *मित्तर* (*मित्र*), *उरुवन* (*वरुण*), *अरुन* (*अरुण*) और *नासातिय* (*नासत्य*) देवताओं का नाम आता है। इससे स्पष्ट है कि एशिया माइनर में उस समय आर्य जाति की कोई शाखा उपस्थित थी और इसी से प्रसिद्ध विद्वान सर्जी के इस वाद को, कि एशिया माइनर ही आर्यजाति का मूल-निवासस्थान था, बहुत कुछ बल मिलता है। आदिम आर्य भाषा के शब्दों की सुमेरी आदि अन्य भाषाओं की तुलना और परस्पर आदान-प्रदान से यह निष्कर्ष उचित मालूम पड़ता है कि हमें आदि देश की खोज यूरोप में न करके कहीं एशिया में ही करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में प्रो०

सुनीतिकुमार चटर्जी ने ब्रैंडेंस्टाइन के वाद को श्रेय दिया है। ब्रैंडेंस्टाइन का मत है कि उराल पर्वत का दक्खिनी प्रदेश ही आदिम आर्यों का मूल-निवासस्थान था।

वीरा—इस मूलनिवासस्थान पर रहने वाले सुसंगठित आर्यों को भाषाविज्ञानियों ने* *वीरोस्* नाम दिया है। सं० *वीर*, लै० उईर, जर्म० वेर, प्राचीन आइरी फेर, ये सब शब्द एक ही मूल-शब्द के उत्तर-कालीन रूप हैं। ये वीर संभवतः अपना आदि निवासस्थान छोड़ने के पूर्व एक ही जाति के थे, गोत्र आदि के रूप में इनकी टोलियाँ रही होंगी। उराल पर्वत के दक्खिन में विशाल मैदान हैं, यहीं पर अश्व जंगलों में पाया गया। वीरों ने उसे शिक्षा देकर पालतू बनाया और यही उनके वाहन का साधन बना। अनुमान है कि यहीं पर वीरों की एक शाखा जो बाद को ईरान और भारत के आर्यों के पूर्वज के रूप में इतिहास में आई, रहती रही और शेष वीर पच्छिम की ओर जाकर पोलैंड में पहले-पहल बस गए। पर यह भी संभव है कि ईरानी और भारतीयों के पूर्वज आर्य, तथा हिट्टाइट शाखा के पूर्वज, दक्खिन काकेशस पहाड़ और मेसोपोटैमिया पहुँचे और वहाँ से ईरान। और ईरान से एक शाखा भारत के सप्तसिन्धु प्रदेश में आ गई। यह सब ईसा पूर्व २५००—२००० में हुआ होगा, ऐसा अनुमान है।

वीरों की सबसे बड़ी खूबी अश्व था। इसके महत्व का जो वर्णन ऋचाओं में है वह गाय का नहीं। इसको लेकर जब वीर पच्छिम और दक्खिन की ओर बढ़े होंगे तब उनके सामने अन्य जातियों का ठहरना असंभव हो गया होगा। मेसोपोटैमिया आदि में उस समय बैल *(उक्षा)*, ऊँट और गदहे का इस्तेमाल था। ये घोड़े के मुकाबिले में ठहर नहीं सके।

ब्रैंडेंस्टाइन महोदय का मत है कि वीर सूखी चट्टानों वाली पहाड़ियों पर रहते थे। वहाँ हरे भरे जंगल नहीं थे; थे केवल कुछ गुल्म और बाँझ आदि वृक्ष। जंगली रीछ, ऊदबिलाव, भेड़िया, लोमड़ी खरगोश, चूहा आदि कुछ जानवरों से वीर लोग अनभिज्ञ थे। पालतू जानवरों में घोड़ा, भेड़, बकरी, कुत्ता, सुअर और गाय से परिचय था।

गाय उन्हें सुमेरी जाति से मिली। सुमेरी में गाय के लिए गुद् शब्द है। इसी से आर्य *ग्वाउस् शब्द का संबंध है। कुछ चिड़ियों और मछली आदि जलजंतुओं को भी जानते थे। पूरब वाली शाखा अपने नए निवासस्थान में ई० पू० १५०० तक भली प्रकार बस गई थी। पच्छिम वाली शाखा पोलैण्ड में बसी और उसके कुछ समुदाय बल्कान पहाड़ियों पर होते हुए ग्रीस पहुँचे और वहाँ तथा आस-पास के देशों में वे ई० पू० १००० तक अच्छी तरह बसे पाए जाते हैं।

वीरों के विषय में विद्वानों का अनुमान है कि पशुपालन और शिकार इनकी जीविका के मुख्य साधन थे। खेती बारी इन्होंने दक्खिन के प्रदेशों में आकर इन प्रदेशों के तत्कालीन मनुष्यों से सीखी। तभी इन्हें गाय और बैल का महत्व मालूम हुआ। इनके मूलस्थान में फलों के वृक्ष भी न थे। फलों का अधिकाधिक प्रयोग भी इन्होंने इन्हीं जातियों से सीखा। वीरों में समाज का संगठन पितृ-प्रधान था। बहु-विवाह की प्रथा न थी। कई कुल मिलाकर गोत्र बनता था। इनका दिमाग ऊँचे दर्जे का था। संगठन अच्छा था। स्त्री पुरुष के परस्पर व्यवहार में यथेष्ट संयम था। स्त्री जाति का समुचित आदर था। कन्या का विवाह पिता, बड़े भाई आदि की इच्छा और आज्ञा से होता था; स्वेच्छा से नहीं। धर्म के क्षेत्र में, इनको अलक्षित दैवी सत्ता पर विश्वास था और इसकी विविध देवशक्तियों के रूप में कल्पना की गई थी। पृथ्वी लोक के परे द्यौलोक दैवी शक्तियों का निवासस्थान था। द्यौः पिता, सविता, पृथ्वी, उषा आदि देवताओं की संख्या परिमित ही थी, मिस्री और सुमेरी जातियों की तरह इनके देवी-देवता बहुतेरे न थे। स्पष्ट ही है कि इस तरह के सुसंगठित और संयमी, शरीर, मन और आत्मा के हृष्ट-पुष्ट वीर जहाँ भी गए वहाँ अपनी शक्ति की स्थापना कर सके और अपनी वाणी का प्रभुत्व अन्य वाणियों पर स्थापित कर सके।

आदिम की शाखाएँ

आदिम आर्यभाषा की शाखाएँ कब फूट निकलीं इसका निर्णय कर पाना असंभव है। अनुमान है कि संगठित अवस्था में भी इसकी

बोलियाँ रही होंगी। भिन्न भिन्न बोलियों वाली टोलियाँ (गोत्र) मूलस्थान से, अलग अलग कोई किसी समय, कोई कुछ बाद, कोई उसके भी बाद चल निकली होंगी। मूलस्थान से हट आने पर अन्य भाषा-भाषियों के सम्पर्क से इनकी भाषा में विकार की गति किसी-किसी स्थिति में प्रबल और किसी में क्षीण रही होगी। जब इस नज़र से हम आर्य भाषाओं पर विचार करते हैं तो संस्कृत आदिम भाषा के सबसे अधिक निकट मालूम पड़ती है। यद्यपि तीन मूल स्वर (अ, ऍ, ऑ) इनमें एक रूप (अ) में मिलते हैं और म़ ऩ के स्थान पर भी अ पाया जाता है तब भी अन्य ध्वनियों की और पदरचना की आदिम भाषा से पर्याप्त समानता क़ायम रही है। आधुनिक आर्य भाषाओं का विवेचन करने से हमें पता चलता है कि सभी शाखाओं में विकास की एक ही गति नहीं रही है। उदाहरणार्थ फारसी, विभक्तियों और लिंगभेद की दृष्टि से बहुत कुछ आदिम भाषा से दूर हट आई हैं, अपेक्षाकृत जर्मनी भाषा नजदीक है। लिथुऐनी में अभी कुछ बरस पहले तक द्विवचन मौजूद था, यद्यपि अन्य सभी भाषाओं में वह कभी का समाप्त हो चुका।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् श्लाइख़र ने आदिम भाषा से, शाखाओं की दूरी के अनुपात से, कब कौन शाखा अलग हुई इसका हिसाब लगाया था। उनका अनुमान था कि स्लावी-जर्मनी भाषाएँ एक तरफ अलग हुईं और दूसरी ओर ईरानी-हिन्दी-ग्रीक-इटाली-केल्टी। पहली की बाद को दो शाखाएँ हुईं, और दूसरी की एक ओर ईरानी-हिन्दी शाखा जा पड़ी और दूसरी ओर ग्रीक आदि अलग-अलग हो गईं। वर्तमान भाषाओं की स्थिति देख कर इस प्रकार निश्चयपूर्वक कह देना नितान्त असंगत है क्योंकि यदि शाखाएँ बिना अन्य भाषाओं के सम्पर्क में आए हुए स्वतन्त्र रूप से विकसित होतीं तब तो ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचना ठीक होता, परन्तु भाषा के विकास की परिस्थिति बड़ी जटिल होती है। कितने ही भीतरी और बाहरी कारण आकर उपस्थित हो जाते हैं जो अनुमान के क्षेत्र को बिल्कुल संकुचित कर देते हैं।

पदरचना के हिसाब से हिट्टाइट, आदिम आर्यभाषा के निकट है पर ध्वनि-समूह, वाक्य-विन्यास और शब्दावली की दृष्टि से उससे दूर है। समय की नज़र से वह आदिम आर्य से अन्यों की अपेक्षा निकट है तब भी अंतर बहुत अधिक है, इसी कारण से विद्वानों का मत है कि हिट्टाइट आदिम की समकक्ष रही होगी, सन्तान नहीं।

आर्य भाषाओं की परस्पर तुलना कर के, पहले उनको दो समूहों में बाँटा जाता है, एक का नाम **केन्टुम्** और दूसरे का **सतम्**। ऊपर (पृ० ३२० पर) आदिम भाषा की ध्वनियों पर विचार करते समय हमने देखा है कि प्रथम श्रेणी के कवर्ग का उच्चारण तालव्य गौण सहायता से होता था। ये कवर्ग ध्वनियाँ कुछ भाषाओं में तो स्पर्श वर्ण रह गई हैं, लेकिन अन्य कुछ में संघर्षी या स्पर्श-संघर्षी हो गई हैं। केन्टुम् (centum) एक भाषा-समूह की प्रतिनिधि भाषा लैटिन का शब्द है और **सतम्** दूसरे समूह की प्रतिनिधि ईरानी का। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

आ० आ०	ग्रीक	इटाली	केल्टी	जर्मनी	स्लावी	बाल्टी	ईरानी	भार०
*क'मर्ताम्	*हेकटोन*	*केन्टुम*	*कैन्ट*	*हंड्रेड*	*सुतो*	*शिंतस्*	*सतम्*	*शतम्*
*क'लवोस	*क्लेकोस्*	*इन्क्लुतुस्*		*क्लु-*	*स्लोवो*		*स्रवः*	*श्रवः*
*वोइको'स	*ओइकोस्*	*वीकुस्-*		*वीह्स*	*विसि*	*विएश*	*वीस्*	*वेश*
*गोनु	*गोनु*	*गेनु'*		*क्नी*			*ज़ानू*	*जानु*
*गेनोस्	*गेनोस*	*गेनुस*		*किन्*			*ज़नु*	*जनुः*
*वेघ''	*ओखास*	*हित्*	*अर-वैन्*	*वेगन्*	*वेज़ॉ*	*वेज़*	*वज़ैति*	*वहति*

(२) **कुन्टुम्** और **सतम्** समूहों का परस्पर एक और भेदक लक्षण है। आदिम भाषा के कवर्ग की तृतीय श्रेणी के उच्चारण में ओंठों की गौण सहायता ली जाती थी। इस गौण सहायता का अवशेष केन्टुम् भाषाओं में अब भी मौजूद है पर सतम् भाषाओं में इसका लोप हो गया है। उदाहरण के लिये नीचे कुछ शब्दों को देखा जाय।

आ० आ०	ग्रीक	इटाली	जर्मनी	भारतीय	ईरानी
**क्वर्तिरोस्*	*पोतेरास्*		*व्हेदर*	*कतरः*	
**विवद्*	*ति*	*विवद्*	*व्हिट*	*चिद्*	
**ग्वीवोस्*	*विओस*	*वीवास्*	*किउस*	*जीवः*	*जीवो*
**घ्वीर्मोस्*	*थेर्मोस्*	*फ़ार्मुस्*	*वार्म*	*घर्मः*	*गर्म (गरम)*
**स्नेइघ्व*	*निफ्*	*निवम्*	*स्नइवस*	*स्निग्ध*	

प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी ऐस्कोली ने १८७० ई० में केन्टुम् और सतम् भाषाओं का विभेद स्पष्ट रूप से विद्वन्मंडली के सामने रक्खा था। कुछ समय तक केन्टुम् पच्छिमी शाखा और सतम् पूर्वी शाखा समझी जाती रही पर बीसवीं सदी के आरंभ में तोखारी निकल पड़ी जो मध्य एशिया की होते हुए अर्थात् पूरब में स्थिति रखते हुए भी केन्टुम् शाखा की है क्योंकि उसमें कवर्ग की प्रथम श्रेणी संघर्षी वर्णों में परिणत नहीं पाई जाती, यद्यपि तृतीय श्रेणी के कवर्ग से विकसित ध्वनियों में ओष्ठ्य उच्चारण का अभाव है। इसलिए पूर्वी और पच्छिनी शाखायें समझना असंगत है। इस द्विधा विभाग के अनुसार केल्टी, जर्मनी, इटाली, ग्रीक, हिट्टाइट और तोखारी केल्टुम् भाषाएँ हैं तथा अल्बेनी, स्लावी, बाल्टी, आर्मीनी और हिंद-ईरानी सतम् हैं।

यह बात निश्चय-पूर्वक नहीं कही जा सकती कि केन्टुम् और सतम् का भेद आदिम भाषा में बोली-स्वरूप मौजूद था या नहीं। और यदि था भी तो आज जो शाखाएँ इनके अन्तर्गत हैं उन्हीं के मूलरूपों (विशिष्ट बोलियों) में ही था या और कहीं। आरंभ से ही यह द्विधा विभाग मान लेना असंगत बात होगी। उदाहरणार्थ जर्मनी और आर्मीनी दोनों शाखाओं में आदिम ब्, द्, ग्, का क्रमशः प्, त्, क्, का रूप पाया जाता है पर इससे दोनों में आदि काल के किसी संबंध की कल्पना कर बैठना निर्मूल है। अगले अध्याय में केल्टी आदि शाखाओं का विवेचन किया जायगा।

तैंतीसवाँ अध्याय

आर्य परिवार की शाखाएं

केल्टी

इस शाखा की भाषाएँ आज से दो हज़ार साल पहले आयलैंड, ग्रेट ब्रिटेन, फ़ाँस के कुछ भाग, बेल्जियम, स्विटज़रलैंड, जर्मनी, स्पेन, इटली, ग्रीस आदि यूरोप के विस्तृत क्षेत्र में बोली जाती थीं। पर अब ये आयलैंड, स्काटलैंड और इंग्लैण्ड के वेल्ज़ और कार्नवाल प्रदेशों में ही पाई जाती हैं। आयलैंड में जब तक अंग्रेज़ों का प्रभुत्व रहा तब तक अँगरेज़ी सर्वेसर्वा रही, पर देश की स्वतन्त्रता के साथ-साथ देश की अपनी भाषा आइरी (गैली) भी फिर काम में आने लगी है। गैली का साहित्य ई० पाँचवीं सदी तक का पाया जाता है।

केल्टी में आदिम क्व् कहीं प् रूप में (*पेंक्व<पम्प) और कहीं क् रूप में (कोइक़्) पाया जाता है।

केल्टी की इटाली शाखा से काफ़ी समानता है, प्रायः उसी प्रकार की जैसी भारतीय और ईरानी की परस्पर है। मुख्य समानताएँ ये हैं—

(क) ओकारान्त पुंलिग और नपुं० संज्ञाओं की षष्ठी (सम्बन्ध) विभक्ति का प्रत्यय -ई।

(ख) क्रियार्थक संज्ञा का प्रत्यय -शन् (-tion)

(ग) कर्मवाच्य की क्रिया।

केल्टी के तीन वर्ग माने जाते हैं—

(क) गौली (Gaulish)

(ख) गोइडेली (Goidelic)

(ग) ब्रांथानी (Brythonic)

गोइडेली के अन्तर्गत आइरी, स्काटी और गैली हैं तथा ब्राथानी के वेल्श, ब्रेटन और कार्निश।

गौली और ब्राथनी में आदिम आर्य का क्‌ प्‌ में (*पेंक्वे>पम्प) किन्तु गोइडेली में क़्‌ (*पेंक्वे>कोइक़) में परिणत हो गया है।

इटाली

इस शाखा की प्राचीन भाषाओं में से लैटिन अब भी वर्तमान है। इसी से रोमांस भाषाएँ (स्पेनी, पुर्तगाली आदि) निकली हैं। पर लैटिन की समकक्ष अन्य प्राचीन भाषाएँ इस शाखा में रही होंगी। कुछ लेखों से पता चलता है कि ओस्की और उम्ब्री भाषाएँ ईसवी पहली सदी तक वर्तमान थीं। इन दोनों में आदिम क्‌ व्‌>प्‌ हो जाता है, लैटिन में क्‌ रहता है (सं० *अश्वः*, लै० *ऍकुउस*, ओ० *ऍपो*)।

लैटिन रोम की भाषा थी। और रोमन साम्राज्य के साथ-साथ सारे यूरोप में फैली। इसके लेख २५० ई० पू० तक के मिलते हैं। यह साम्राज्य कई सदियों तक क़ायम रहा। उस समृद्धिकाल में कुछ देशों में वहाँ की देशी भाषाओं को परास्त करके यही वहाँ की भाषा बन बैठी। साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर केन्द्र से सम्पर्क शिथिल पड़ गया और इन विभिन्न देशों की लैटिन भाषाओं ने अलग-अलग स्वतन्त्र भाषाओं की सत्ता प्राप्त कर ली। पर साहित्यिक लैटिन बराबर साहित्य और धर्मकृत्यों में, संस्कृत की भाँति, काम में लाई जाती रही और आज भी रोमन-कैथोलिक सम्प्रदाय की धार्मिक भाषा है। लैटिन में ग्रीक की तरह का रूप-बाहुल्य नहीं है, पर प्राचीनता की प्रचुर सामग्री तब भी मौजूद है।

रोमांस शब्द का वास्तविक अर्थ है रोम की। अन्य भाषाओं की तरह साहित्यिक लैटिन और बोलचाल की लैटिन में आरंभ से ही अन्तर पड़ गया था। ईसवी प्रथम शती के अन्त तक तो साहित्यिक भाषा अपना प्रभुत्व जमाए रही पर बाद में बोलचाल की भाषा को वह दबाए न रख सकी। धार्मिक क्रान्ति और बर्बरों के आक्रमणों ने भी साहित्यिक लैटिन को क्षति पहुँचाई। विभिन्न प्रदेशों की बोलचाल

की लैटिन उन-उन प्रदेशों में खूब जम गई और ८वीं शती ई० तक साहित्यिक लैटिन की पराजय सम्पूर्ण हो गई। इसी समय से इटाली अथवा रोमांस भाषाओं का आविर्भाव माना जाता है। इनमें लैटिन के पूर्व बोली जाने वाली भाषाओं के अवशिष्ट चिह्न नगण्य हैं।

शब्दों के आदि के व्यंजन प्रायः अक्षुण्ण रह गए हैं पर मध्य के व्यंजनों में काफ़ी परिवर्तन और विकास हुआ है। उदाहरणार्थ सभी रोमांस भाषाओं में -ब- का परिणाम -व- हो गया है। प्रायः शब्दों के अन्त्य -म्-न् का सर्वत्र ह्रास है।

पदरचना में दो बातें मुख्य हैं--(क) संज्ञा और क्रिया के रूपों में विकार और (ख) संयोग से वियोग की ओर प्रवृत्ति। सभी भाषाओं से नपुंसक लिंग दूर हो गया है। संज्ञा और विशेषण के एक वचन में एक ही विभक्ति रह गई है। क्रिया के रूपों में भी बहुत परिवर्तन हो गया है।

वाक्य में पदों के स्थान का महत्व बढ़ गया है और कर्त्ता-क्रिया-कर्म यह क्रम प्रायः निश्चित हो गया है। अव्ययों की संख्या बढ़ गई है तथा क्रियाओं के अधिक कालों और क्रिया-विशेषणों एवं उपसर्गों की अधिकता से भाषाओं में एक विशेष निश्चितार्थत्व आ गया है।

नीचे लिखी आधुनिक भाषाओं का विकास लैटिन से ही हुआ है।

इटाली--इटली सिसिली, और कार्ज़िका में बोली जाती है। वर्तमान इटली राज्य की राजभाषा है। ६६४ ई० तक के लेख मिलते हैं।

रुमानी--रुमानिया, ट्रांसिल्वेनिया और ग्रीस के कुछ प्रदेश में बोली जाती है। इस पर स्लावी और तुर्की का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। साहित्य १६वीं सदी से आरम्भ होता है।

प्रोवेंशल--फ्राँस के दक्खिनी हिस्से में ११वीं-१३वीं सदी में बोली जाती थी और अब भी एक छोटे से प्रदेश में वर्तमान है। गठन में इटली और फ़्रेंच के बीच की है। ११वीं सदी तक का साहित्य मिलता है।

फ्रेंच–फ़्रांस की भाषा है। ८४२ ई० तक पुराने लेख मिलते हैं। पेरिस की बोली ही राजभाषा बनी और राजनीतिक प्रभाव के कारण पिछली सदी तक समस्त यूरोप की आधुनिक संस्कृति की भाषा बनी रही।

पुर्तगाली––पुर्तगाल की भाषा है। १२वीं सदी तक का पुराना साहित्य है।

स्पेनी––स्पेन की भाषा है। इसका भी साहित्य १२वीं सदी तक का मिलता है।

पुर्तगाल और स्पेन के यहूदियों की एक विशिष्ट भाषा सेफ़ार्डी है। इसका ढाँचा स्पेनी है पर अन्य बहुतेरी बातें सामी।

इटली, पुर्तगाल, स्पेन, फ़्रांस आदि के साम्राज्य के साथ-साथ इन देशों की भाषाएँ अमरीका और अफ़्रीका के इन देशों के उपनिवेशों में जाकर फैली हैं।

ग्रीक

इस शाखा के अन्तर्गत प्राचीनकाल में ही बहुत सी बोलियाँ थीं। इनमें ई० पू० ७वीं - ८वीं सदी तक के लेख मिलते हैं और इधर तेरहवीं शती (ई० पू०) के भी अभिलेख मिले हैं। होमर के महाकाव्य इलियड और ओडेसी तो ई० पू० १००० के माने जाते हैं। प्राचीन बोलियों में ऐटिक और डोरिक प्रधान थीं। जो बोली कई बोलियों के क्षेत्र में सर्वसामान्य भाषा की सत्ता प्राप्त कर सकी उसे कोइनी (Koine) कहते थे। ऐटिक सर्वसामान्य भाषा के रूप में ई० पू० चौथी सदी से आगे बराबर काम में लाई जाने लगीं। परिणामस्वरूप अन्य बोलियाँ मर-मरा गईं। आधुनिक ग्रीक इसी ऐटिक से विकसित हुई है और ग्रीस में तथा पास के समुद्रों के द्वीपों में और आस-पास के देशों में यत्र-तत्र बोली जाती है।

ग्रीक और संस्कृत की तुलना करने पर बहुतेरे समान लक्षण पाए जाते हैं। ग्रीक में मूल स्वर संरक्षित पाए जाते हैं, संस्कृत में मूल व्यंजन। दोनों में सुर हैं। संस्कृत में विभक्ति-रूप सम्पूर्ण पाए जाते

हैं, ग्रीक में खंडित। दोनों में अव्ययों का बाहुल्य है। समास और द्विवचन दोनों में हैं। दोनों में परस्मैपद और आत्मनेपद हैं। लकारों की समृद्धि संस्कृत में अधिक है पर ग्रीक में निष्ठा, तुमन्त, पूर्वकारिक क्रिया आदि की।

प्राचीन इतिहास से **थ्रेशी, फ़्रिजी** और **मैसेडोनी** भाषाओं का भी पता चलता है। ये ग्रीक और आर्मीनी के बीच की रही होंगी। फ़्रिजी आर्मीनी के सन्निकट समझी जाती है।

जर्मनी

इस नाम के अन्तर्गत अँगरेजी, जर्मन, डच आदि वर्तमान पच्छिमी यूरोप की कई भाषाएँ आती हैं। 'जर्मनी' शब्द का सर्व-प्रथम प्रयोग केल्टों द्वारा मिला है जो प्रायः ई० पू० पहली सदी का है और अनुमान है कि उन्होंने इस शब्द का प्रयोग 'पड़ोसी' के अर्थ में किया है। इनके एक ओर केल्ट और दूसरी ओर स्लाव जाति के लोग थे। निश्चय है कि ईसा के दो चार सदी पूर्व ही इस शाखा में विभिन्न बोलियाँ हो गई थीं। इस शाखा का दूसरा नाम ट्यूटानी भी है। ट्यूटन शब्द से जर्मन, इंगलिश आदि सभी जातियों का बोध होता है। जर्मनी के उत्तरी भाग की भाषा के कुछ लेख रूनी लिपि में खुदे हुए ई० तीसरी सदी के मिलते हैं। यह लिपि इनकी निजी थी और ग्रीक और रोमन से भिन्न। इसके अलावा गाथी बोली में बिशप उल्फ़िलस (३११–३८१ ई०) कृत इंजील का अनुवाद भी मिलता है। यही इस शाखा की सबसे पुरानी सामग्री है। इस प्राचीन सामग्री के आधार पर, आरंभ से ही इस शाखा की अन्तर्गत भाषाओं के तीन समूह हो जाते हैं, उत्तरी पूर्वी और पच्छिमी।

उत्तरी समूह की प्राचीन नार्स या प्राचीन स्कैन्डीनेवी के लेख तीसरी सदी से ८वीं सदी तक के मिलते हैं। ११वीं सदी से दो शाखाएँ फूट निकली मालूम होती हैं। (क) पच्छिमी स्कैंडीनेवी जिसमें आइसलैण्ड की भाषा आइसलैण्डी और नार्वे की भाषा नार्वेजी है

और (ख) पूर्वी स्कैण्डीनेवी जिसमें स्वीडेन की भाषा स्वीडी और डेनमार्क की डेनी आती है। आइसलैण्डी के एड्डा नाम के गीत (१२००-१३५० ई० के) संसार भर में प्रसिद्ध हैं।

पूर्वी समूह की प्राचीन बोली गाथी का उल्लेख हो चुका है। इसके अलावा कई और थीं। ये सब अब केवल साहित्य में ही मिलती हैं। पच्छिमी समूह के अन्तर्गत तीन शाखाएँ हैं, (क) **इङ्गलिश-फ्रीजी** (ख) **जर्मन** और (ग) **डच**।

इंगलिश-फ्रीजी के अन्तर्गत दो भाषाएँ हैं, अँगरेजी और फ्रीजी। फ्रीजी बोलने वाले लोग हालैंड में और जर्मनी के उत्तर-पच्छिमी भाग में रहते हैं। इनकी बोली के ग्रंथ १३वीं सदी तक के पुराने मिलते हैं। फ़्रीजी गठन में अन्य जर्मनी भाषाओं की अपेक्षा अँगरेजी से सर्व-निकट है।

अँगरेजी का नाम इंगलिश इसके बोलने वाले ऐंगेल (Angel) जाति के कारण पड़ा। सैक्सन, जूट, आदि अन्य सहकारी जातियों के साथ इन्होंने ब्रिटेन पर ५वीं ६वीं सदी में धावा किया और यहाँ के निवासियों को परास्त कर के उन पर अपनी भाषा का आरोप किया। अँगरेजी भाषा के सर्वप्रथम लेख, धर्म-ग्रंथों की टीका के रूप में ७वीं सदी तक के मिलते हैं। गठन आदि विकास के अनुकूल अँगरेजी के तीन काल निर्धारित किए जाते हैं—(क) प्राचीन, प्रायः ११वीं सदी के अन्त तक, (ख) मध्य, १५वीं सदी तक और (ग) आधुनिक, प्रायः १५०० ई० से इधर। अँगरेजी की ही कई बोलियाँ हैं (Put उत्तरी **पट्** दक्खिनी **पुट्**), पर १६वीं सदी से ही लन्दन और उसके आस-पास की बोली को राजभाषा का श्रेय मिलता रहा है और आज यही प्रमुख है। अँगरेजी आज बीस पच्चीस करोड़ मनुष्यों की बोली है, ब्रिटिश साम्राज्य और अमरीकी साम्राज्य के साथ साथ यह सब तरफ़ फैली है। इंग्लैंड की और अमरीका की भाषाओं में विशेष अंतर है, प्रायः इतना कि बोली से ही, बोलने वाला अमरीका निवासी है या इंग्लैंड का रहने वाला यह बात जानी जा सकती है। अन्य भाषाओं के क्षेत्रों में

फैलने के कारण इंगलिश के विभिन्न रूपांतर हो गए हैं। चीनी मनुष्य की अंग्रेजी को अँगरेज़ लोग पिडगिन इंगलिश और हमारी को बाबू इंगलिश कहते हैं। आधुनिक अँगरेज़ी गठन में सीधी सादी है और प्राय: अयोगावस्था आकृति की ओर जा पड़ी है। उसके सीखने में जो कठिनाई है वह इस कारण से कि उसका अक्षर-विन्यास पुराना है, परिणामस्वरूप लिखते कुछ हैं और बोलते कुछ। इस दोष को मिटाने का कुछ प्रयास अमरीका में हुआ है पर बहुत सफल नहीं हो पाया। अपने प्रसार के कारण अँग्रेज़ी आज संसार की प्रमुख भाषा मानी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और राजनीति में अब इसका सर्वत्र प्रयोग होता है और इस क्षेत्र में इसने पिछले तीस चालीस साल में फ़्रेंच को हटा भगाया है।

जर्मन—इस समूह की बोलियों का विभाग हाइ (उच्च) जर्मन और लोउ (निम्न) जर्मन के रूप में ८वीं सदी के आरम्भ से ही मिलता है। हाइ बोलियाँ दक्खिनी और पर्वतीय प्रदेश की हैं और लोउ उत्तरी की जो अपेक्षाकृत ऊँचाई में कम है। यह विभाग व्यंजनों के एक भेदक विकास के कारण किया जाता है प्राचीन जर्मन के प् (त्) ट् क् यदि दो स्वरों के मध्य में या शब्द के अन्त में किसी स्वर के बाद स्थित हों तो जर्मन में उसके स्थान पर क्रम से फ़् (फ्फ), स (स्स्) और ह् ह (ख् ch) हो जाते हैं। लोउ जर्मन (और अँगरेजी जो इस विकास के पूर्व ही यहाँ से ब्रिटेन जा पड़ी थी,) उस में यह नहीं होता।

उदाहरणार्थ—

हाइ जर्मन	*श्लाफ़ेन*	*लासॅन्*	*त्साइशॅ (ख़ॅन्) स्प्राख़ॅन्*
इंगलिश	*स्लीप्*	*लॅट्*	*स्पीक्*

इसी प्रकार प्राचीन जर्मन के शब्द के आदि में या किसी व्यंजन के उपरान्त स्थित प्, पट्, क् के स्थान पर हाइ जर्मन में क्रम से प्फ्, *त्स् (ज़्)* और क्ख् हो जाते हैं, यह विकास भी लोउ जर्मन और अँगरेजी में नहीं मिलता।

उदाहरणार्थ--

हाइ जर्मन	फ़्फ़ुंड्	त्सेहन्	गा० क्विउ क्वी
इंगलिश	पॉउंड्	टेन्	नी (क्नी)

जर्मन भाषाओं के व्यंजनों के इस विकास को द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन कहते हैं। पहला ध्वनि परिवर्तन कई सदी पहले हो चुका था। इसका उल्लेख आगे किया जायगा। प्रायः ११०० ई० तक की हाई जर्मन को प्राचीन काल की, तब से १५५० ई० वाली तक को मध्यकाल की, और इधर वाली को आधुनिक कहते हैं। आधुनिक काल में ही साहित्यिक और राजकीय जर्मन का विकास हुआ है। आधुनिक जर्मन भाषा भाषियों की संख्या ८ करोड़ से ऊपर है। जर्मनी के अलावा पास पड़ोस के चेकोस्लोवैकिया, स्विटजरलैंड, बेल्जियम आदि राज्यों में जर्मन भाषा-भाषी बहुत लोग हैं। जर्मन भाषा में विज्ञान और दर्शन संबंधी बड़ा ऊँचा साहित्य है। इसकी तुलना संसार में कोई साहित्य नहीं कर सकता। जर्मन लोग अपनी भाषा को डाइटशे कहते हैं जिसका अर्थ है 'जन भाषा'।

डच भाषा मुख्य रूप से हालैंड की भाषा है और इधर १६वीं सदी से लगाकर आज तक बराबर इसकी उन्नति होती आई है। बेल्जियम की भाषा इससे बहुत मिलती-जुलती है।

जर्मनी शाखा की सभी भाषाओं पर सामूहिक रूप से विचार करने पर पता चलता है, कि ये सभी, आर्य परिवार की अन्य शाखाओं की भाँति, श्लिष्ट योगात्मक अवस्था से अयोगात्मक होती जा रही हैं, कोई कम, कोई ज़्यादा। जर्मन की अपेक्षा अँगरेजी ज़्यादा अयोगात्मक हो गई है। सभी में बलाघात महत्वपूर्ण स्थिति को पहुँच गया है। आदिम आर्य में सुर था, इस शाखा में इसका अवशेष केवल स्वीडी में पाया जाता है। अन्यत्र सब भाषाओं में बलाघात है और सो भी प्रत्यय पर नहीं, धात्वंश पर।

जर्मनी शाखा का एक बड़ा महत्वपूर्ण लक्षण उसके कुछ ध्वनि-नियमों के रूप में है। इन नियमों में सर्व प्रमुख ग्रिम-नियम है। सन्

१८१९ में याकोब ग्रिम नामक विद्वान ने *डोइट्शेस् ग्रामाटिक* नाम का जर्मन भाषा का व्याकरण प्रकाशित किया। तीन साल बाद १८२२ में उन्होंने इस पुस्तक का दूसरा संस्करण निकाला। इस संस्करण में उन्होंने जर्मन भाषा संबंधी चन्द ऐसे नियम स्पष्ट और विशद रूप से विद्वानों के सामने रक्खे जिनसे जर्मन भाषा के विकास के समझने में बड़ी आसानी हुई। इन नियमों का संकेत कई साल पूर्व प्रसिद्ध डेनी विद्वान रास्क ने भी किया था। पर इनका स्पष्ट अभिधान ग्रिम ने ही किया, इसलिये ये ग्रिम के नाम से प्रसिद्ध हुए।

ग्रिम-नियमों के अनुसार जर्मनी शाखा में ये परिवर्तन हुए—

(क) आदिम आर्य भाषा के क् त् प् के स्थान पर क्रम से ख़ (ह), थ् फ़्

(ख)	,,	ग् द् ब्	,,	क् त् प्
(ग)	,,	घ् ध् भ्	,,	ग् द् ब्

कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी—

आदिम	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	गाथी	अँगरेजी
*कंरद	श्रद्-(धा)	कर्द् -	कॉर् द्	हैर्तो	हॉर्ट्
*त्रेयंस्	त्रि	त्रेइस्	त्रेस	थ्रीस्	थ्री
*पोद्	पाद्	पोउस्	पेस्	फ़ोटुस्	फ़ुट
*गेनोस्	जनुः	गेनोंस्	गेनुस्	कुनि	किन्
*देकं	दश	डेक	डेकेम्	तेहुन्	टेन्
*स्लेउब्			लूब्रिकुस्	स्लिउसान्	स्लिप
*घंन् स्	हंसः	ख़ेन् (ख़ान्)	अन्सेर	गन्स्	गूज़्
*मेधु	मधु	मे०थु	*मेदू (केल्टी)		मीड्
*भेरो	भरा-मि	फेरा	फ़ेरो	बैरान्	बेअर

ग्रिम द्वारा प्रतिपादित इस ध्वनि-नियम से जर्मनी शाखा के शब्दों में के अधिकांश व्यंजनों का समाधान हो गया, पर ग्रिम ने स्वयं अनुभव किया था कि तब भी बहुतेरे अपवाद रह जाते हैं। इनमें से एक अपवाद यह था कि जहाँ अधिकांश आदिम ब् द् की जगह इस शाखा में क्रम से प् त् मिलते हैं, वहाँ गाथी *बिउद*, *बिन्दान्*, *दाब्स* आदि शब्दों में आदिम ब् और द् की जगह ब्, द् ही पाये जाते हैं, प् त् नहीं। इस अपवाद का समाधान हर्मन ग्रासमन नामक, संस्कृत और ग्रीक भाषाओं के प्रसिद्ध विद्वान ने किया। इन्होंने प्रतिपादित किया कि संस्कृत और ग्रीक के एक स्वकीय नियम के अनुसार, यदि आदिम भाषा में धातु के आदि और अन्त दोनों स्थानों पर महाप्राण ध्वनि थी तो इन दो भाषाओं में, एक महाप्राण के स्थान पर अल्पप्राण कर दी जाती थी। इस प्रकार गाथी *बिउद्* (सं० बोध्) *बिन्दान्* (सं० बन्ध्-) और *दाब्स्* (सं० दभ्-) के आदि भाषा के रूप **भेउध्-* **भेन्ध्*-और **धेभ्* की कल्पना की गई। संस्कृत और ग्रीक दोनों, आदिम भाषा की सर्वप्राचीन प्रतिनिधि है, इस बात से यह भी विचार उठा कि संभव है आदिम भाषा की ही दो अवस्थाएँ रही हों, (१) जब धातु में दो महाप्राण रह सकते थे और (२) जब धातु में एक ही महाप्राण संभव था। ग्रासमन द्वारा प्रतिपादित इस विवेचन को **ग्रासमन नियम** कहा जाता है।

ग्रिम-नियम के अनुसार आदिम *क्*, *त्*, *प्* की जगह जर्मनी शाखा में *ख़्* (*ह्*), *थ्*, *फ़्* मिलना चाहिए, पर कुछ शब्दों में क्रम से *ग्*, *द्*, *ब्* मिलते हैं। इस अपवाद का समाधान कार्लवर्नर ने किया, और इसलिए इस ध्वनि-नियम को **वर्नर-नियम** कहते हैं। इसके अनुसार आदिम आर्य *क्*, *त्*, *प्* यदि शब्द के आद्यक्षर हों तो जर्मनी शाखा में अवश्य *ख़्*, *थ्*, *फ़्*, हो जाते हैं। पर शब्द के बीच में या अन्त में आने पर ये तभी *ख़्*, *थ्*, *फ़्* में परिवर्तित होते हैं जब आदिम आर्य शब्द में इनके अनन्तर पूर्व स्वरों पर सुर हो अन्यथा (अर्थात् सुर सान्तर पूर्व अथवा बाद में होने पर) इनके स्थान पर *ग् द् ब्* (वास्तव में *ग् द् ब्*) हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—

आदिम	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	गाथी	अँगरेज़ी
*युव्न्कोस्	युवशः		युवॆन्कुस्	युङ्-ग्-स्	यंग्
*कं्मतोम्	शतम्	हेकतोन्	केन्टुम्	हुन्द्	हंड्रेड्
*लेइप्	लिम्पामि	लिपरेओ	लिप्पुस्	बिलीब्	बेलीफ़ान्(लीव)
*सेप्तन्	सप्त	हेप्त	सेप्टेन्	सिबुन्	सेवेन्

अनुमान है कि ऐसे उदाहरणों में विकास का क्रम क् त् प् > ख़्, थ़्,फ़् घ् > ध्, भ् > ग्, द़, व् > ग्, द़, ब़्, रहा होगा।

ग्रिम आदि विद्वानों द्वारा प्रतिपादित इस विकास को ही जर्मनी शाखा का प्रथम ध्वनि-परिवर्तन कहते हैं। द्वितीय का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। यह प्रथम परिवर्तन ईसवी सन् की पूर्व की सदियों में हो चुका था, द्वितीय प्रायः ६०० ई० से आरम्भ होकर ८०० तक पूरा हुआ।

तोख़ारी

इस सदी के आरम्भ में कुछ जर्मन विद्वानों ने मध्य एशिया के तुर्फ़ान प्रदेश में अनुसन्धान किया था। अन्य सामग्री के साथ-साथ उन्हें भारतीय लिपि में लिखे कुछ ऐसे ग्रंथ मिले, जिनकी भाषा अब तक की ज्ञात भाषाओं से भिन्न थी। पढ़ने पर यह आर्य परिवार के केंटुम वर्ग की साबित हुई। इस पर उराल-अल्ताई भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है। स्वरों की जटिलता कम हो गई है और स्वर-मात्रा छोड़ दी गई है। सन्धि के कुछ नियम संस्कृत के से हैं। सर्वनाम और संख्यावाची शब्द निश्चित रूप से आर्य हैं। आठ विभक्तियाँ हैं। क्रिया के रूपों में जटिलता है। शक जाति की एक शाखा की यह भाषा थी। इस शाखा ने ई० पू० दूसरी सदी में मध्य एशिया में साम्राज्य स्थापित किया था।

अल्बेनी

इसके लेख १५ वीं सदी ई० से पुराने नहीं मिलते। बहुत दिनों

तक इसको स्वतन्त्र शाखा की सत्ता नहीं दी गई थी। पर ध्वनि-समूह और गठन दोनों से इसको स्वतंत्र सत्ता देनी पड़ी। यह ऐड्रियाटिक सागर के पूरब वाले पहाड़ी प्रदेश की भाषा है और बोलने वाले केवल क़रीब १९ लाख हैं। शब्द-समूह अधिकतर विदेशी, ग्रीक लैटिन आदि भाषाओं से उधार लिया हुआ है।

हिट्टाइट

बोगाज़कोई में कीलाक्षर लेखों में एक भाषा ऐसी मिली है जो पदरचना की दृष्टि से निश्चय ही आर्य परिवार की है। संज्ञा की छः विभक्तियाँ, शतृ रूपों के समान रूप, सर्वनामों की समानता और क्रिया के पुरुषों और वचनों में रूप-विभिन्नता सभी बातें आर्य होने की पोषक हैं। शव्दावली अवश्य अधिकांश में मेल नहीं खाती और ध्वनि-सामंजस्य की भी चूल कहीं कहीं नहीं बैठती पर इस भेद का कारण यही हो सकता है कि यह भाषा विषम परिस्थिति में पड़ गई थी। हिट्टाइट केन्टुम वर्ग की भाषा है। हिट्टाइट जाति का उल्लेख ऊपर किया गया है।

बाल्टी

बाल्टी शाखा के अंतर्गत तीन भाषाएँ हैं प्रशियाई, लिथुएनी और लेटी। प्रशियाई अब जीवित भाषा नहीं है, पहले यह प्रशिया नाम के जर्मनी के एक प्रदेश में बोली जाती थी। वहाँ अब जर्मन बोली जाती है। प्रशियाई साहित्य में १५ वीं १६ वीं सदी की कुछ पुस्तकें हैं। इन्हीं से हमें इस भाषा का ज्ञान प्राप्त होता है।

लिथुएनी का भी साहित्य १६ वीं सदी से पुराना नहीं मिलता पर इसका विकास इतने धीरे धीरे हुआ है कि इसके विविध रूपों की तुलना चौथी सदी की गाथी से कर सकते हैं। इसमें ग्रीक की तरह सुर अब भी विद्यमान है। द्विवचन के रूप भी हैं। यह लिथुएनिया राज्य की भाषा है जिसने पिछले महासमर में स्वतंत्रता प्राप्त की थी और अब रूसी (सोवियत) राष्ट्रसंघ में शामिल हो गया है।

लेटी लैट्विया राज्य की भाषा है। यह भी रूस से जा मिला है। इसका भी साहित्य १६ वीं सदी के पहले का नहीं मिलता। यह भाषा लिथुएनी की अपेक्षा अधिक विकसित है।

स्लावी

बाल्टी और स्लावी शाखाओं में परस्पर काफ़ी समानता है, विशेषकर संज्ञा के रूपों की और शब्दावली की। इसलिए कभी-कभी दोनों शाखाओं को मिलाकर बाल्टी-स्लावी कहते हैं। भाषा-विज्ञान की अध्ययन की दृष्टि से इन सबमें लिथुएनी ही प्रमुख है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

स्लावी शाखा के तीन विभाग किए जाते हैं, दक्खिनी, पूर्वी और पश्चिमी। दक्खिनी विभाग के अंतर्गत बल्गेरिया की भाषा बल्गेरी, और यूगोस्लाविया की सर्वो-क्रोटी हैं। बल्गेरी में ९ वीं सदी का इंजील का अनुवाद मौजूद है। स्लावी शाखा का यही सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। प्राचीन बल्गेरी में तीनों वचन मिलते हैं। आधुनिक बल्गेरी प्रायः अयोगावस्था की है और शब्दावली में बहुतेरे शब्द तुर्की, ग्रीक, रुमानी आदि भाषाओं से आ गए हैं। बल्गेरीभाषियों की संख्या कोई ३० लाख है। सर्वोक्रोटी का साहित्य इधर पिछली सदी में ही बना है। बोलने वालों की संख्या क़रीब एक करोड़ की है।

पूर्वी विभाग का साहित्य ११ वीं सदी तक का मिलता है। इसके अंतर्गत कई भाषाएँ हैं। ये प्रायः १२ वीं सदी तक एकरूप थीं। ये सब रूसी भाषाएँ हैं और उस महादेश के विभाग के अनुसार लघु-रूसी, श्वेतरूसी, और महारूसी कहलाती हैं। लघुरूसी (या रुथेनी) प्रायः तीन करोड़ जनता की भाषा है और दक्खिनी रूस (उक्रेन) में बोली जाती है। श्वेतरूसी श्वेतरूस नाम के अर्थात् पश्चिमतम प्रदेशों में बोली जाती है। महारूसी को कभी-कभी केवल रूसी कहते हैं। यह रूस के प्रधान नगर मास्को से फैली और अब संसार की प्रमुख

भाषाओं में से है। बोलने वालों की संख्या दस करोड़ से ऊपर है। इसने १८ वीं सदी से समस्त रूस की सामान्य और राजकीय भाषा होना आरंभ किया।

पच्छिमी विभाग के अंतर्गत चेकोस्लोवाकिया की भाषा **चेक** और पोलैंड की पोली हैं। चेक के बोलने वाले क़रीब अस्सी-नब्वे लाख हैं, पोली के क़रीब दो करोड़। चेक का साहित्य १३ वीं सदी से और पोली का १४ वीं से आरंभ होता है।

आर्मीनी

आर्मीनी भाषा-भाषियों की संख्या कोई पचास लाख है। आर्मीनिया का ईरान से घनिष्ठ संबंध रहा है, ५ वीं सदी ई० तक ईरान का ही युवराज आर्मीनिया का राजा होता था। इस भाषा में दो हज़ार से ज्यादा फ़ारसी शब्द हैं, अरबी काकेशी आदि के भी हैं पर इतने अधिक नहीं। इन्हीं कारणों से बहुत दिनों तक आर्मीनी ईरानी की केवल शाखा मात्र समझी जाती रही। पर गम्भीर अध्ययन के फलस्वरूप इसकी सत्ता स्वतंत्र शाखा के रूप में स्थापित हो गई है। संभवतः इसकी स्थिति ग्रीक और हिन्द-ईरानी के बीच की है। मेसोपोटैमिया के और काकेशस पर्वत के दक्खिनी भाग और काले सागर के दक्खिनी किनारे के बीच में स्थित प्रदेश की यह भाषा है। आर्मीनी भाषा का सबसे पहला ग्रंथ इंजील के शुभ संवाद (गॉस्पेल) का ९वीं सदी में किया हुआ अनुवाद है। इस पुस्तक की भाषा ९ वीं से भी दो-तीन सदी पूर्व की मानी जाती है। बोलियों में सर्व-प्रमुख स्तम्बूल की बोली है।

बाक़ी बची हिन्द ईरानी। इसका विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा।

चौंतीसवाँ अध्याय

हिन्द-ईरानी शाखा

आर्य-परिवार की यह शाखा कई कारणों से महत्त्वपूर्ण है। इसी में आर्यजाति का प्राचीनतम साहित्य मिलता है। ऋग्वेद संहिता को विविध विद्वान ३००० ई० पू० से १५०० ई० पू० तक रखते हैं। अवेस्ता ७०० ई० पू० का ग्रन्थ समझा जाता है। इन दो के मुक़ाबिले में केवल ग्रीक भाषावाले होमर के महाकाव्य (ई० पू० १०००) ही ठहर सकते हैं। अन्य शाखाओं में साहित्य-निर्माण बहुत बाद को शुरू हुआ। अनुमान है कि हिन्द-ईरानी शाखा के आर्य मेसोपोटैमिया होते हुए पूरब की ओर बढ़े। ई० पू० १४०० के वोगाज़कोई लेख में कई आर्य गोत्रों का उल्लेख पाया जाता है। प्रायः १८०० ई० पू० तक मर्यन्नि, हर्रि, मन्द और कस्सि नाम के गोत्रों ने बावेरु राज्य पर आधिपत्य प्राप्त करके कई सदियों तक शासन किया। कुछ गोत्र मेसोपोटैमिया में न ठहर कर और आगे बढ़ते हुए ईरान आए। इनमें परशु और मन्द गोत्र मुख्य थे। शक गोत्र वाले और आगे बढ़ते हुए मध्य एशिया और दक्खिनी रूस पहुँचे। इनके अलावा भृगु, भरत, मद्र, कुरु आदि गोत्र ईरान से आकर सप्तसिन्धु प्रदेश में बस गए।

हिन्द-ईरानी शाखा में परस्पर कुछ ऐसे समान लक्षण हैं जिनके कारण हम इस शाखा की भाषाओं को अन्य आर्य भाषाओं से अलग कर सकते हैं।

(१) दोनों समुदायों में तीन मूल स्वरों की जगह एक आकार ही मिलता है।

(२) दोनों में उदासीन स्वर की जगह इकार है।

(३) अन्तः स्वर र् (ऋ) ल् (ऌ) का हिन्द-ईरानी में अभेद

मिलता है, कभी कभी आदिम र् (ऋ) के स्थान पर ल् (लृ) यथा लै० रुन्करै सं० लुंचामि, और कभी ल् (लृ) की जगह र् (ऋ) यथा लै० लुपुस्, ग्री० लुक सं० वृकः, अव० वह्को। विद्वानों का विचार है कि आदिम के यह दोनों अन्तःस्थ हिं० ई० में एकरूप (र्, ऋ) हो गए और बाद को जो ल् (लृ) मिलता है वह इससे परकालीन परिवर्तन हुआ।

(४) इ, उ, र्, और क् के बाद आने वाला स् इस शाखा में श् हो गया। और यही बाद को भारतीय में ष् में परिणत हुआ (सं० *वक्ष्यामि* अव० *बख़्श्या*, सं० *ऊक्षा* गा० *ओवस*, सं० *पितृषु* ग्री० *पत्रसि*, सं० *स्नुषा*, प्रा० अंगरेजी *स्नोरु*।

(५) आदिम के प्रथम श्रेणी के कंठ्य स्पर्श हिन्द-ईरानी में क् ख् ग् घ् से श् श्ह् ज़् ज़्ह् में परिणत हुए। बाद को ईरानी में ये स्, ज्, ज़्ह् के रूप में मिलते हैं और भारतीय में श् ज् ह के रूप में।

(६) ओष्ठ्य गौण सहायता वाले कंठ्य हिं० ई० में गौणत्व-विहीन पाए जाते हैं और यदि इनकी स्थिति इ, ए, स्वरों के पूर्व थी तो ये च् छ् ज् झ् में परिणत हो गए हैं।

ध्वनि-संबंधी इन भेदक लक्षणों के अतिरिक्त पद-रचना संबंधी दो बातें उल्लेखनीय हैं।

(७) एक तो स्वरांत संज्ञाओं के षष्ठी बहुवचन का परप्रत्यय नाम और दूसरे,

(८) लोट् (आज्ञा) लकार के अन्यपुरुष में परप्रत्यय -तु -न्तु।

ईरानी और भारतीय की प्राचीन अवस्थाओं में इतना साम्य है कि एक में थोड़े से आवश्यक परिवर्तन कर देने से ही तुरन्त दूसरी में रूपान्तर हो जाता है। उदाहरणार्थ डा० वटकृष्ण घोष द्वारा अनुवादित, यस्ना (१०८) का संस्कृत रूपांतर देखें—

अव० *यो यथा पुथ्रम् तउरुनम् हओमम् वन्दएँ ता मश्यो।*
सं० *यो यथा पुत्रं तरुणं सोम वन्देत मर्त्यः*
अव० *फ्रा आब्यो तनुब्यो हओमो वीसइते बएँशज़ाइ॥*
सं० *प्र आभ्यस्तनूभ्यः सोमो विशते विशते भेषजाय॥*

ईरानी और भारतीय उपशाखाओं के मुख्य भेदक लक्षण ये हैं।

(१) स्वर की मात्रा कहीं-कहीं ठीक नहीं बैठती, जैसे सं० *ऋतुम्* अव० *रतूम्*।

(२) अवेस्ती में स्वर-समुदायों का बाहुल्य पाया जाता है, सं० *ए ओ* की जगह *अए अओ* और *ऐ औ* की जगह *आइ आउ*।

(३) अवेस्ती में स्वर का अग्रागम (सं० *रिणक्ति* अव० *इरिनख़्ति*) और बाद के अक्षर के स्वर का पूर्व के अक्षर पर प्रभाव (सं० *भरति* अव० *बरइति*) अधिक पाया जाता है।

(४) ऋकार के स्थान पर अवेस्ती में *अर* मिलता है, *या, र, या, अ*।

(५) अघोष अल्पप्राण (क्, त्, प्) अवेस्ती में संघर्षी (ख़्, थ़्, फ़्) हो जाते हैं (*क्रतुः ख़्रतुश्, सत्यः-हइत्थ्यो, स्वप्नम्-वफ़्नम्*) और महाप्राण भी कभी-कभी (*सखा-हख़, गाथा-गाथा, कफम्-कफ़म्*)।

(६) सघोष महाप्राण (घ् ध्, भ्) अल्पप्राण (ग्, द् ब्) परिणत पाए जाते हैं (*जंघा-ज़ंगा, धारयत्-दारयत्, भूमि–बूमि*)।

(७) शब्द के आदि का स् ह् (*सिन्धु-हिन्दु, सप्ताह-हफ़्ता*) हो जाता है।

(८) ईरानी में ज़ ज़्ह क़ायम रह गए, भारतीय में इनकी जगह ज् और ह् हो गया है। (*जानुः—ज़ानू, दहति- दज़्हैति*)।

(९) संस्कृत की पंचमी विभक्ति के एकवचन का प्रत्यय (*-अत्*) जो केवल अकारान्त संज्ञाओं में मिलता है, अवेस्ती में सब संज्ञाओं में मिलता है (*क्षत्रात्–ख्श.थ्रात्, विश–वीसत्, द्विष्यंत् त्विश्यन्तत्*)।

(१०) भारतीय शाखा में टवर्ग ध्वनियाँ हैं, ईरानी में बिल्कुल नहीं।

(११) भारतीय में लट् (वर्तमान) लकार के उत्तम पुरुष एकवचन में *मि* प्रत्यय का सर्वंकष प्रयोग मिलता है, ईरानी में केवल प्राचीन फ़ारसी में, सो भी जहाँ-तहाँ ही (सं० *भरामि*, अव० *बरा*, प्रा० *फ़ारसी बरामिय*)।

ईरानी

हिन्द-ईरानी की उप-शाखा ईरानी में काफ़ी प्राचीन साहित्य रहा होगा। परन्तु दुर्भाग्य है कि इनके ग्रंथ दो बार जला डाले गए, एक बार सिकंदर द्वारा ३२३ ई० पू० में और दूसरी बार अरब विजेताओं द्वारा ६५१ ई० पू० में। प्राचीन चीज़ों में जो बची हैं वे हैं पारसियों के धर्मग्रंथ स्वरूप अवेस्ता और हख़्मानी बादशाहों के छठी सदी ई० पू० के शिलालेख। इन्हीं में प्रसिद्ध शाहंशाह दारा के, बहिस्तून पहाड़ी की चट्टानों पर खुदाए हुए, संसार-प्रसिद्ध प्राचीन फ़ारसी के लेख हैं। ईरानी की दो उपशाखाएँ प्राचीन काल से ही मिलती हैं, (क) परशी (फ़ारसी) और (ख) अवेस्ती। पहली पच्छिम भाग की और दूसरी पूरब की है।

फ़ारसी—इसमें हख़्मानी बादशाहों के लेख मिलते हैं। ये कीलाक्षरों में खुदे हुए हैं। इसी भाषा का कई सदी बाद वाला रूप पहलवी है। इसमें अवेस्ता की टीका है। इसकी एक शैली में सामी शब्दों का आधिक्य है जिसे हुज़्वारेश कहते हैं, दूसरी में सामी शब्दों का नितान्त अभाव है जिसे पाज़न्द या पार्सी कहते हैं। आधुनिक फ़ारसी का साहित्य ई० ९ वीं सदी से मिलता है। आकृति में यह बहुत अयोगात्मक हो गई है और सीधी सादी है, सीखने में सरल, सुनने में मधुर। भारतवर्ष में अँगरेज़ी आधिपत्य के पूर्व कई सदियों तक यह राजभाषा रही। इसी कारण इसके बहुतेरे शब्द भारतीय भाषाओं में विशेषकर सिन्धी, लहँदी, पंजाबी और उर्दू शैली में घुस आए हैं। फ़ारसी में स्वयं अरबी भाषा के एक तिहाई के क़रीब शब्द हैं, और बहुतेरे फ्रेंच के भी।

अवेस्ती—पारसी धर्म की मूल पुस्तक का नाम अवेस्ता है। इसकी भाषा को अवेस्ती कहते हैं। इस पुस्तक की टीका ज़ेन्द (पहलवी) में है, इसलिए भाषा को कभी कभी ज़ेन्द और मूल पुस्तक को ज़ेन्दावेस्ता कहते हैं, अवेस्ता में अधिकांश में वैदिक संहिताओं की तरह सूक्त हैं। इसमें भी भाषा और भाव की नज़र से कई श्रेणियाँ हो सकती हैं, प्राचीनतम अंश गाथाएँ हैं जिनका काल ई० पू० ७ वीं

सदी तक जाता है। पर अवेस्ता के कुछ अर्वाचीन अंश ईसवी सन् के बाद की दो एक सदियों के भी मालूम पड़ते हैं। पारसी धर्म के प्रचारक जरथुश्त्र थे और देवता अहुर मज़दा। भाषा की दृष्टि से अवेस्ता प्राचीन फ़ारसी से मिलती-जुलती है, पर बोली का भेद काफ़ी है। प्राचीन ईरानी की यही सामग्री है, अवेस्ता और प्राचीन फ़ारसी के लेख।

मध्यकालीन ईरानी की कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें कोई चालीस साल पूर्व मध्य एशिया (तुर्किस्तान) में प्राप्त हुई थीं। इनमें से दो-तीन ईसाई धर्म की हैं, शेष बौद्ध धर्म की। प्राय: ये सब ८वीं सदी की हैं, केवल एक ईसवी सन् के प्रारंभ के आस-पास की है। जिस भाषा में ये हैं उसको पश्चिमोत्तर प्रदेश की ईरानी मान सकते हैं। भाषा का नाम सोग्दी है, यह एक समय मंचूरिया तक फैली हुई थी।

आधुनिक ईरानी में फ़ारसी के अलावा, पश्तो, बलोची और पामीरी विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कुर्दी आदि और बोलियाँ भी हैं। पश्तो अफ़ग़ानिस्तान की और भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा है। कुल बोलनेवाले कोई ५० लाख होंगे, जिसमें सोलह-सत्रह लाख भारतीय भाग में हैं। इसमें फ़ारसी के अनुकरण पर लिखा हुआ १६ वीं सदी के इधर का साहित्य है। ग्रामगीत प्रसिद्ध हैं। बलोची बलोचिस्तान और सिन्ध के पश्चिमी हिस्से की भाषा है। इसमें कोई विशेष साहित्य नहीं। पामीरी की तराई में और हिन्दू-कुश पर्वत पर सर्वत्र अधिकांश में ईरानी बोलियाँ पाई जाती हैं। इस बोली समूह को पामीरी कहते हैं। गठन में ये कैस्पियन सागर के आस-पास बोली जाने वाली ईरानी बोलियों से मिलती हैं। इनके पड़ोस में भारतीय आर्य बोलियों के बोलने वाले पूरब और दक्खिन की ओर हैं।

दर्दी

हिन्द-ईरानी शाखा की एक उप-शाखा दर्दी भाषाएँ हैं। इनका क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच में पड़ता है। इधर पिछले

तीस-चालीस साल में इन भाषाओं को ध्यान पूर्वक देखा गया है। गठन में ये ईरानी और भारतीय आर्य के बीच की हैं, ईरानी की अपेक्षा भारतीय के अधिक निकट। अनुमान है कि हिन्द-ईरानी शाखा की जब प्रशाखाएँ होने लगीं तब, सबसे पहले इन दर्दी भाषाओं के मूल भाषा-भाषी अलग होकर पूरब की ओर फैले। बाद को जब भारतीय आर्य भाषा के मूल भाषी इधर बढ़े तब दर्दी उत्तर की ओर सीमित रह गये। अपने पुराण ग्रंथों में दरद (दराद) जाति का उल्लेख मिलता है। इन्हीं को पिशाच संज्ञा भी दी गई है। भारतीय वैयाकरण इनकी भाषा को स्वदेशी समझते आए हैं। पैशाची प्रकृति का विवरण प्राकृत व्याकरणों में बराबर मिलता है और इसका साहित्य भी भारतीय वाङमय में सदा समाविष्ट होता रहा है।

दर्दी भाषाओं के कई समूह हैं, ख़ोवार, काफ़िरी और दर्दी विशिष्ट। समस्त दर्दी भाषाओं के बोलने वालों की संख्या १५ लाख है। ख़ोवार समूह की प्रमुख बोली चित्राली है। दर्दी विशिष्ट समूह की कश्मीरी और शीना उल्लेखनीय हैं। कश्मीर प्रदेश संस्कृत साहित्य का केन्द्र रहा है। कश्मीरी में साहित्य-निर्माण १४ वीं सदी से आरंभ होता है। लाल देह (लल्ला) की कविताएँ प्रसिद्ध हैं। तब से बराबर साहित्य बनता आया है। दर्दी की अन्य किसी भाषा में कोई साहित्य नहीं।

दर्दी भाषाओं के अध्ययन से पता चलता है कि व्याकरण के प्राचीन लक्षण इसमें अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की अपेक्षा अधिक सुरक्षित हैं।

भारतीय आर्य

हिन्द ईरानी की इस उप-शाखा को विवरण की सुविधा के लिए तीन भागों में बाँटा जाता है, प्राचीन युग, मध्ययुग और वर्तमान युग। मोटे तौर से प्रथम का समय प्रागैतिहासिक काल से ५०० ई० पू० तक, मध्य युग का ई० पू० ५०० से १००० ई० तक और वर्तमान का १००० ई० से इधर का मानना ठीक मालूम होता है। इन तीनों का अलग-अलग विवेचन करना उचित होगा।

प्राचीन युग

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अध्ययन से भारतवर्ष में आर्यों के आगमन का समय, १५०० ई० पू० के आस-पास कूता जाता है। आर्य यहाँ विभिन्न टोलियों में आकर बसते गए और यहाँ के द्रविड़ मुंडा आदि मूल निवासियों के संघर्ष से भाषा, रहन-सहन आदि में आवश्यक परिवर्तन करते रहे। प्राचीन युग की भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण ऋग्वेदसंहिता में मिलता है।

आदिम आर्य-भाषा से ऋग्वेदीय भाषा की तुलना करने से पता चलता है कि भारतीय शाखा के स्वरों में घोर परिवर्तन हो गया है। तीन मूल स्वरों के स्थान पर एक कोने के कारण ह्रस्व, दीर्घ और मिश्र स्वरों की संख्या बहुत कम हो गई है। म़् ऩ् स्वरों के स्थान पर अ और अ (श्वा) के स्थान पर इ पाया जाता है। ऌकार का प्रयोग बहुत सीमित हो गया है। व्यंजनों में कवर्ग की एक ही श्रेणी का रह जाना, चवर्ग और टवर्ग का आविर्भाव तथा श्, ष्, ह् का आगमन भी महत्व का है।

ऋग्वेदसंहिता के सूक्ष्म अध्ययन से मालूम होता है कि उसके सूक्तों में जहाँ-तहाँ बोली-भेद है। प्रथम मंडल और दशम मंडल के सूक्तों की भाषा अपेक्षाकृत कुछ बाद की है। ब्राह्मण ग्रंथों, प्राचीन उपनिषदों और सूत्र ग्रंथों की भाषा क्रमशः विकसित हुई जान पड़ती है। पाणिनि के समय तक वैदिक वाङ्मय की भाषा (छन्दस्) और साधारण पढ़े जन की भाषा (भाषा) में काफ़ी अन्तर पड़ गया था। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का उल्लेख किया है। बुद्ध भगवान् के समय तक उत्तर भारत में उदीच्च, प्राच्य और मध्यदेशीय, ये तीन भाग भाषा के विभेदों के कारण हो गये थे।

प्राचीन युग के अन्तर्गत वैदिक और लौकिक दोनों भाग आत हैं। संस्कृत शब्द से कभी-कभी दोनों भागों का और कभी केवल लौकिक का बोध कराया जाता है। दोनों के मुख्य भेदक लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) धातु-रूपों की बहुलता—

वैदिक	लौकिक
इमसि, इमः	इमः
स्मसि, स्मः	स्मः
ईष्टये, ईष्टे, ईशे, ईशते	ईष्टे
श्रुधि, श्रुणुहि, शृणोधि	शृणु
शेये, शेते	शेते

(२) प्रातिपदिकों की विभक्तियों के शब्द-रूपों की बहुलता—

	वैदिक	लौकिक
प्रथमा ब० व०	मर्त्याः, मर्त्यासः	मर्त्याः
	ब्राह्मणाः, ब्राह्मणासः	ब्राह्मणाः
	देवाः, देवासः	देवाः
	रुद्राः, रुद्रासः	रुद्राः
तृतीय ब० व०	देवेभि, देवैः	देवैः
	पूर्वेभि, पूर्वैः	पूर्वैः
सप्तमी ए० व०	अग्नौ, अग्ना	अग्नौ

(३) लकार—

वैदिक में ११ लकार प्राप्त होते हैं। उसमें '*संभावना*' तथा '*आज्ञा*' के लिए लेट लकार भी है, जैसे *भवाति*, *पताति*, *तारिषत*, आदि। लौकिक में १० लकार हैं। उसमें लेट लकार नहीं मिलता।

(४) वैदिक में लुङ् लकार का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत अधिक मिलता है। वैदिक भाषा में इसका प्रयोग ५५१८ बार हुआ है। लौकिक में इसके प्रयोग कम हैं।

(५) प्रत्यय—

वैदिक में 'तुमुन्' (Infinitive) के रूप चलते थे। उसमें उसके अर्थ में ८-१० प्रत्ययों का प्रयोग प्राप्त होता है, जैसे *तवै*, *ध्यै*,

असे, आदि से *पातवै*, *गमध्यै*, *जीवसे* आदि। लौकिक में इसके केवल एक रूप तुमुन् से *गंतुम्*, *कर्तुम्*, *पठितुम* आदि।

(६) वैदिक में लोट लकार के मध्यम पुरुष बहुवचन के प्रत्यय *त*, *तन*, *थन*, *तात्* से *शिणोत*, *सुनोतन*, *यतिष्ठन*, *कृणुतात* बनते हैं, जब कि लौकिक में केवल *त* से *शिणुत*, आदि।

(७) वैदिक में यु प्रत्यय से बने अनेक शब्द, जैसे *यज्यु*, *देवयु*, *वाजयु*, आदि लौकिक में लुप्त हैं, और उसमें 'दस्यु' जैसे अकेले शब्द रह गए हैं।

(८) वैदिक में अन्य गणों की धातुओं का प्रयोग अधिक मिलता है, और लौकिक में भ्वादिगणी धातुओं की प्रधानता है तथा *दिवादि*, *चुरादि* गण की धातुओं का प्रयोग अधिक है।

(९) वर्ण—

वैदिक में ६४ वर्ण प्राप्त होते हैं, जबकि लौकिक में केवल ५०।

(१०) आत्मनेपद और परस्मैपद—

वैदिक में आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों में पठित धातुओं में से कई लौकिक में केवल आत्मनेपद में प्रतिष्ठित मिलती है।

(११) एकार्थक धातुएँ—

वैदिक में एकार्थवाचक कई धातुएँ दृष्टिगत होती हैं, पर लौकिक में ऐसा नहीं है, जैसे

वैदिक	लौकिक
ग्रभ्, *ग्रह्*	*ग्रह*
दाति, *ददाति*	*ददाति*

(१२) अनेक वैदिक शब्द लौकिक में लुप्त हो गए हैं, जैसे—

दृशीक = *सुन्दर*
दर्शत = *रमणीय*
अमीवा = *रोग*

तूप = *घी*

असूर = *असूढ़*

ये शब्द लौकिक में प्रयुक्त नहीं होते।

(१३) अनेक वैदिक शब्द ऐसे हैं जिनके लौकिक अर्थों में भेद हो गया है, जैसे——

शब्द	वैदिक अर्थ	
वध	*कोई भयंकर शस्त्र*	*मार डालना*
न	*इव*	*नहीं*
अरि	*ईश्वर, निवास स्थान*	*शत्रु*
क्षिति	*गृह, मनुष्य*	*पृथ्वी*
मृडीक	*अनुग्रह*	*शिव का नाम*
ऋदूदर	*कोमलाशय*	*दयालु*

(१४) वैदिक का क्त्वान प्रत्यय लौकिक में लुप्त हो गया है।

(१५) वैदिक के लुच् प्रेरणार्थक और रुच् रोचनार्थक रूप लौकिक से ग़ायब हो गए हैं।

(१६) वैदिक में सप्तमी के एकवचन में ङि का लोप हो जाता है, जैसे *व्योमन्* में। लौकिक में *व्योमनि* मिलता है।

(१७) वैदिक में *तिङन्त* परस्मैपदी उत्तम पुरुष बहुवचन *मसि* प्रत्यय से बनता है, जैसे *एमसि* (इण् धातु का रूप), *मिनीमसि*। लौकिक में *मसि* नहीं है, उसमें *मः* से, उदाहरणार्थ *इमः मिनीमः* बनते हैं।

(१८) वैदिक में *'त्यद्'* सर्वनाम प्राप्त होता है, लौकिक में यह लुप्त हो गया है। उसमें *'तत्'* मिलता है।

(१९) वैदिक में *'स्वस्ति'* के रूप चलते थे। उससे बना *'स्वस्तये'* वैदिक भाषा में मिलता है। लौकिक भाषा में यह अव्यय है।

(२०) वैदिक में उपसर्ग क्रिया से दूर रहते हैं, जैसे *प्र बभ्रवे श्वितिभाय श्वितीचे* लेकिन लौकिक में वे क्रिया के ठीक पूर्व पाए जाते हैं।

(२१) वैदिक में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन प्रकार के सुर मिलते हैं। लौकिक में यह भेद उपलब्ध नहीं होता। वैदिक में, जैसे *'वरः'* सुर से ही जाना जायगा कि वह संज्ञा है या विशेषण। वैदिक में ग्रीक की भाँति संगीतात्मकता है, लौकिक में यह संगीतात्मकता दूर हो गई।

(२२) वैदिक में सुर के कारण समास में भी भेद पड़ जाता है, जैसे यदि आद्योदात्त हो तो बहुव्रीहि, और यदि अंतोदात्त हो तो तत्पुरुष, उदाहरणार्थ *इन्द्र-शत्रु*।

(२३) वैदिक में कर्ता बहुवचन के साथ एकवचन की क्रिया देखी जाती है, जबकि लौकिक में कर्ता के वचन के अनुसार ही क्रिया चलती है, जैसे वैदिक में *'आम्राः खादति'*, इत्यादि।

(२४) वैदिक में संधियाँ गुँथी हुई हैं, जो अपने प्राचीन रूप को बताती हैं। लौकिक में संधियाँ विशेष गुँथी हुई नहीं हैं। वैदिक में अभिनिहित, क्षैप्र, संप्रसारण अधिक प्रचलित थीं। लौकिक में स्वर, व्यंजन और विसर्ग संधियों के बहुत सूक्ष्म नियम बने।

(२५) वैदिक में विशेषण और विशेष्य में विभिन्नता मिलती है। लौकिक में उनमें सामंजस्य प्राप्त होता है।

(२६) वैदिक में युष्मद् और अस्मद् शब्द के सप्तमी और चतुर्थी के बहुवचन के रूप क्रमशः युष्मे और अस्मे भी होते हैं। लौकिक में ये युष्मासु और अस्मभ्यम् हैं।

(२७) वैदिक भाषा में प्रथमा और संबोधन का द्विवचन *'आ'* प्रत्यय से, तथा इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के तृतीया एकवचन का रूप *'ई'* प्रत्यय से बनता है, जैसे *'अश्ना'* और *'सुष्ठुती'*। लौकिक में *'अश्नौ'* और *'सुष्ठुत्या'* मिलते हैं।

(२८) वैदिक भाषा में केवल वर्णिक छन्द मिलते हैं। लौकिक में वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के प्राप्त होते हैं। वैदिक संस्कृत में त्रिष्टुप्, गायत्री, अनुष्टुप्, जगती, आदि उपलब्ध हैं, और लौकिक में वैदिक के उक्त चार में से केवल अनुष्टुप और अन्य छन्द स्रग्धरा,

शार्दूलविक्रीड़ित, उपजाति, वंशस्थ, वसन्ततिलका, आदि मिलते हैं।

(२९) वैदिक में लौकिक के य, व के स्थान पर इय, उव मिलता है, जैसे

वैदिक	लौकिक
वीरियस्	*वीर्य*
तुवम्	*त्वम्*

बोली-भेद को मिटाने का सबसे सफल उद्योग पाणिनि का साबित हुआ। इन्होंने उदीच्य भाग की भाषा को प्रश्रय दिया। इनके समय में संस्कृत शिष्ट समाज के परस्पर विचार-विनिमय की भाषा थी। संस्कृत यह काम कई सदी बाद तक करती रही। प्राच्य प्रभाव के कारण कुछ सदियों तक संस्कृत का प्रभाव सीमित हो गया परन्तु मौर्य साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर संस्कृत भाषा ने फिर अपना आधिपत्य जमा लिया। संस्कृत का प्रथम शिलालेख रुद्रदाम का गिरनार वाला है जिसकी तिथि ई० १५० है। अब से बराबर प्राकृतों के प्रश्रय पाने तक संस्कृत हिन्दू राज्यों की राजभाषा रही। प्रायः १२वीं सदी तक इसको राज-दरबारों से विशेष प्रश्रय मिलता रहा।

संस्कृत का प्रभाव बराबर उत्तरकालीन मध्ययुग की भाषाओं पर पड़ता रहा है। क्या प्राकृतें, क्या आधुनिक भाषाएँ सभी, संस्कृतकोष से अनायास शब्द लेती आई हैं। भारत से बाहर, चीन, तिब्बत, हिन्द-चीन, जावा, सुमात्रा, बाली, कोरिया और जापान तक इसका प्रभाव फैला है। यूरोप में जो प्रभाव लैटिन का, और अफ्रीका तथा एशिया के पच्छिमी भाग में जो प्रभाव अरबी का पड़ा है, वही अथवा उससे भी अधिक संस्कृत का एशिया के बाक़ी हिस्से पर बराबर रहा है। भारतीय आर्य इसे देववाणी कहते हैं और आज भी यह तीस करोड़ हिन्दुओं की श्रद्धा की चीज़ है। बोलचाल की भाषा न होते हुए भी आज जो श्रेय इसे प्राप्त है, वह संसार की किसी भाषा को नहीं।

साहित्य की रक्षा के लिए प्राचीन युग में जो युक्तियाँ काम में लाई गईं, वे सभ्य संसार के इतिहास में अद्वितीय हैं। श्रुति की रक्षा के लिए पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ आदि कृत्रिम उपायों का सहारा लिया गया। भाव गरिमा की रक्षा सूत्रशैली से की गई। इन साधनों के द्वारा प्राचीन से प्राचीन भाषा की ठीक ठीक संरक्षा हो सकी।

प्राचीन युग में भारतीय आर्य भाषा बराबर अन्य एतद्देशीय और विदेशी भाषाओं से ज़रूरत के अनुकूल शब्द लेती रही। इस बात की पुष्टि संस्कृत, ग्रीक, लैटिन और अबेस्ती के शब्दकोषों की तुलना से होती है। उणादि-सूत्रों से जिन शब्दों की सिद्धि की गई है उनमें से कुछ अवश्य अन्य भाषाओं से लिए हुए हैं। इस युग में इस देश में आर्य के अतिरिक्त द्राविड़, मुंडा आदि परिवारों की भाषाएँ जीती-जागती, सभ्य अवस्था में थीं। उनके शब्दों का आर्य भाषा में आ जाना स्वाभाविक ही था। आर्य भाषा श्लिष्ट योगिक आकृति की थी, उस काल की यहाँ की अन्य भाषाएँ अश्लिष्ट थीं। इस बात का भी असर आर्य भाषाओं पर पड़ा और मध्य युग में हम उत्तरोत्तर श्लिष्ट अवस्था से हटने का प्रमाण पाते हैं। इसी प्रकार उच्चारण में भी प्रभाव पड़ने के सबूत मिलते हैं। किसी अन्य आर्यभाषा में मूर्धन्य वर्ण नहीं मिलते, पर भारतीय आर्य में बराबर मिलते हैं और उत्तरोत्तर इनके अनुपात की वृद्धि होती जाती है। यह सच है कि मूर्धन्य ध्वनियाँ-दन्त्य ध्वनियों से ही विकसित हुई हैं पर इस विकास में देश की परिस्थिति ने अवश्य सहायता की होगी।

मध्ययुग

जो परिवर्तन प्राचीन युग में होने आरम्भ हुए थे वे इस युग में अधिक बढ़े। सामान्य तुलना से पता चलता है कि इस युग के प्रारम्भ में ही द्विवचन का और आत्मनेपद का ह्रास हो गया था। विभक्तियों में षष्ठी और चतुर्थी का एक-दूसरे के स्थान पर प्रयोग, संज्ञा और सर्वनाम के परप्रत्ययों में परस्पर व्यत्यय, संख्यावाची शब्दों में नपुंसक लिंग

के रूपों की प्रमुखता और अन्यों का उत्तरोत्तर ह्रास, क्रिया के लकारों में लुट् (अनद्यतन भविष्य), लृङ (अनद्यतनभूत), लिट् (परोक्षभूत) और लृङ (क्रियातिपत्ति) के रूपों का प्रायः सर्वांश में अभाव और विधिलिंग तथा आशीर्लिंग का सर्वथा एकीकरण, क्रिया के रूपों में गणविभेद की और संज्ञा के रूपों में व्यंजनान्त की जटिलता की कमी, इत्यादि लक्षण मध्ययुग के आदिकाल की सामग्री में भी मिलते हैं। ऐ, औ, ऋ, लृ का अभाव और ऍ ऒ (ह्रस्व) का आविर्भाव, प्रायः पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़कर ष् का नितान्त अभाव और प्राच्य देश में श्, ष्, स्, के स्थान पर श् तथा अन्यत्र इनकी जगह स्, विसर्ग का सर्वत्र अभाव, सयुक्त व्यंजनों का प्रायः बहिष्कार और अनेक स्वरों की एकत्र स्थिति, ये ध्वनि-संबंधी लक्षण भी मिलते हैं। शब्दावली में भी देशी शब्दों की संख्या बढ़ गई है।

मध्ययुग को तीन कालों में विभाजित किया जाता है, आदि, मध्य और उत्तर। आदिकाल प्रायः ईसवी सन् के प्रारम्भ तक, मध्य ५०० ई० तक और उत्तरकाल १००० ई० तक माना जाता है।

आदिकाल के अन्तर्गत पालि और अशोकी प्राकृत हैं। ऊपर प्राचीन युग में ही बोली-भेद के कारण उदीच्च, मध्य-देशीय और प्राच्य क्षेत्रों का उल्लेख किया गया है। प्राच्य क्षेत्र में अधिक परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था। इतिहास से हमें पता चलता है कि बुद्ध भगवान् ने संस्कृतेतर भाषा में अपने आर्य-धर्म का प्रचार किया। महावीर स्वामी ने भी यही किया था। इसका मतलब यह हुआ कि इन महानुभावों के समय में प्राच्य भाग (अर्थात् वर्तमान अवध और बिहार प्रान्त) में संस्कृत की प्रतिष्ठा जनसाधारण में बहुत न थी और उनकी बोलचाल की भाषा संस्कृत से काफ़ी भिन्न हो गई थी। कोई भी प्रचारक ऐसी ही भाषा को अपनाता है जो जन-साधारण की समझ में आती हो पर यह वह अवस्था थी जब संस्कृत और ये विभिन्न बोलियाँ परस्पर समझी जा सकती थीं।

पालि को सिंहलद्वीपी लोग मागधी कहते हैं। पालि के ग्रंथों में

भाषा के लिए मागधी शब्द का ही प्रयोग हुआ है और पालि का टीका (अर्थकथा) से भिन्न मूल पाठ के अर्थ में। यूरोपीय विद्वानों ने पालि शब्द का व्यवहार किया है और यही श्रेयस्कर है क्योंकि मागधी शब्द का प्रयोग मागधी प्राकृत के लिए जिसका उल्लेख आगे किया जायगा, सीमित रखना आवश्यक है। पालि शब्द का प्रारंभ में अशोकी प्राकृत के लिए भी प्रयोग किया गया था किन्तु अब यह हीनयान बौद्धधर्म के धर्म-ग्रंथों की भाषा के लिए ही काम में आता है।

पालि किस प्रान्त की भाषा थी, इस प्रश्न पर विद्वानों में परस्पर बहुत वादविवाद होता है। रीज़डेविड का विचार था कि यह कोसल देश की भाषा थी, अन्यों ने इसे मगध देश की ठहराने की कोशिश की। गठन पर विचार करते हुए यह किसी पूर्वी प्रान्त की नहीं ठहरती। प्राकृतों के तुलनात्मक अध्ययन से यह पच्छिमी प्रदेश (मध्यदेश) की भाषा सिद्ध होती है और ऐसा समझा जाता है कि यद्यपि बुद्ध भगवान् ने किसी प्राच्य भाषा में उपदेश किया होगा तथापि उनके निर्वाण के सौ दो सौ साल बाद समस्त ग्रन्थों का अनुवाद किसी ऐसी मध्यदेशी भाषा में हुआ जो संस्कृत के समकक्ष स्टैंडर्ड हो चुकी थी। गठन में पालि बुद्धकालीन नहीं ठहरती, काफ़ी अर्वाचीन (ई० पू० तीसरी सदी की) जान पड़ती है। जब अशोकी प्राकृत से उसकी तुलना करते हैं तब यह बात स्पष्ट हो जाती है।

पालि में बौद्धधर्म के मूल ग्रंथ, टीकाएँ तथा काफ़ी कथा-साहित्य, काव्य, कोष, व्याकरण आदि हैं। वर्तमान-कालीन सिंहल, ब्रह्मदेश, थाईदेश आदि में उसे वही गौरव प्राप्त है जो भारतवर्ष में संस्कृत को। इस साहित्य में धम्मपद, जातक आदि अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है।

पालि भाषा के सूक्ष्म निरीक्षण से पता चलता है कि इसमें जहाँ-तहाँ बोली-भेद के उदाहरण हैं। एक ही शब्द के अनेक स्थलों पर अनेक रूप मिलते हैं। मूल में एक भाषा है। स् का सर्वत्र अस्तित्व और श् का अभाव तथा र् का अस्तित्व और ल् से भेद, आदि लक्षण इस बात को पुष्कल रूप से प्रमाणित करते हैं कि यह पच्छिमी भाषा है। त्रिपिटिक के

भी सभी अंश एक समय के लिखे नहीं मालूम पड़ते। शैली का काफ़ी भेद है।

पालि ग्रन्थ भारत से सिंहल गए। पौराणिक गाथा के अनुकूल यह माना जाता है कि अशोक के पुत्र महेन्द्र इन बौद्ध ग्रन्थों को वहाँ ले गए। बाद को भी आदान-प्रदान होता रहा। बुद्धघोष के समय ५वीं (ई० सदी) में भारत में केवल मूलग्रंथों के ही रह जाने का पता चलता है। वह अर्थकथा सिंहल से लाए। वर्तमान युग में हम भारतीयों को पालि का पुनः ज्ञान यूरोपीय विद्वानों की कृपा से मिला है।

पालि में कुछ लक्षण ऐसे मिलते हैं जिनसे हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इसका विकास उत्तर-कालीन संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत और तत्कालीन बोलियों से मानना अधिक उचित है। तृतीय बहुवचन में अकारान्त संज्ञाओं का *-एभिः* प्रत्यय और प्रथमा ब० व० में *-आस्* के विकल्प में *आसः*, धातु (यथा *गम्*) और धात्वादेश (यथा *गच्छ्*,) के प्रयोग में भेद का अभाव, अडागम (*हसि* = *अहसीत्*) का प्रायः अभाव, आदि बातें उदाहरण हैं। संस्कृत के इह के स्थान में पालि इध पाया जाता है जो वैदिक-पूर्व भाषा का अवशेष समझा जाता है।

अशोकी प्राकृत—प्रियदर्शी राजा अशोक ने अपने शासनकाल के विविध संवत्सरों में स्थान-स्थान पर स्तम्भों, चट्टानों, गुफ़ाओं आदि में 'धर्म' के प्रचार के लिए बहुतेरे लेख खुदवाये थे। इन लेखों में 'अभिषेक से ८ वर्ष बाद, ९ वर्ष बाद, १० वर्ष बाद आदि' शब्दों में उन लेखों का समय भी दिया हुआ है। भारत में इस प्रकार विवाद-रहित तिथि पड़े हुए न इतने पुराने लेख हैं न पुस्तकें। इसलिए इन लेखों का अद्वितीय महत्व है। प्रायः ये सब के सब २६२-२५० ई० पू० के हैं और भारत की सभी दिशाओं और कोनों में पाए जाते हैं। इनकी भाषा का समष्टिरूप से नाम अशोकी प्राकृत है। इन लेखों के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि इनमें उत्तर पच्छिमी (शाहबाजगढ़ी, मनसेहरा), पच्छिमी (गिरनार), मध्यदेशी, पूर्वी (कालसी धौली, जौगढ़) बोलियाँ

हैं और दक्खिनी भी। अनुमान है कि राजधानी से अर्ध-मागधी के किसी रूप में लेख सब प्रान्तों में भेजा जाता था और प्रान्त की बोली के अनुकूल उसमें परिवर्तन कर लिये जाते थे। राजधानी से जितनी ही दूर लेख पाए गए हैं, परिवर्तन की मात्रा उतनी ही अधिक होती गई है। मध्य-देशी के कोई लेख नहीं मिलते, इससे अनुमान है कि उस समय मध्य-देश में अर्धमागधी समझी जाती थी। गिरनार के लेख संस्कृत भाषा और शौरसेनी प्राकृत के, अन्यों की अपेक्षा, अधिक निकट हैं।

अशोक के लेखों के अलावा और भी लेख प्राकृतों में लिखे हुए पाए गए हैं। प्रायः ये सभी मध्यकाल के गिने जाते हैं, केवल गोरखपुर ज़िले के सोहगौरा के लेख को प्रो० सुनीतिकुमार चटर्जी अशोक के पूर्व (ई० पू० चौथी सदी) का मानते हैं।

मध्ययुग के मध्य काल के अन्तर्गत जैन प्राकृतें और महाराष्ट्री आदि साहित्यिक प्राकृतें आती हैं। इस काल में प्राचीन युग की भाषा से भेद की मात्रा, मध्ययुग के आदि काल से भी अधिक बढ़ गई है। संयुक्त व्यंजनों में केवल (क) अपने अपने अनुनासिक के बाद उस-उस वर्ग का स्पर्श वर्ण, (ख) अनुनासिक या ल् के अनन्तर ह् और (ग) व्यंजन की दीर्घमात्रा (स्स, त्त, प्प आदि) बाक़ी बचे हैं। दो स्वरों के बीच के स्पर्श का प्रायः लोप होना मध्यकाल की विशिष्टता है (*काकः काओ, कति>कइ, नूपः>नूओ*)। प्रो० सुनीति कुमार चटर्जी का विचार है कि व्यंजन का यह ह्रास पहले अघोष से सघोष (क्>ग्) फिर सघोष से संघर्षी (ग्>ग़्) और तब लोप की अवस्थाओं के द्वारा आया है। इन संघर्षी ध्वनियों को व्यक्त करने का ब्राह्मी लिपि में कोई साधन नहीं था इसी कारण प्राचीन लेखों में इनका व्यक्तीकरण नहीं मिलता। विद्वानों का विचार है कि जैन ग्रंथों में जो लघु प्रयत्नतर यकार (य) मिलता है यह ग् ज् द् की संघर्षी अवस्था का ही द्योतक है। विभक्तियों में से चतुर्थी का प्रायः सर्वांश में लोप हो गया है, पंचमी का प्रयोग बहुत कम मिलता है। इसी प्रकार क्रिया में भी रूपबाहुल्य कम होता जा रहा है।

जैन प्राकृतों में प्रमुख आर्ष (अर्धमागधी) है। इसी में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अंग (११) और उपांग (१२) आदि ४५ आगम ग्रन्थ मिलते हैं। जैन मत का प्रादुर्भाव उसी प्रदेश (कोसल, वाराणसी, मगध आदि जनपदों) में हुआ जहाँ बौद्ध मत का। कहा जाता है कि इनके धर्मग्रन्थ कई सौ वर्ष तक मौखिक रहे। प्रथम बार इनका संकलन चन्द्रगुप्त मौर्य के काल (चौथी सदी ई० पू०) में पाटलिपुत्र में हुआ और इनका सम्पादन पाँचवीं सदी ई० में देवर्धिगणी ने किया। अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अंगों की भाषा पुरानी है, तब भी ई० पू० चौथी सदी की भाषा किसी में नहीं मिलती। गठन में यह अर्धमागधी (शौरसेनी और मागधी के बीच की) जँचती है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अन्य (कथा आदि) साहित्य महाराष्ट्री (जैन महाराष्ट्री) में है। दिगम्बर सम्प्रदाय का साहित्य जैन शौरसेनी में है। इन दोनों का रूप आर्ष से पुराना नहीं है।

साहित्यिक प्राकृतों के नामों से प्रकट है कि ये विभिन्न प्रान्त की लोकभाषाएँ थीं जो समय के अनुकूल साहित्यिक पदवी को प्राप्त कर अब तक बची रह सकीं। इनमें सबसे पुरानी सामग्री शौरसेनी में मिलती है।

शौरसेनी—संस्कृत के नाटकों में स्त्रीजन तथा मध्यम वर्ग के पुरुषों की भाषा यही है। इससे जहाँ यह सिद्ध होता है कि नाटक का सर्वप्रथम विकास शौरसेनी प्रान्त में हुआ वहाँ साथ ही साथ यह भी मालूम होता है कि अन्य प्राकृतों की अपेक्षा शौरसेनी का प्रसार अधिक विस्तृत क्षेत्र में था। अनुमान है कि यह संस्कृत की समकक्ष स्टैंडर्ड भाषा थी। इसमें ई० प्रथम सदी के लिखे हुए अश्वघोषकृत सारिपुत्र-पकरण आदि तीन रूपक पाए गए हैं। इनकी भाषा उत्तर-कालीन शौरसेनी से कुछ भिन्न है पर है शौरसेनी ही। शौरसेनी का मुख्य लक्षण तवर्ग के विकास में पाया जाता है। दो स्वरों के बीच में, सं० *-त्-*, *थ*-का शौ० में *-द्-*,*-ध-* हो जाता है, और दो स्वरों के बीच की *-द्-*, *-ध* ध्वनियों में कोई परिवर्तन नहीं होता, जैसे:—

गच्छति>गच्छदि, यथा>जधा, जलदः>जलदो, क्रोधः>क्रोधो।

प्राकृतों में शौरसेनी के बाद महाराष्ट्री का नम्बर आता है। यह काव्य और विशेषकर गीति-काव्य की भाषा है। जो स्थिति ब्रज-भाषा की इधर कई सदियों तक रही है, वही महाराष्ट्री की ईसवी सन् के आरम्भ से कई सदियों तक रही। संस्कृत के नाटकों में पद्य भाग यदि प्राकृत में मिलता है तो महाराष्ट्री में इसका साहित्य बहुत ऊँचा है। हालकृत गाथासप्तशती (गाहासत्तसई) और प्रवरसेन के सेतु-बन्ध (रावणवहो) काव्य के टक्कर की कोई चीज़ संस्कृत वाङमय में भी नहीं मिलती।

महाराष्ट्री में दो स्वरों के बीच में आनेवाले अल्पप्राण स्पर्श-वर्ण का लोप और महाप्राण का ह् हो जाता था, तवर्ग का भी। ऊपर उद्धृत शब्दों के महा० रूप *गच्छइ, जहा, जलओ* और *कोहो* हैं। इस लक्षण के कारण कुछ यूरोपीय विद्वानों का विचार यह हुआ था कि यह काव्य की कृत्रिम भाषा रही होगी। पर निश्चय ही यह उनका भ्रम था। डा० ज्यूल ब्लाख ने मराठी का विकास महाराष्ट्री से होना साबित किया है। कालान्तर में सभी भारतीय आर्य-भाषाओं में स्वरद्वय के बीचवाले स्पर्श वर्ण गायब हो गए हैं। इससे इतना ही सिद्ध हो सकता है कि वैयाकरणों और नाटकों की शौरसेनी संभवतः उनकी महाराष्ट्री से, गठन में पुरानी है। डा० मनमोहन घोष का विचार है कि महाराष्ट्री शौरसेनी की उत्तरकालीन शाखा है जिसे विद्वान् दक्खिन ले गए।

मागधी—यह मगध जनपद की भाषा थी। नाटकों में नीच पात्रों की भाषा यही है। सिंहल आदि बौद्ध देशों में पालि को ही मागधी कहते और जानते हैं। पर इस मागधी प्राकृत से उसका कोई भी वास्तविक सम्बन्ध नहीं। मागधी के मुख्य लक्षणः—

(१) संस्कृत ऊष्म वर्णों के स्थान पर श् (*सप्त>शत्त*)।

(२) र् की जगह ल् (*राजा>लाजा*)।

(३) अन्य प्राकृतों की ज् की जगह *य* और ज्ज की जगह *य्य* (**यधा** *याणदि, अय्य, मय्य कय्य*)।

(४) *एण* की जगह *ञ्ज*, (*पुञ्ज्*, *लञ्जो*)।

(५) अकारान्त संज्ञा के प्रथमा एकवचन में ओ की जगह-ए (*देवो*>*देवे*) आदि हैं। ये पालि में जहाँ-तहाँ अपवाद-स्वरूप मिलते हैं, लक्षण-रूप नहीं। मागधी प्राकृत में साहित्य नहीं मिलता, इसका अस्तित्व व्याकरणों और नाटकों में ही है।

अर्धमागधी—इसकी स्थिति शौरसेनी और मागधी के बीच की मानी गई है। यह मुख्य रूप से जैन-आदि धार्मिक साहित्य में काम में आई है। अनुमान है कि बुद्ध भगवान और महावीर स्वामी के समय में इसने यथेष्ट क्षमता प्राप्त कर ली थी। अशोक के लेखों की भी यही मूलभाषा समझी जाती है। इसमें मागधी के दो एक लक्षण, अकारान्त संज्ञा के प्र० एक० के एकारान्त रूप, जहाँ-तहाँ र के स्थान पर *ल्* आदि मिलते हैं, पर इसमें *स्* है, *श* नहीं।

पैशाची—इस प्राकृत में किसी समय अच्छा ख़ासा साहित्य रहा होगा। गुणाढ्य की बृहत्कथा इसी में थी। यह अमूल्य ग्रन्थ अब अप्राप्य है। इसके संस्कृत भाषा में किए हुए दो संक्षिप्त अनुवादों, बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर, से ही बृहत्कथा के महत्व की सूचना मिलती है। पैशाची के लक्षण प्राकृत व्याकरणों में पाए जाते हैं। मुख्य यह है कि संस्कृत शब्दों में दो स्वरों के बीच में आनेवाले सघोष स्पर्श वर्ण वर्गों के तीसरे, चौथे (अघोष) (पहले, दूसरे) हो जाते हैं जैसे *गगनं*>*गकनं*, *मेघो*>*मेखो*, *राजा*>*राचा*, *वारिदः*>*वारितो* आदि।

इन प्रधान प्राकृतों के अलावा नाटकों में जहाँ-तहाँ अन्य प्राकृतों के कुछ अवतरण और व्याकरणों में उनके कुछ लक्षण मिलते हैं। मृच्छकटिक में शाकारी, ढक्की और अन्यत्र शाबरी और चांडाली पाई जाती हैं। आभीरिका और अवन्ती का भी उल्लेख मिलता है। इनमें से प्रथम दो मागधी के ही कोई भेद हैं। शाबरी और चांडाली नामों से जाति-विशेष की भाषा का भास होता है पर ये भी मागधी की ही विशेष बोलियाँ थीं। इसी तरह आभीरिका अहीर जाति की बोली रही होगी। अवन्ती उज्जैन की प्राकृत थी।

मध्ययुग के उत्तरकाल में ध्वनियों और व्याकरण का और भी ज्यादा विकास पाया जाता है। संयुक्त व्यंजनों के समीकरण के कारण जो व्यंजन का द्वित्व (दीर्घत्व) आदिकाल से प्रारम्भ हुआ था और मध्यकाल में चरम सीमा को पहुँच चुका था, अब एकत्व (ह्रस्वत्व) की ओर चलने लगा (*प्त, क्त*>*त्त*>*त*) और प्रतिकार स्वरूप उससे पूर्व का ह्रस्व स्वर दीर्घ होने लगा। यह प्रवृत्ति आधुनिक युग में पूर्ण रूप से पाई जाती है पर इसका आरम्भ मध्ययुग के उत्तरकाल से ही हो गया था। प्रत्ययों *ष्य, स्य*>*स्स* की जगह *-ह* (*मंत हो*<*मंतस्स* <*मन्त्रस्य, तहिं*<*तस्सि*<*तस्मिन्*) मिलता है। प्रत्ययों के *न, -ण, -म* की जगह अनुस्वार भी आ गया (*राएँ*<*राजेण*=*राज्ञा, पुच्छउँ*<*पृच्छामि।*) शब्द के अन्त का दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गया (*सेवा*>*सेव, मानिनी*>*माणिणि*) और *-ओ, -ए* का *-उ, -इ* पुत्तो>पुत्तु, घरे>घरि। संज्ञा और क्रिया के रूपों की जटिलता और भी कम हो गई। प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों के रूपों में निकटता आ गई (पुत्तु एक० व० पुत्त ब० व०) इसी तरह षष्ठी और सप्तमी के एकवचन में (ष० पुत्तह ए० व० पुत्तहँ ब० व०, स० पुत्तहिं)। प्रतिकार रूप परसर्गों का प्रयोग जारी हुआ। क्रिया में भी प्रायः वर्तमान काल (लट्) सामान्य भविष्य (लृट), आज्ञा (लोट्) के ही रूप पाये जाते हैं, अन्य सब लकारों के रूप गायब हो गए। भूतकाल के लिए निष्ठा का आश्रय सर्वांश में लिया जाने लगा।

उत्तरकाल की भाषा को सामान्यरूप से अपभ्रंश नाम दिया गया है। कालिदास की विक्रमोर्वशीय में अपभ्रंश के कुछ पद्य मिलते हैं। दण्डी (ई० ७वीं सदी) के समय से अपभ्रंश का काव्य में थोड़ा बहुत प्रयोग होने लगा था और यह हिंदी, मराठी आदि आधुनिक भाषाओं के प्रयोग के पूर्व तक जारी रहा। विद्यापति ठक्कुर ने जहाँ मैथिली में अपने अमरपदों की रचना की है, वहाँ साथ ही साथ कीर्तिलता सा सुन्दर ग्रंथ अपभ्रंश (अवहट्ठ) में लिखा है। प्राकृतसर्वस्व के रचयिता मार्कण्डेय ने अपभ्रंश का नागर, उपनागर और व्राचड में विभाग किया

है। नागर गुजरात का, व्राचड सिन्ध का और उपनागर इन दोनों के बीच के प्रदेश का समझा जाता है। इतना निश्चय समझना चाहिए कि जिन प्रान्तों में प्राकृतें बोली जाती थीं उनमें ही उत्तरकाल में उस-उस प्रान्तों के अपभ्रंशों का प्रयोग होने लगा। इन सब में शौरसेन अपभ्रंश का प्रयोग प्राय: समस्त भागों में साहित्यिक रूप में पाया जाता है। इसमें बड़ा अच्छा साहित्य, विशेषकर चरितों और कथाओं के रूप में है, जो धीरे-धीरे प्रकाशित हो रहा है।

मध्ययुग के उत्तर-काल तक आते-आते प्राचीनयुग की भाषा से यथेष्ट भेद पड़ गया था। प्राचीन युग में कुछ परिस्थितियों में दन्त्य व्यंजन मूर्धन्य होने लगे थे, यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती बढ़ती मध्ययुग के उत्तरकाल में चरम सीमा को पहुँच गई। प्राचीन में सुर था, इसके स्थान पर बलाघात मध्ययुग के आदि काल में ही आ गया था। यह बलाघात प्राय: उपधा के अक्षर पर पड़ता था। मध्ययुग में आर्य-भाषाओं और बोलियों में परस्पर शब्दों का आदान-प्रदान होता रहा। इसका सर्वोत्तम उदाहरण संख्यावाची शब्दों में मिलता है। द्राविड़ आदि अन्य देशी भाषाओं से भी शब्द नि:संकोच लिए जाते रहे। जहाँ संस्कृत के भंडार से जब जरूरत हुई शब्द ले लिए गए और एक ही शब्द के तत्सम् और अर्धतत्सम् तद्भव रूपों की प्रचुरता हो गई, वहाँ संस्कृत ने भी मध्ययुग की भाषाओं से वट, *नापित*, *पुत्तलिका*, *भट*, *भट्टारक*, *छात* आदि कुछ शब्द ग्रहण किए। विदेशी भाषाओं से आर्य-भाषाओं में बराबर थोड़े-बहुत शब्द आते रहे हैं और यहाँ की ध्वनियों की चूल बैठ जाने पर घुल मिल गए हैं। इस ध्वनि-चूल के कारण ही द्राविड़, मुंडा आदि देशी परिवारों से अथवा विदेशी भाषाओं से आए हुए शब्दों को हम वास्तविक आर्य शब्दों से भिन्न नहीं कर पाते। हेमचन्द्र ने देशीनाममाला में ऐसे शब्दों की सूची दी है। व्युत्पत्ति-विज्ञान के तत्वों का प्रयोग करके हम इनमें से कुछ को आर्य शब्दों से सम्बद्ध कर सके हैं पर बहुतेरे सचमुच आर्य

नहीं हैं। यदि द्राविड़, मुंडा आदि के प्राचीन कोष होते तो सम्बन्ध खोजने में आसानी रहती। उनके अभाव में भी इस दिशा में प्रयत्न जारी है।

वर्तमान युग

भारतीय आर्य शाखा के वर्तमान युग का आरंभ प्रायः १००० ई० से माना जाता है। इस समय तक प्राचीन युग की श्लिष्ट अवस्था बदलते-बदलते श्लेष से काफ़ी दूर जा पड़ी थी और यह परिवर्तन बराबर जारी है। महत्ता की दृष्टि से आर्य परिवार की भाषाएँ सर्वोपरि हैं। इनके बोलनेवालों की संख्या वर्तमान भारत में २५$\frac{३}{४}$ करोड़ है और इसके बाद आनेवाले द्राविड़ परिवार की ७$\frac{१}{४}$ करोड़ है।

वर्तमान युग की भाषाओं में ध्वनियाँ प्रायः वही हैं जो मध्ययुग में थीं। प्राचीन युग के उधार लिये शब्दों में प्राचीन युग की विशेष ध्वनियाँ ऋ, ष, वर्तमान काल में लिखी अवश्य जाती हैं, पर इनका उच्चारण शुद्ध नहीं होता। ऋ का उच्चारण उत्तर भारत में *रि* (*रिशि*) और दक्खिन में रु (*रुशि*) होता है, और ष् का श्। इसी प्रकार ज्ञ संयुक्ताक्षर का उच्चारण प्रदेशभेद से ग्यँ, द्यँ होता है, यद्यपि कुछ सुधारक ज्यँ भी बोलते हैं। पूर्वी प्रान्तों में *ब व* दोनों ब *ज य* दोनों ज सुनाई पड़ते हैं। संस्कृत के संयुक्ताक्षर शिष्ट समाज के उच्चारण में ज़्यादातर ठीक ठीक उतर जाते हैं। इस युग में भारतीय भाषाओं में अरबी-फ़ारसी से भी शब्द काफ़ी तादाद में आ गए हैं और इनमें आई हुई विदेशी ध्वनियों (क़, ख़, ग़, ज़, थ़, द़, फ़) के स्थान पर, प्रायः सब प्रदेशों में देशी ध्वनियों को लाकर उच्चारण किया जाता है, केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश, सिन्ध, पंजाब और संयुक्त प्रांत के पच्छिमी भाग में इन ध्वनियों को ठीक-ठीक बोलने की कोशिश शिष्ट समाज द्वारा की जाती है। पर देश में राष्ट्रीय भावना की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ यह प्रवृत्ति निर्बल पड़ती जा रही है।

मध्ययुग तक तीन लिंग थे पर वर्तमान में नपुंसक का प्रायः ह्रास हो गया है, केवल गुजराती, मराठी, सिंहली तथा पश्चिमोत्तर हिमालय की भदरवाही और खाशी आदि कुछ बोलियों में उसकी थोड़ी-बहुत निशानी बाक़ी है। लिंग के ह्रास का कारण शायद इस देश की पूर्ववर्ती भाषाओं का प्रभाव है। तिब्बत ब्रह्मी समूह की भाषाओं में व्याकरणात्मक लिंग का अभाव ही शायद इस बात का कारण है कि बंगाली, असामी और उड़िया से लिंग-भेद गायब हो गया और नैपाली तथा बिहारी में थोड़ा सा ही रह गया है। प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक का नया भेद भी जिसका अस्तित्व हिंदी, मराठी, गुजराती आदि में प्राणिवाचक कर्म के बाद परसर्ग लगाने से और अप्राणिवाचक कर्म के बाद न लगाने से सिद्ध होता है, मुंडा और द्राविड़ भाषाओं के प्रभाव का फल जान पड़ता है।

प्राचीन युग में संज्ञा की आठ विभक्तियाँ थीं। मध्ययुग में इनमें बराबर कमी होती गई। वर्तमान युग में केवल दो ही रह गईं, एक विकारी और दूसरी अविकारी। सर्वनाम में अवश्य (*मुझ*, *तुझ*, *उस*, *किस*) कुछ रूपों में एक और विभक्ति बच रही है। साथ ही साथ परसर्गों का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता गया है और सर्वनाम के (*मोर*<*मो*+*केर*; *मेरा*, *तेरा*, *हमारा*, *तुम्हारा*) कुछ रूपों में वह सर्वनाम के रूप के साथ जा मिला है। जहाँ प्राचीन युग में किसी संज्ञा के १७ रूप थे, वहाँ वर्तमान में तीन ही बचे हैं।

क्रिया में कर्मवाच्य के अलग रूप बिल्कुल ग़ायब हो गए। *जा* सहायक क्रिया से उसका काम चला लिया गया। क्रिया के अर्थों की बारीकी अब संयुक्त क्रियाओं द्वारा व्यक्त की जाती है। प्राचीन युग के लकारों का प्रयोग उत्तरोत्तर घटता रहा। फलस्वरूप पुराने वर्तमान के रूप आजकल, आज्ञार्थ काम में लाए जाते हैं और वर्तमान का बोध शतृ प्रत्यय वाले रूपों के साथ 'होना' सहायक क्रिया के रूपों को जोड़कर होता है। भूतकाल का बोध सर्वांश में निष्ठा के रूपों से और भविष्य का प्रायः कृत्यों के रूपों से होता है। पुरुष-भेद भी प्रायः

मिट-सा रहा है (*करेगा, करेंगे, था, थी, थे, थीं*)। जान बीम्ज़ ने प्राचीन युग की धातु के क्रिया-रूपों की संख्या ५४० बताई है। और अवधी की एक बोली (लखीमपुरी) में किसी भी धातु के रूप अब केवल तीस-पैंतीस से अधिक नहीं हैं।

इस प्रकार प्राचीनयुग की रूप-भेद की जटिलता बहुत कुछ समाप्त हो गई और हिंदी आदि आधुनिक आर्य भाषाएँ उसी प्रकार श्लिष्ट अवस्था से अयोगावस्था की ओर बढ़ आई हैं, जिस प्रकार यूरोप में इनकी समकालीन अँगरेज़ी, जर्मन, फ्रेंच, आदि। भारतीय आर्य-भाषाओं में परस्पर भेद की मात्रा भी प्रायः उतनी ही है जितनी यूरोपीय भाषाओं में परस्पर। भारत में भेद और अलगाव मुख्यरूप से लिपि-भेद के कारण दिखाई पड़ता है, यूरोप में सौभाग्य से लिपि प्रायः एक है।

भारतीय आर्य शाखा के अन्तर्गत नीचे लिखी भाषाएँ हैं—

इस तुलना के विचार से कि बीस वर्षों की अवधि में किस किस भाषा के भाषी कितने बढ़े और कितने घटे, नीचे पहले १९३१ की जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार कोष्ठक में बोलने वालों की संख्या दी गई है, और उसके बाद १९५१ की जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार विभिन्न भाषा-भाषियों की संख्या के विषय में लिखा गया है।

लहँदी (८६ लाख), सिन्धी (४० लाख), मराठी (२ करोड़ ९ लाख), उड़िया (१ करोड़ १२ लाख), बिहारी (२ क० ७९ लाख), बंगाली (५ क० ३५ लाख), आसामी (२० लाख), हिन्दी (७ क० ८४ लाख), राजस्थानी (१ क० ३९ लाख), गुजराती (१ करोड़ ९ लाख), पंजाबी (१ क० ३९ लाख), भीली (२२ लाख), पहाड़ी (२८ लाख), हबूड़ी (जिप्सी), सिंहली।

१९५१ में (पाकिस्तान के बन चुकने के कारण) हिंदुस्तान में लहँदी-भाषी बिल्कुल नहीं रहे, और सिंधी-भाषी केवल ७ लाख ५० हज़ार रह गए। मराठी-भाषी बढ़ कर २ करोड़ ७० लाख हो गए, और उड़िया-भाषी १ करोड़ ३१ लाख। बिहारी-भाषियों ने अपने को

हिंदी-भाषी ही माना; इसी प्रकार राजस्थानी-भाषियों ने भी अपने को हिन्दी-भाषियों से अलग नहीं स्वीकार किया (अपने को हिन्दी से बिल्कुल पृथक्, राजस्थानी को मानने वाले केवल ६ लाख ५० हज़ार निकले), और इस प्रकार के परिवर्तनों के बाद हिन्दी-भाषियों की संख्या १४ करोड़ ९० लाख तक पहुँच गई। बंगाली-भाषी केवल २ करोड़ ५१ लाख और पंजाबी भाषी केवल ८ लाख ५० हज़ार रह गए। आसामी-भाषी ४९ लाख और गुजराती भाषी १ करोड़ ६३ लाख हो गए। और भीली-भाषियों की संख्या घट कर १२ लाख रह गई।

कुछ सामान्य लक्षणों के कारण भाषाविज्ञानी इनको समुदायों में बाँटते हैं। लहंदी सिन्धी का पश्चिमोत्तर समुदाय, मराठी का दक्खिनी, उड़िया बिहारी, बंगाली, असामी का पूर्वी, पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, भीली का पच्छिमी और पहाड़ी का अलग समुदाय बनता है। पूर्वी हिन्दी की स्थिति भाषा की गठन के हिसाब से पच्छिमी और पूर्वी समुदाय के बीच में पड़ती है। हब्रूड़ी और सिंहली इस देश के बाहर गई हुई भारतीय आर्य भाषाएँ हैं।

लहँदी—पंजाब के पच्छिमी हिस्से की तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग की भाषा है। पच्छिम की ओर बोली जाने वाली पश्तो से भेद करने के लिए इसको कभी-कभी हिन्दकी भी कहते हैं। यह केवल बोलचाल की भाषा है। कुछ भी उल्लेखनीय साहित्य नहीं है।

सिन्धी—सिन्ध प्रान्त की भाषा है। साहित्य अभी तक नाम-मात्र का है, उल्लेखनीय ग्रन्थ केवल 'शाहजी रिसालो' है। ब्राचड अपभ्रंश का एक लक्षण आदिम त् द् का ट् ड् हो जाना सिन्धी में मिलता है (हिं० *ताँवा* सिं० *टामो*, हिं० देना सिं० *डिअणु*)। सिन्धी लिपि अरबी का एक संशोधित रूप है। शब्दावली में विदेशी शब्दों की मात्रा अधिक है।

मराठी—महाराष्ट्र प्रान्त की भाषा है। अच्छा-ख़ासा साहित्य है जिसमें उत्तर भारत की तरह संत साहित्य का अच्छा स्थान है।

नामदेव और ज्ञानेश्वर की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। अन्य आर्यभाषाओं की अपेक्षा इसमें टवर्ग ध्वनियाँ अधिक हैं। च के अलावा च़ ध्वनि भी है जिसका उच्चारण त्स होता है, इसी तरह ज के अलावा ज़। यह ज़ विदेशी ज़ से उच्चारण में भिन्न है।

पूर्वी समुदाय की भाषाओं में कुछ सामान्य लक्षण हैं—भूतकाल की क्रिया में -ल, भविष्य में -व् और लिंग का प्रायः अभाव। अ का उच्चारण हिन्दी के पूरब से ही गोल होता-होता बंगाली में जाकर ऑ हो गया है।

उड़िया—उड़ीसा प्रान्त की भाषा है। इसका एक शिलालेख १२६६ ई० का मिला है। साहित्य कोई चार सौ साल पुराना है।

बिहारी—तीन (मैथिली, मगही, भोजपुरी) बोलियों का समूह है। ये बिहार प्रान्त में बोली जाती हैं और भोजपुरी संयुक्तप्रांत की गोरखपुर और बनारस कमिश्नरी में भी। मैथिली में अच्छा ख़ासा साहित्य है और प्राचीन साहित्य की दृष्टि से इसका महत्व किसी भी अन्य आधुनिक भाषा से कम नहीं। विद्यापति की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं।

आसामी—आसाम प्रान्त की भाषा है, इसका भी साहित्य पुराना है, कोई ६०० वर्ष तक का। शंकरदेव का नाम उल्लेखनीय है। इस आसाम प्रान्त को स्वतंत्र सत्ता मिल गई है इसलिए असामी का उद्धार हो रहा है। अभी तक वह बंगाली के बोझ से दबी थी।

मणिपुरीभाषा—मणिपुर भारत का सुदूर प्रान्त तथा पहाड़ों से घिरा हुआ रमणीय प्रदेश है। असल में यह भारत का सिंह द्वार है। इस प्रान्त की भाषा मणिपुरी है। इसको मीतरोल भी कहते हैं। इस भाषा को बोलनेवालों की आबादी करीब दस लाख है।

इसका साहित्य पुराना है। इस भाषा में पुराण, इतिहास, नाटक, पद्य-गद्य आदि हैं। अपनी लिपि है। पर आजकल प्रचलित नहीं है। मणिपुरी बंगला-लिपि में लिखी जाती है। कुछ प्रतिष्ठित लोग बंगला-लिपि के बजाय राष्ट्र-लिपि देवनागरी में मणिपुरी भाषा लिखने का प्रयास कर रहे हैं।

संस्कृत के श्रीमद्‌भागवत, गीता, महाभारत, आदि ग्रंथों का मणिपुरी में अनुवाद किया गया। अब तुलसी-कृत रामायण का भी इसी भाषा में अनुवाद करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

बंगाली--बंगाल प्रान्त की भाषा है। साहित्यिक भाषा को साधुभाषा कहते हैं। इसमें संस्कृत के शब्दों की प्रचुरता है। पर उच्चारण अपना निजी है। इस कारण लिखित शब्द और बोले हुए शब्द में बहुत अन्तर पड़ गया है (जैसे *लक्ष्मी: लोंक्खीं*)। साहित्य की दृष्टि से बंगाली समस्त आधुनिक भाषाओं में सर्वोन्नत है। पुराने साहित्य में चंडीदास और वर्तमान में रवीन्द्रनाथ ठक्कुर उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी--भाषाविज्ञानी इस शब्द को एक अर्थ में इस्तेमाल करते हैं, साहित्यिक दूसरे में। यह बिहार, संयुक्त प्रदेश, मध्य प्रदेश, हिमालय के पहाड़ी प्रान्त तथा पंजाब की साहित्यिक भाषा है और इस प्रकार १५ करोड़ जनता की उच्च भावनाओं के व्यक्तीकरण का साधन है। गठन की दृष्टि से इसकी दो उपशाखाएँ हैं, पच्छिमी और पूर्वी। पच्छिमी के अन्तर्गत बाँगड़ू, हिन्दुस्तानी, बुंदेली और ब्रज ये चार बोलियाँ हैं, और पूर्वी के अन्तर्गत दो, अवधी और छत्तीसगढ़ी। ब्रज और अवधी में उच्चकोटि का पुराना साहित्य है। ब्रज में सूरदास और अवधी में तुलसीदास अमर हैं। कबीर अद्वितीय हैं। हिन्दुस्तानी के दो साहित्यिक रूप हैं, हिन्दी (खड़ी बोली) और उर्दू। उर्दू की लिपि अरबी का एक संशोधित रूप है, हिन्दी की देवनागरी जिसका विकास ब्राह्मी लिपि से स्पष्ट है। उर्दू में अरबी फ़ारसी आदि (एशियाई) विदेशी शब्दों की प्रचुरता है, हिन्दी में देशी शब्दों की। उर्दू संस्कृत के तत्सम शब्दों का बहिष्कार किए हुए है, हिन्दी उनको हृदय से लगाए हुए है। उर्दू का छन्द और साहित्यिक भावना विदेशी हैं, फ़ारसी की जूठन, पर हिन्दी की स्वदेशी।

राजस्थानी--इसमें कई बोलियाँ हैं जिनमें मारवाड़ी और मेवाड़ी प्रमुख हैं। ये राजपूताना और मध्यभारत में बोली जाती हैं। चारण-साहित्य अच्छा है। इन बोलियों में ण्, ळ् ध्वनियों का विशेष स्थान है,

और दो स्वरों के बीच की *ल* का उच्चारण *ळ्* होता है। इसी तरह मराठी और गुजराती में भी ळ् है।

गुजराती––गुजरात, काठियावाड़ तथा कच्छ की भाषा है। गठन में राजस्थानी और पच्छिमी हिन्दी से बहुत मिलती है, मराठी से कम। हिन्दी के *ऐ औ* की जगह यहाँ *ए ओ*, मिलते हैं जो हिन्दी के *ए ओ* से ज़रा अधिक विवृत हैं। गुजराती का विकास नागर अपभ्रंश से स्पष्ट है। साहित्य अच्छा ख़ासा है। पुराने साहित्य के ग्रन्थकारों में नरसिंह मेहता उल्लेखनीय हैं।

पंजाबी––पंजाब प्रान्त की भाषा है। साहित्य पुराना नहीं है, पर अब पंजाबीपन की भावना से उन्नति करने लगा है। लिपि गुरुमुखी है।

भीली––इसकी बोलियाँ राजपूताना, मध्यभारत, खानदेश आदि में रहनेवाली कुछ जंगली जातियों की हैं। इनमें कोई साहित्य नहीं।

पहाड़ी––हिमालय के निचले भाग में बोली जाती है। इसके अन्तर्गत तीन बोली-समूह हैं, मध्य (११ ला०, ७ हज़ार) पूर्वी (४ ला० १३ ह०) पच्छिमी (२३ लाख २६ ह०)। पच्छिमी बोलियाँ पच्छिम में शिमला पहाड़ी तक बोली जाती हैं। मध्य में गढ़वाली और कुमाउनी है। कुमाउनी में थोड़ा-सा साहित्य है। पूर्वी बोली नेपाली है। इसे खशकुरा या गोर्खाली भी कहते हैं। इसमें इधर सौ साल में कुछ साहित्य हो गया है। नैपाल की यही राजभाषा भी है।

हबूड़ी––भारत से कुछ जातियाँ ईसवी सन् के सौ-दो-सौ बरस पहले या बाद को पच्छिम की ओर चल पड़ीं। ये लोग ईरान, आर्मीनिया, सीरिया, ग्रीस आदि सभी यूरोपीय देशों में पच्छिम में वेल्ज़ तक पाए जाते हैं। इनकी भाषा की गठन भारतीय आर्य है, यद्यपि शब्दावली में अन्य भाषाओं में से बहुतेरे शब्द आ गए हैं। सेम्सेन ने वेल्ज़ के इन लोगों की बोली का अच्छा अध्ययन किया है। इसमें संस्कृत के सघोष महाप्राण वर्णों की जगह अघोष मिलते हैं (*ध घ भ की* जगह ख थ फ)।

जिप्सी लोग अपना अस्तित्व अलग ही रख सके हैं। इनका पेशा हाथ देखना और छोटी-मोटी चीज़ें बेचना है। वेल्ज़ के जिप्सी रोमानी कहलाते हैं। यह शब्द हिन्दी के डोम शब्द से सम्बद्ध है।

सिंहली—सिंहलद्वीप की, विशेषकर दक्खिनी भाग की भाषा है। यह भारत में ईसवी सन् के पूर्व किसी समय, शायद सौ-दो-सौ बरस पूर्व, गई। इसमें महाप्राण वर्ण अल्पप्राण हो गए हैं। इसमें श ष स की जगह स है, सो भी ह में विकसित हो रहा है। अनुमान है कि सिंहली किसी पच्छिमी प्रांत (गुजरात काठियावाड़) से सिंहल गई। इसके दो लक्षण मराठी से मिलते हैं। सिंहली के आदि रूप को एलु कहते हैं। सिंहलद्वीप से भाषा मालद्वीप भी गई।

भारत में इस प्रकार कई भाषाएँ बोली जाती हैं। अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए अभी तक अँगरेज़ी का इस्तेमाल होता रहा है। पर स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही भारत अब अँगरेज़ी से ऊब उठा है। प्रान्तीय भाषाएँ अपने-अपने प्रान्त में अपना स्वभाव-सिद्ध अधिकार प्राप्त कर रही हैं। इसमें जो देर हो रही है वह या तो प्रान्तों और रियासतों की सीमाओं के, भाषाओं की सीमाओं से भिन्न होने के कारण या कुछ नेताओं की अनौचित्य तक पहुँचने वाली अन्तर्राष्ट्रीय भावना के कारण है। पर विश्वास है कि शीघ्र ही लोकमत के अनुकूल, अँगरेज़ी का बहिष्कार और भारतीय भाषाओं का सिंहासनारोहण हो जायगा। जल्द ही प्रान्तीय भाषाएँ उच्चतम शिक्षा तक के लिए माध्यम बन जायँगी।

अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए हिन्दी का स्थान निश्चित और सर्वसम्मत रहा है। इसके दो साहित्यिक रूप (हिन्दी और उर्दू) इधर प्रचलित रहे हैं पर हिन्दी रूप दिन-दिन आशातीत विस्तार पाता रहा है। तुलनात्मक दृष्टि से उर्दू उतनी उन्नति और विस्तार नहीं पा सकी है और उसकी बाजी हारती सी दिखाई पड़ती है। मुट्ठी भर राष्ट्रीयतावादी मुसलमानों को सन्तोष देने के लिए इधर कई साल से महात्मा गान्धी की प्रेरणा से कुछ लोग हिन्दी और उर्दू के बीच की एक शैली का प्रचार कर रहे हैं। वे इसे हिन्दुस्तानी कहते हैं। पर यह हिन्दुस्तानी

भी हिन्दुओं की लेखनी से प्रायः हल्की हिन्दी और मुसलमानों के क़लम के ज़ोर से हल्की फुल्की उर्दू का ही रूप ले पाई। न इसकी शैली निखर पाई और न इसमें किसी उत्तम ग्रन्थ की रचना हो पाई। महात्माजी का यह अनुरोध कि प्रत्येक भारतीय देवनागरी और उर्दू दोनों लिपियों को सीखे और दोनों का व्यवहार करे, जनता को मान्य न हो सका।

अब पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के दो अलग-अलग स्वतन्त्र राष्ट्रों के रूप में इस उपद्वीप के परिणत हो जाने से, भारत की राष्ट्रभाषा की समस्या सुलझ गई है। भारतीय केन्द्रीय सरकार की राजभाषा हिन्दी और राजलिपि देवनागरी मान ली गई है तथा पाकिस्तान की लिपि फ़ारसी (उर्दू)।

भारत की राष्ट्रभाषा का भविष्य उज्ज्वल है। हमारे राष्ट्र के अधिकारसिद्ध मान प्राप्त करने पर इसकी भाषा का मान बढ़ेगा। जहाँ-जहाँ भारतीय जायँगे, यह भाषा भी जायगी, अभी उनके साथ अँगरेज़ी जाती थी। हिन्दी का आधुनिक साहित्य भी उच्चकोटि का है, जो अंग अपूर्ण हैं वे शीघ्र ही पूर्ण हो जायँगे और भारत की भारती राष्ट्र के गौरव की वस्तु होगी।

शुभं भूयात्

प्रथम परिशेष

ग्रन्थ-सूची

भाषाविज्ञान के ग्रन्थों की एक बड़ी अच्छी सूची विलेम ग्रेफ़ की पुस्तक के ४३७—'७१ पन्नों पर दी हुई है। भारतीय भाषाओं के विवेचन के लिए सुनीति-कुमार चटर्जी जी की 'इंडोआर्यन ऐण्ड हिन्दी' के अन्त में पृ० २५०—'५८ पर भी एक अच्छी सूची दी हुई है। विशेष विवरण के लिए पाठकों को इन सूचियों को देखकर अपनी जरूरत के लिए पुस्तकें छाँट लेनी चाहिए। विषय के सामान्य ज्ञान और भारतीय भाषाओं के जरा विशिष्ट परिचय के लिए नीचे लिखी पुस्तकों से काम लिया जा सकता है।

W. S. Allen—Phonetics in Ancient India (Oxford Univ. Press) 1953.

Armfield, N.—General Phonetics (London, 1930).

Belvalkar, S. K.—Systems of Sanskrit Grammar (Poona)

Bender H. H.—A Lithuanian Etymological Index (Princeton 1921)

Bhandarkar, R.G.—Wilson Philological Lectures (Bombay, 1914).

Bloch, J.—L'Indo-Aryen (Paris, 1934).

Bloomfield, L.—Language (London, 1935).

Breal, M.—Semantics (Eng. translation of the original French Work, London, 1900).

Brunot, F. E.—La pensee et la Langue (Paris, 1922).

Buhler, G.—On the Origin of the Indian Brahma Alphabet (Strassburg, 1898).

Chatterji, S. K.—Indo-Aryan and Hindi (Ahmedabad, 1942).

D. Jones—The Phonema (W. Heffer & Sons, Cambridge).

Dauzat, A.—La Vie du Language (Paris, 1910).

Dauzat, A.—La Philosophie du Language (Paris, 1912).

Graff, W.—Language and Languages (N. Y. & London, 1932).

Grierson, G. A.—Linguistic Survey of India, Vol. I part I (Calcutta, 1928).

Gune, P.D.—An Introduction to Comparative Philology (Poona).

Geschicte der deutschen Sprachen (Munchen, 1919).

Jesperson, O.—Fonetik (Copenhagen, 1899).

—Language, its Nature, Development & Origin (London, 1922).

—The Philosophy of Grammar (N. Y. 1924).

—Logic and Grammar (Oxford, 1924).

Jones, D.—An Outline of English Phonetics (London, 1932).

Meillet, A.—Les Dialectes Indo-Europeennes (Paris, 1908).

—Linguistique Historique et Linguistique General (Paris, 1926).

—Introduction a I' Etude Comparative des Langues Indo-Europeennes (Paris, 1924).

Do & Cohen.—Les Langages du Monde (Paris).

Michigan Press Pikes, K. L.—Phonetics, (University of Do —Phonemics, do

Pillsbury & Meader.—The Psychology of Language (N. Y. 1928).

Saksena, B. R—The Evolution of Awadhi (Allahabad 1938).

Sapir, E.—An Introduction to the study of speech (N. Y. 1921).

Scripture, E. W.—The Elements of Experimental Phonetics (N. Y. & London, 1904).

Sturtevant, E. H—A Comparative Grammar of the Hittite Language (Philadelphia, 1933).

Taraporewala, I. J. S—Elements of the Science of Language (Calcutta).

Turner, R. L.—Nepali Dictionary (London, 1931).

Varma, S.—Speculations of Ancient Indian Phoneticians (London).

Vendryes, J.—Language : A Linguistic Introduction to History (Eng. trans. of original French work Le Langage, Paris, 1921).

Woolner, A. C.—Introduction to Prakrit (Lahore).

Encyclopaedia Brittanica—Article on Alphabet (14th ed. pp. 177-84).

Fourth Oriental Conference (Proceedings)—Article on the Origin of Brahmi Alphabet by I. J. S. Taraporewala pp. 625-661).

गौरीशंकर हीराचंद ओझा—प्राचीन लिपिमाला (अजमेर, १९१८)

धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास (प्रयाग)

मंगलदेव शास्त्री—तुलनात्मक भाषाशास्त्र अथवा भाषाविज्ञान (बनारस, १९४०)

द्वितीय परिशेष

पारिभाषिक शब्द-सूची

नीचे सामान्य पारिभाषिक शब्दों की सूची दी गई है। कुछ शब्दों के अंगरेज़ी पर्याय भी दे दिए गए हैं जो विषय-बोध-के लिए जरूरी समझे गए पर ऐसे शब्दों के जो नितान्त स्वदेशी हैं, तथा भाषाओं के नामों के, अंगरेज़ी पर्याय नहीं दिए गए। भाषाओं के नाम भी बहुधा भाषा-परिवार, आर्य-भाषा-समूह, इन दो के नीचे, और लिपियों के नाम प्रायः लिपि के नीचे मिलेंगे। अन्यत्र भी जहाँ कोई विशेष शब्द अकारादि क्रम से अपने स्थान पर दिखाई दे, वहाँ उसे उसके सामान्य शब्द के अन्तर्गत खोजना चाहिए जैसे स्पर्श व्यंजन, व्यंजन के नीचे, लोक-भाषा, भाषा के नीचे।

विलेम ग्रैफ़ की पुस्तक में पारिभाषिक शब्दों की सूची और उनकी व्याख्या ब्योरे से दी गई है। विशेष ज्ञान के लिए पाठक उसको देखें।

अ

अकर्मक क्रिया Intransitive Verb
अक्खरिका
अक्षर syllable
-निर्माण formation of s.
-लोप haplology
-विन्यास spelling
पंचमा- nasal
समाना- similar s.
अखंडरूप ध्वनिग्राम suprasegmental phoneme
अग्रागम prothesis
अडागम augment a-
अनियंत्रित भेद free variation
अनुकरण imitation
-त्मक शब्द imitative cry
अनुनासिक nasal
-ता
-त्व, nasalisation
अनुप्रदान secondary articulation
अनुबन्ध
अनुरणन echoe
-त्मक शब्द onomatopoetic cry
अनुरूप similar
-ता similarity
अनुवृत्ति
अनुस्वार
अनेकरूपता variety, diversity
अन्तःस्थ sonant, semi-vowel
अपभ्रंश (अवहट्ठ)
उपनागर
नागर
ब्राचड
शौरसेन
अपवाद exception
अपश्रुति ablant
अभिव्यक्ति expression
अभ्यास reduplication

-विभिन्नता phonetic diversity or difference
-विज्ञान phonetics
प्रयोगात्मक ध्व० वि० experimental phonetics
-सामंजस्य phonetic harmony
-साम्य phonetic similarity
ध्वन्यात्मक शब्द phonetic word
समान-ध्व० श० homophone

न

नपुंसकलिंग common gender
नली pipe, tube
श्वास- trachea
नाम noun
नालिका pipe
-मुख mouth of p.
श्वास- wind-pipe
भोजन- food-pipe
निपात
निरुक्त
निरुक्ति
निरुत्ति (पा०) dialect
निषेध negation
-त्मक, negative
-त्मकता negativeness
नैपाली (भाषा)

प

पंजाबी (भाषा)
पद word
-क्रम word-order
-रचना word-formation
-रचना-विज्ञान morphology
-विकास evolution of word
-विज्ञान science of morphology
आत्मने-
परस्मै-
पदार्थ word-meaning
परसर्ग postposition
परस्पर-विनिमय metathesis
परिभाषा technical definition
परिस्थिति जन्य उपरूप conditioned variants, allophone
पारिभाषिक शब्द technical term
परिवर्तन change
-शील changing
पहाड़ी (बोलियाँ)
पाठ
क्रम-, घन-, जटा-, पद-, संहिता-
पालि
पितृप्रधान संगठन patriarchal system
पुरुष person
अन्य (प्रथम) third
उत्तम first
मध्यम second
पुल्लिंग masculine gender
पैशाची
पैशाचिका
केकय-, चूलिका-, पांचाल-, शोरसेन-
प्रकरण context
प्रकृति (आधार) base
प्रतिपद crude form
प्रतिमा image
ध्वनि- sound image
विचार- thought-image
वाक्य- sentence-image
प्रतिरूपता का समनुहार pattern congruence
प्रतीक symbol
प्रत्यय suffix, termination
पर- termination
पूर्व-suffix
मध्य-विन्यस्त- infix
प्रत्याहार
प्रयत्न eort
-लाघव economy of effort
प्रयोग use
कर्तरि active use
कर्मणि passive use

त्रि- trial n.
बहु- plural n.
समूह-वाचक- collective n.
वन्नो (भाषा)
वर्गीकरण classification
आकृतिमूलक morphological c.
इतिहासिक historical (geneological) c.
वर्ण letter
वर्णन description
-त्मक क्रिया-विशेषण descriptive adverb
वर्त्सभाग alveolar region
वर्नर-नियम Verner's law
व श्रुति w glide
वाक्य sentence
-विज्ञान syntax
व्यापारात्मक वा० verbal sentence-
संज्ञा वा० substantives s.
वाक्यार्थ meaning of s.
वाग्यंत्र speech organ
वाङ्मय literature (general)
वाचिक vocal
वाच्य voice
कर्तृ- active v.
कर्म- passive v.
भाव- impersonal v.
वाणी speech
वाद theory
विकास evolution
-वाद theory of evo.
विकृत बोली slang
विचार thought
-तरंग wave of th.
-धारा current of th.
विनिमय exchange of th.
विज्ञान science
विधेय predicate
विनिमय exchange

परस्पर- metathesis
विचार- e. of thought
विन्यास sequence
विभाषा sub-language
भिन्नता diversity, variety
बोली- dialectal d.
भाषा- Linguistic d.
भूगोलिक- geographical d.
शारीरिक physical d.
वियोगात्मक भाषाएं analytic
विरोध contrast languages
विवर opening, cavity
नासिका nasal c.
विवृति jancture
मुख- buccal (mouth) c.
विशेषण adjective
विशेषाधायक गुण attributes
विश्लेषण analysis
विषमीकरण dissimilation
विस्मयादिबोधक शब्द interjection
विभक्ति case
(प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, सम्बोधन),
अविकारी, विकारी direct, oblique
विभक्त्यर्थक प्रत्यय case-termination
वीराः Wiros
वृत्ति mood
वृद्धि (सन्धि)
व्यक्तीकरण expression, specification
व्यष्टिरूप allomorph
व्यंजन consonant
अनुनासिक nasal
अलिजिह्वीय uvular
अल्पप्राण unaspirated
उत्क्षिप्त (उत्क्षेपात्मक) flapped
उपालिजिह्वीय pharyngal
ऊष्म sibilant

ओष्ठ्य labial
कंठ्य velar, guttural
क्लिक click
तनु tenue
तालव्य palatal
दन्त्य dental
अग्र- pre-dental
पश्च- post dental
मध्य- centro-dental
दन्तोष्ठ्य labio-dental
दीर्घ long
पार्श्विक lateral
मध्य media
महाप्राण aspirated
मूर्धन्य cerebral
लोडित rolled
संयुक्त conjunct
सघोष voiced
अपूर्ण- partially v.
पूर्ण- fully v.
संघर्षी fricative
स्पर्श stop, mute
स्पर्शसंघर्षी affricate
स्फोटात्मक plosive
अन्तः implosive
वहिः- explosive
स्वरयन्त्रस्थानीय glottal
ह्रस्व short
व्याकरण grammar
-कार ian
-पंडित, नवयुवक neo-, jung grammarians
-त्मक grammatical
लिंग g. gender
धारा g. category
तुलनात्मक व्या०- comparative g.
ऐतिहासिक ,, historical g.
व्युत्पत्ति etymology
-विज्ञान scienc of e.

श

शतृ, शानच् present participle
शब्द word
-कोष vocabulary
-चित्र word-picture
-शक्ति power of word (अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्य)
-समूह stock of words
अर्थवान meaningful w., full w.
अर्थहीन meaningless, empty w.
तत्सम
तद्भव
देशी
ध्वन्यात्मक phonetic word
शब्दार्थ भेदकारी विरोध distinetive contrast
व्याकरणात्मक grammatical word
पूर्ण full w.
रिक्त empty w.
शरीरविज्ञान physiology
शकारी (प्राकृत)
शावरी (प्राकृत)
शिक्षा phonetics (Ancient Indian)
शुद्ध स्वर Monophthong
शौरसेनी, जैन
श्रुति Veda
श्रुति glide
य y g.
व w. g.
श्लिष्ट synthetic (inflexional)
अश्लिष्ट, प्रश्लिष्ट
श्लेष synthesis, first stage of inflexion
श्वास wind, breath
-नालिका w. pipe
-नली trachea
संधि morphophonemies

स

संस्कृत (वैदिक, उदीच्य, प्राच्य, मध्यदेशीय)
संहिता
संकेत symbol
-स्वरूप symbolic
-चित्र picture-symbol
भावात्मक- ideographic symbol
संघटना structure
संघटनात्मक भाषा विज्ञान Strcucture Liqusts
संघर्षित्व friction
संज्ञा technical term
संज्ञा noun
अविकारी, विकारी direct, oblique
जीवित, मृत living, dead
उच्चजातीय high-caste
नीचजातीय casteless
विवेकी, अविवेकी rational, irrational
व्यक्तिवाचक, जातिवाचक, भाववाचक proper n; concrete n; abstract n.
संज्ञात्मक वाक्य noun-sentence
सतम भाषाएं Satam languages
सत्ता position
गौण secondary
मुख्य primary
सत्यनियम static laws of nature
समभिहार (पौनःपुन्य, भृशार्थ) intensity
समाजशास्त्र sociology
समास compound (अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व, बहुव्रीहि)
समीकरण assimilation
पुरोगामी progressive a.
पश्चगामी regressive a.
सम्प्रदाय tradition
सम्प्रसारण (संधि)
सम्बन्ध relation
-त व morpheme
समवाय- necessary connection
सम्बन्धित्ववाद theory of relativity
सर्वजनभाषा universal language
सर्वनाम pronoun
वाच्य समावेशक inclusive p.
व्यतिरिक्त exclusive p.
सादृश्य analogy
अस्थान- false a.
सामंजस्य harmony
ध्वनि- sound-harmony
स्वर vowel-harmony
साम्य similarity, affinity
अक्षरनिर्माण s. in syllable-formation
ध्वनि- s. in sounds
व्याकरणात्मक- s. in grammar
शब्द- s. of words
शब्दावली- s. of vocabulary
सिंहली (भाषा)
सिन्धी (भाषा)
सुप् case-terminations
सुबन्त declensional form
सुमेरी (भाषा)
सुर pitch (accent)
उच्च high p.
नीच low p.
सम level p.
सूक्ष्मलेखन narrow transcription
स्त्रीप्रत्यय feminine afixes
स्त्रीलिंग f. gender
स्थान position
स्थान-विपर्यय epenthesis
स्थिति state
स्पर्श contact
-संघर्षी affricate
-संघर्षित्व affrication

स्फोट plosion
-कत्व plosiveness
स्लावी भाषा
स्वच्छन्द परिवर्तन free variation
स्वर vowel
-अनुरूपता vowel-affinity
-क्रम ablaut
-व्यत्यय different position of v.
-सामंजस्य vowel-harmony
-साम्य vowel-similarity
-यन्त्र, -यन्त्रपिटक Glottis, larynx
-समुदाय vowel-group
अग्र- front v.
गुरु- heavy v.
पश्च- back v.
मध्य- central v.
मूल- cardinal, simple
मिश्र- dipthong
अवनायक- falling d.
उन्नायक- rising d.
लघु (हल्का)- light v.
संयुक्त conjunct vowels
एकमात्रिक short v.
द्विमात्रिक long v.
त्रिमात्रिक longer v.
विवृत open v.
अर्धविवृत half-open v.
अर्धसंवृत half-close v.
संवृत close v.
सानुनासिक nasalised v.
उदासीन neutral v., schwa
स्वर accent (pitch)
उदात्त high (pitch accent)
अनुदात्त lowpitch (accent)
स्वरित level pitch (accent)
स्वरतन्त्री glottal cord, vocal cord
स्वरत्व sonority
स्वरभक्ति anaptyxis (vocalic)
व्यंजनभक्ति anaptyxis (consonantal)
स्वराघात stress accent

ह

हबूड़ी (जिप्सी)
हाइपर-बोरी (भाषा)
हिट्टाइट
-कप्पडोसी
हिन्दको
हिन्दी
हिन्दुस्तानी
भाषापरिवार
आर्य (इंडो-केल्टिक, इंडो-जर्मनिक, इंडो-यूरोपियन, जैफ़ाइट, सांस्कृतिक)
उराल-अल्ताई
तुंगूज़ी; तुर्की (तुर्क-तातारी) तुर्की, किरगिज, नोगाइर,
याकूत; फ़ीनी-उग्री—फ़ीनी (सुओमी) मगयार (हंगेरी)
मंगोली, समोयेदी
काकेशी
उत्तरी, दक्खिनी (अवर, चेचेन, जार्जी)
चीनी
अनामी, तिब्बती-ब्रह्मी (तिब्बती-ब्रह्म लद्दाखी), थाई
(आहोम, खाम्ती, शान),
स्वयं चीनी (मन्दारी, कंटूनी)
बांटू
कांगो, काफ़िर, ज़ुलू,
सेसुतो. स्वहीली
बुशमैन
सामी-हामी
(क) सामी (अक्कदी, अरबी, अरमी गीज़, फ़ीनोशी, यहूदी-इब्रानी, सीरी, हब्शी)
(ख) हामी (काप्टी, कुशी–खमीर, गल्ल, नामा; लीबी—बर्बर, मिस्री, सोमाली)
सुडान

(ईव, कनूरी, हाउसा, नूबी, प्यूल,
मोम, वाइ, वोलोफ़, सेनेगल)
होटेंटाट
द्राविड़ी
कन्नड़, कुरुख, कूई (कन्धी), कोटा
कोडगु, कोलामी, गोंडी, टोड़ा, तामिल
तुळ, तेलगु, ब्राहुई, मलयालम, माल्टो
मलाया-पॉलीनेशियाई (आस्ट्रोनेशियाई)
(क) आस्ट्रेलियाई (टस्मेनिया)
(ख) पापुआई (मफ़ोर)
(ग) पॉलिनेशियाई (माओरी, टोंगी,
समोअई, हवाई)
(घ) मलयाई (कवि, क्रोमो, न्गोको)
जावी, टगल, दयक, फ़ारमोसी, मल-
गसी (होवा), सुन्दियन
(ङ) मलेनेशियाई (फ़ीजी)
मुंडा
खेरवारी (मुंडारी, संथाली), कना-
वरी, कूर्क, बुरुशस्की, सवर, हो
मोनख्मेर–खासी, नागा
आर्य भाषा-समूह
इटाली
उम्ब्री, ओस्की, टिन
इटाली
पुर्तगाली
प्रोवेंशल
फ़्रेंच
रुमानी
सेफ़ार्डी
स्पेनी
केल्टी
आइरी (गैली)
ग्रीक
ऐटिक, कोइनी, डोरिक,
थ्रशी, फ़्रिजी, मैसेडोनी
जर्मनी (ट्यूटानी)
आइसलैंडी
इंगलिश (अंगरेजी)
पिडगिन, वावू

गाथी
डच
डेनी
जर्मन
हाई, लोउ, ङ्-यूटस् स्प्राखेन
नार्वेजी
नार्स
फ़्रीजी
स्कैंडीनेवी
स्वीडी
दर्दी
दर्दी विशिष्ट, कश्मीरी,
काफ़िरी, खोवारी,
चित्राली,
शीना
बाल्टो-स्लावी
(क) बाल्टी
प्रशियाई,
लिथुएनी, लेटी
(ख) स्लावी
चेक, पोली, बल्गेरी,
रुथेनी (लघु रूसी),
श्वेतरूसी, महारूसी
(रूसी), सर्वोक्रोटी
हिन्द-ईरानी
(क) ईरानी—ज़ेन्द,
परशी, पहलवी,
पाज़न्द, पार्सी
हुज्वारेश
(१ख) भारतीय
(वै) प्राचीन युग
(दिक-छन्दस्)
लौकिक (भाषा)
संस्कृत (उदीच्य आदि)
(२) मध्ययुग
पालि
अशोकी प्राकृत
प्राकृतें
अवन्ती, पैशाची,

अर्ध-मागधी,
मागधी
महाराष्ट्री
शौरसेनी
अपभ्रंश
(३) वर्तमान युग
असामी, उड़िया,
गुजराती, पंजाबी,
पहाड़ी, बंगाली,
बिहारी, भीली
मराठी, राजस्थानी,
लहँदी, सिंहली,
सिन्धी, हबूड़ी, हिन्दी
लिपि (लिबि) script alphabet
अरबी
अरमी (अरमइक)
आर्मीनी
उड़िया
उर्दू
एत्रुस्की
ओघं
कन्नड़ी
कलिंग
कश्मीरी
कुटिल
कूफ़ी
खरोष्ठी (खरोट्टी)
गुजराती
गुप्त
गुरुमुखी
ग्रन्थ
ग्रीक
ग्लैगोलिथी
चित्रलिपि
टाकरी
तामिल
तुळ
तेलगू
कन्नड़ी
देवनागरी
-नंदिनागरी, नागरी
दोसापुरिया
नस्खी
नैपाली
बंगला
ब्राह्मी (बंभी)
उत्तरी, दक्खिनी,
पश्चिमी, मध्यप्रदेशी
मलयालम
महाजनी
मिनोआ
मैथिली
यवनानी (जवणालिया)
राजस्थानी
रूनी
रोमन
इंडोरोमन
लैटिन
वट्टेछुतु
शारदा
सिरिली
हेब्रू

अनुक्रमणिका

नाम

ग्रन्थ, पत्रिकाएँ तथा लेख

भाषाएँ

अशुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
४	२८	वाद	वाद
८७	—	('प्रथम खंड' का आरंभ यहाँ से न मानकर पहला अध्याय से समझिए)	पृष्ठ १,
२१३	११	तीन	तीस
२४२	२१	किया गया था। स्थानों-नामों के	किया गया था। लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉ० नंदलाल चटर्जी ने स्थान-नामों के
२४४	२०	लिंग्विस्टिक सोसाइटी अरव् इंडिया	लिंग्विस्टिक सोसाइटी ऑव इंडिया
२७२	१	व्योरेवार	व्योरेवार
२७२	६-७	घोलमेल	घालमेल
२७२	२२	गनती	गिनती
२८०	१०	लपि	लिपि
२८२	४-५	रोर्–जंगल औह रार्	रोर्–जंगल और् रोर्
२८२	१०	जो	ज़ो
२८२	१८	वोलोफ्र	वोलोफ़
२८२	२७	फ़ोनीशियम	फ़ोनीशियन
२८४	२२	जैसे लिस (आँसू व०व०), लिस् (एक आँसू), विल् (पतिंगे), विल (एक पतंगा)।	जैसे लिस् (आँसू ब०व०), लिस (एक आँसू), विल् (पतिंगे), विल (एक पतिंगा।
२८४	२६-२७	लिविहिह्व (शेर) (पुं०) लिवि सह्योदि (बहुत से शेर)	लिबिहिह (शेर) (पुं०) लिबिहह्यो-दि (बहुत से शेर)
२८५	४	सोन् (भाई), सोन	सोन् (भाई'), सोनु
२८५	५	(तू० पुँ० है)	(तू पुं० है)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
२८६	१०	क़त्ल्	क़्त्ल
२८७	४	ह	ह्
२९०	१४	तुगूज़ी	तुंगूज़ी
२९५	१८	(पृ० ७९ पर)	(पृ० ७९-८० पर)
२९८	२	तिब्बती-ब्रह्मा	तिब्बती-ब्रह्मी
३०६	११	ड	ड़
३१४	१९	ऍन	ऍन्
३२२	१	इ	ई
३२३	५	(अ, ए ओं,	(अ ऍं ओ)
३३१	८	(पृ० ३२० पर)	(पृ० ३१९-२० पर)
३३१	२२	कुन्टुम्	केन्टुम्
३३२	१६	केल्टुम्	केन्टुम्
३३५	२७	इटली	इटाली
३३७	३	पूर्वकारिक	पूर्वकालिक
३३९	२५	प्, पट्, क्	प्, ट्, क्
३४३	७	थ़्, फ़्, घ्>ध्	थ़्, फ़्>घ्, ध्
३५१	२०	पामीरी की तराई में	पामीर की तराई में
३५२	९	पैशाची प्रकृति	पैशाची प्राकृत
३५३	१०	कोने	होने
३५३	१४	श्, प्, ह्	श्, ष्, ह्
३६६	१९	स्पर्श वर्ण वर्गों के तीसरे, चौथे (अघोष) (पहले, दूसरे)	स्पर्श वर्ण (वर्गों के तीसरे, चौथे) अघोष (पहले, दूसरे)